मोहन राकेश रचनावली

संपादक जयदेव तनेजा

लेखन मोहन राकेश की पहली प्राथमिकता थी। उनके लिए जीना भी रचना का ही पर्याय था। इसलिए वे सायास जीवन भर बेचैन, बेसब्र, अस्थिर, अशान्त और असन्तुष्ट बने रहे। जीवन के किसी एक वर्ष, एक माह, सप्ताह या दिन तो क्या, एक साँस को भी बिना किसी नए स्पन्दन, संवेदना या अनुभव के यूँ ही गुज़ारना, दोहराना या गँवा देना उन्हें मंजूर नहीं था। उन्होंने रोम-रोम से अपने जीवन, समाज, जगत, समय और परिवेश की विडम्बना और नाटकीयता को अपनी चेतना में जज़्ब कर उस भोगे हुए यथार्थ तथा कई रंग-रूपों में अनुभूत सत्य का पूरा सत निचोड़कर अपनी रचनाओं में उड़ेल दिया।

रचनावली का यह तीसरा खंड 'नाटक' पर केन्द्रित है। 'आषाढ़ का एक दिन' के 'पहले-पहल' नामक दूसरे खंड में चले जाने के बाद मोहन राकेश के शेष नाटकों को यहाँ कालक्रम से रखा गया है। 'लहरों के राजहंस' के पहले और नए, दोनों संस्करणों को यहाँ इस प्रयोजन से एक साथ प्रस्तुत किया गया है ताकि कालान्तर में यह सनद रहे कि इस नाटक का 1963 में प्रकाशित एक पहला प्रारूप भी था, जिसका वर्तमान नया रूप 1968 में छपा। इनके बाद क्रमशः 1969 और 1975 में छपे 'आधे अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' को स्थान दिया गया है।

परिशिष्ट में दी गईं इन नाटकों की महत्त्वपूर्ण बहुभाषी प्रस्तुतियों की सूचनात्मक प्रदर्शन-सूचियाँ इस खंड का अतिरिक्त आकर्षण हैं।
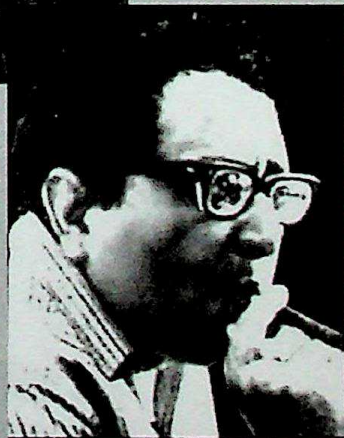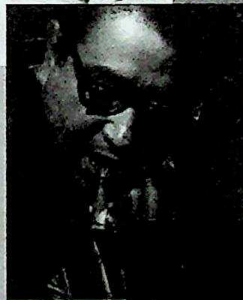
मोहन राकेश रचनावली-3
[नाटक]

मोहन राकेश रचनावली

खंड : तीन

सम्पादक
जयदेव तनेजा

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

ISBN : 978-81-8361-427-6

मोहन राकेश रचनावली-3

पहला संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 10400
(तेरह खंड)

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001

वेबसाइट : www.radhakrishnaprakashan.com
ई-मेल : info@radhakrishnaprakashan.com

आवरण : राधाकृष्ण स्टूडियो

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOHAN RAKESH RACHANAWALI-3
Edited by Jaidev Taneja

अपनी प्रसिद्ध मुद्रा में, पूना फिल्म इंस्टीट्यूट, बम्बई
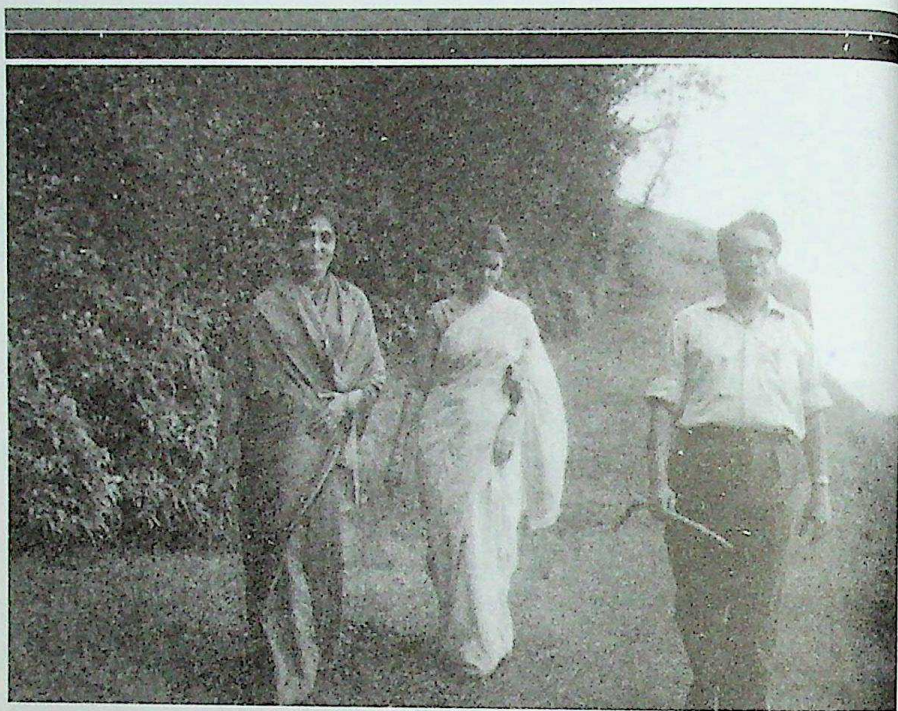
'पहाड़ी रास्तों पर'
उज्ज्वला भाभी व अनीता जी के साथ, माथेरान (बम्बई)

लक्ष्मी नारायण लाल, नेमिचन्द्र जैन, हबीब तनवीर, सुरेश अवस्थी व अन्य साथियों के साथ

मोहन राकेश

शीर्षक की दुविधा

अनुक्रम

भूमिका

मोहन राकेश रचनावली का खंड तीन उनके नाटकों पर केन्द्रित है। खंड-दो में राकेश की उन रचनाओं को लिया गया है जो किसी भी विधा में उनकी सर्वप्रथम कृति थी। यही कारण है कि 1958 में प्रकाशित 'आषाढ़ का एक दिन' को उनका सर्वप्रथम पूर्णकालिक नाटक होने के कारण खंड-दो (पहले पहल) की अन्तिम रचना के रूप में छापा गया है। उनके शेष नाटकों यानी 1963 में प्रकाशित 'लहरों के राजहंस', 1969 में छपे 'आधे अधूरे' तथा राकेश के अधूरे रह गए और बाद में उनके अभिन्न मित्र कमलेश्वर द्वारा पूरा किए जाने पर 1975 में प्रकाशित हुए अन्तिम नाटक 'पैर तले की जमीन' को क्रमशः इस खंड में प्रस्तुत किया गया है।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द से प्रेरित होकर राकेश द्वारा लाहौर में 1946-47 में लिखी गई एक ऐतिहासिक कहानी किस प्रकार बम्बई में 1948-49 में रेडियो एकांकी 'सुन्दरी', जालंधर में 1957 में ध्वनि-नाटक 'रात बीतने तक' तथा कुफ़्री में 1963 में रंग-नाटक 'लहरों के राजहंस' के रूप में ढली—इसकी रचनात्मक रंग-यात्रा तो दिलचस्प और नाटकीय है ही। परन्तु 'लहरों के राजहंस' के कलकत्ता में 'अनामिका' के पूर्वाभ्यासों के दौरान 1966 में नया रूप धारण करने की प्रक्रिया और भी अनूठी तथा रोचक है। दिल्ली में नाटक के तीनों अंकों के पुनर्लेखन के बाद 1968 में 'लहरों के राजहंस' के नए रूप का प्रकाशन हुआ।

इस नाटक के बनने की लगभग बीस-इक्कीस वर्ष लम्बी और कठिन सृजन-यात्रा का उल्लेख स्वयं राकेश ने 'नाटक का यह परिवर्तित रूप' (भूमिका) में विस्तार से किया है। यद्यपि नाटककार पूर्णतः सन्तुष्ट तो इस नए रूप से भी नहीं था। परन्तु भावी परिवर्तनों-संशोधनों की सम्भावनाओं को नकार कर उसने 'स्वयं इससे मुक्त होने के इरादे से' यह इच्छा व्यक्त की कि अब नाटक के इस नए रूप को ही अन्तिम

मानते हुए प्रथम संस्करण का प्रकाशन बन्द कर दिया जाए और भविष्य में इस नाटक का केवल नया संस्करण ही प्रकाशित किया जाए। परन्तु विडम्बना यह हुई कि अज्ञात कारणों से इस ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया और लगभग चार दशकों तक 'लहरों के राजहंस' का 1963 वाला प्रथम संस्करण ही छपता-बिकता रहा और नया संस्करण ग़ायब हो गया। सन् 2004 के बाद से अब नया संस्करण पुनः छापा जा रहा है और भविष्य में केवल वही उपलब्ध होगा। गुणवत्ता के संदर्भ में आज भी दोनों रूपों को लेकर विवाद बना हुआ है। रचनावली के बहुआयामी दस्तावेज़ी महत्त्व को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि भावी शोधार्थियों, आलोचकों और इतिहासकारों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए 'लहरों के राजहंस' के दोनों रूपों को प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इसलिए यहाँ इन्हें ऐतिहासिक महत्त्व के मूल सन्दर्भ-स्रोत के रूप में एक-साथ दिया गया है।

यह एक विडम्बना ही है कि राकेश 'लहरों के राजहंस' को पहले से लिख रहे थे, परन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' अचानक बीच में आ गया और उससे पहले पूर्ण होकर राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत, प्रशंसित और प्रतिष्ठित भी हो गया। ठीक इसी प्रकार तैयारी 'पैर तले की ज़मीन' की चल रही थी, लेकिन 'आधे अधूरे' उससे पहले आकर समकालीन हिन्दी रंगकर्म की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बन गया।

राकेश हिन्दी नाटक को इतिहास और पुराण से मुक्त करके उसे अपने आज और समाज का प्रतिरूप बनाने के लिए भरसक कोशिश कर रहे थे। समकालीन मध्यवर्ग के अनाटकीय जीवन की नाटकीयता को अपने समय के मुहावरे एवं जीने की भाषा में अभिव्यक्त करने के प्रयास में ही उन्होंने 'शायद...' और 'हंः!' जैसे बीज नाटक लिखे। सम्भवतः उसी प्रयास की परिणति पूर्णकालिक नाटक 'आधे अधूरे' के रूप में हुई। पति-पत्नी/पुरुष-स्त्री के रिश्तों के माध्यम से यह नाटक हमारे समाज, परिवार, व्यक्ति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में आए और लगातार आ रहे परिवर्तनों का गम्भीर समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। ये परिवार और विवाह जैसी समय-सिद्ध संस्थाओं के विघटन, मानव मूल्यों के पतन तथा अन्धी महत्त्वाकांक्षा से उपजी अर्थज एवं कामज विकृतियों के भयावह परिणामों का रेखांकन भी करता है। कथ्य, शिल्प और दिलचस्प रंग-युक्तियों की मौलिक अन्विति ने इसे रंगकर्मियों के लिए एक आकर्षक चुनौती बना दिया।

अपने इस नए नाटक की रूपरेखा राकेश के मन में 1966 के पूर्वार्द्ध में ही बनने लगी थी। 1968 की एक डायरी के 116 पृष्ठों पर राकेश के अंग्रेज़ी हस्तलेख में 'आधे अधूरे' के विस्तृत नोट्स, चरित्रों के नाम, रूपरेखा, कथाक्रम, संवाद, फ़ेड-आउट और फ़ेड-इन के साथ पात्रों के सुचिन्तित प्रवेश-प्रस्थान भी दर्ज किए गए हैं। इसमें इस नाटक के आधे-अधूरे छह प्रारूप लिखे गए हैं। 'प्रस्तावना' के लिए भारतीय नाटकों के परम्परागत पात्र सूत्रधार के लिए नाटककार ने पहले 'वह कोई एक' नामक चरित्र की कल्पना की थी और नाटक का नाम 'आधे और अधूरे' तय किया था। परन्तु जल्दी ही उस सोच को खारिज करके दूसरे प्रारूप में ही इस पात्र का नाम 'काले सूटवाला आदमी' तथा नाटक का नाम 'आधे अधूरे' के रूप में निश्चित कर लिया था। आरम्भिक प्रारूप में सब पात्रों के नाम रंजना सचदेव, बालकृष्ण सचदेव, अशोक सचदेव, बीना सचदेव और कल्पना सचदेव दिए गए हैं। फिर बीना और कल्पना के साथ लगे 'सचदेव' को काट दिया गया है। एक पात्र मनमोहन गुलाटी को काटकर मनोज गुलाटी किया गया है। शेष पात्रों में चन्द्रकान्त जुनेजा, जगमोहन कपूर तथा हरीश महेन्द्र के नाम लिखे गए हैं। आगे चलकर इन्हें 'काले सूटवाला', उसकी पत्नी, उसका लड़का, उसकी बड़ी लड़की और उसकी छोटी लड़की—नामक केवल पाँच पात्रों को ही रखा गया है। लेकिन पाँचवें प्रारूप में मंच-सज्जा के दो रेखाचित्रों के साथ पात्र-परिचय में काले सूटवाला, पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार, स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की और लड़के का उनकी उम्र और वेशभूषा के साथ उल्लेख किया गया है। अंग्रेज़ी में लिखे (शायद) इस अन्तिम प्रारूप में नाटक को कुल बीस सीक्वेंसों या दृश्यों में बाँटा गया है। प्रस्तावना और काले सूटवाले आदमी को लेकर भी कुछ अलग प्रयोग किए गए हैं। इस पृष्ठभूमि के आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि इस नाटक को अपने मौजूदा हिन्दी के अन्तिम रूप तक लाने में नाटककार को कितने रचनात्मक प्रयास और करने पड़े होंगे! इस नाटक की व्यापक ग्रहणशीलता, स्वीकृति एवं सफलता का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि रंगमंच टी.वी., रेडियो, फ़िल्म (?) जैसे प्रदर्शनकारी माध्यमों के अलावा अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में भी इसने अपनी महत्ता एवं प्रामाणिकता सिद्ध की।

क्या अस्तित्व के सबसे संकटपूर्ण क्षण में ही अस्ति का सच्चा बोध मिलता है? क्या ऐसी संकटापन्न स्थिति में व्यक्ति के सभी खोल और

मुखौटे अपने आप उतर जाते हैं? क्या आसन्न मृत्यु के क्षण में भी सेक्स सम्भव है और आनन्द का अनुभव किया जा सकता है? अपने अगले नाटक 'पैर तले की ज़मीन' में राकेश मानव जीवन के ऐसे ही मूलभूत, व्यापक और गम्भीर प्रश्नों से जूझ रहे थे। छठे दशक के बीच कश्मीर गए मोहन राकेश और कमलेश्वर ने बाढ़ में डूबते पहलगाँव के एक क्लब में संकट की ऐसी ही एक स्थिति का स्वयं साक्षात्कार किया था। इस पर कुछ लिखने का संकल्प शायद उन्होंने तभी कर लिया था।

इस नाटक के कथा-बीज का पहला संकेत हमें उपेन्द्रनाथ अश्क को लिखे गए राकेश के 11.7.1959 के एक पत्र में मिलता है। इसके नोट्स, प्रमुख चरित्रों के नाम, दृश्यों के विभाजन तथा कुछेक प्रसंगों की रूपरेखाओं के आधे-अधूरे उल्लेख राकेश की तीन डायरियों में उपलब्ध हैं। उनकी एक डायरी में 26 जुलाई, 1964 की तारीख़ में दर्ज इस नाटक के शीर्षक को लेकर सम्भावित नामों की दुविधा देखने लायक है—क्लब की कहानी, फिर आने पर, रेत पर उतरती रात, रात उतर आने पर, सरकती ज़मीन पर, सरकती ज़मीन, गीली ज़मीन, नंगी ज़मीन, नंगी ज़मीन पर, पानी की ज़मीन, फिसलती ज़मीन, दशहत, टापू, सेतुहीन, रात के चेहरे, पैर तले, पैर तले से... और पैर तले की ज़मीन। एक अन्य डायरी की अपेक्षाकृत विस्तृत सामग्री "एक नाटक का जन्म" शीर्षक से राकेश के मरणोपरान्त 'नटरंग' के मोहन राकेश विशेषांक में छापी गई थी। उसे 'नटरंग' से साभार रचनावली के इस खंड के परिशिष्ट में दिया गया है। अपने नाटकों के रंगमंचीय पहलुओं एवं सूक्ष्म ब्योरों के प्रति राकेश कितने जागरूक, सचेत और गम्भीर थे—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इसके रेखांकनों, नोट्स और टिप्पणियों में देखा जा सकता है।

इस सन्दर्भ में एक दिलचस्प तथ्य यह भी है कि कश्मीर के इस क्लब की पृष्ठभूमि, परिवेश और लगभग इन्हीं नामों वाले पात्रों को लेकर राकेश ने 1964-65 में एक उपन्यास लिखने की कोशिश भी की थी। परन्तु 'सारिका' में 'कई एक अकेले' नामक उस धारावाहिक उपन्यास से सम्भवतः असन्तुष्ट होकर उन्होंने उसे जल्दी ही अधूरा छोड़ कर इस कथ्य को नाटक के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास शुरू कर दिया। कहा तो यह भी जाता है कि नाटक 'पैर तले की ज़मीन' का आलेख पूरा करके उन्होंने तत्काल उसे 'नटरंग' में प्रकाशनार्थ भी दे दिया था। परन्तु अपने आप से आसानी से सन्तुष्ट न होने वाले

सम्पूर्णतावादी राकेश ने अन्तिम समय पर नाट्यालेख वापस लेकर उसके पुनर्लेखन की लम्बी रचनात्मक प्रक्रिया पुनः शुरू कर दी। अन्तिम समय तक मोहन राकेश इसी नाटक पर काम कर रहे थे। मृत्यु के बाद रद्दी की टोकरी में इसी के कुछ रद्द किए काग़ज़ों के अलावा उनके टाइपराइटर पर इसी नाटक का आधा टाइप किया पृष्ठ लगा मिला था।

कालान्तर में राकेश के अभिन्न मित्र और इस नाटक के मूल-अनुभव के सहभोक्ता रहे कमलेश्वर ने इसे पूरा किया।

मूल पाठ के अतिरिक्त इन तीनों नाटकों के प्रमुख बहुभाषी रंग-प्रस्तुतीकरणों की सूचियाँ भी इस खंड के परिशिष्ट में दी गई हैं।

—जयदेव तनेजा

लहरों के राजहंस (1963)
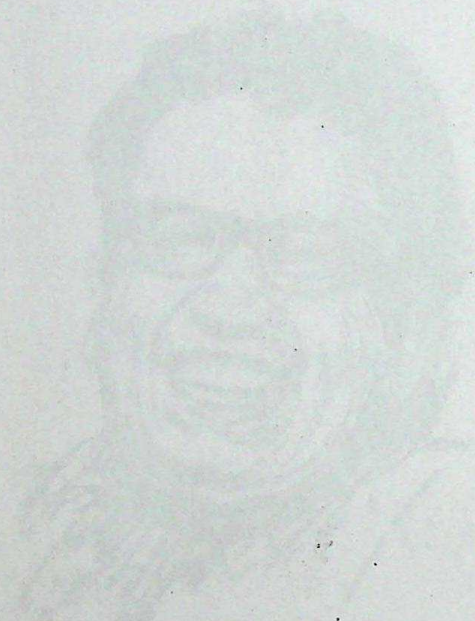
सोऽनिश्चयान्नापि ययो न तस्थौ सतंस्तरंगेष्विव राजहंसः।

—अश्वघोष

पहली भूमिका

'आषाढ़ का एक दिन' के बाद यह मेरा दूसरा नाटक है।

पहले नाटक के विषय में कई तरह के विवाद उठे; उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता को लेकर, रंगमंचीय सम्भावनाओं को लेकर और सबसे अधिक कालिदास के चरित्र को लेकर। रंगमंचीय सम्भावनाओं को लेकर जो आशंकाएँ थीं, उनका उत्तर काफ़ी हद तक अब तक दिया जा चुका है। दिल्ली, कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, नागपुर, कानपुर, ग्वालियर तथा कई अन्य स्थानों पर उसे सफलतापूर्वक खेला गया है। अलकाज़ी-जैसे निर्देशक तथा अनामिका-जैसी संस्था ने उसे लेकर सर्वथा अलग-अलग दृष्टियों से प्रयोग किए हैं। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से सभी भारतीय भाषाओं में उसे प्रसारित किया गया है।

कालिदास के चरित्र को लेकर जो आपत्तियाँ उठाई गईं, वे कुछ लोगों के पूर्वाग्रह को ही व्यक्त करती हैं। शोधकों का एक वर्ग है जिसने कालिदास और मातृगुप्त को एक ही व्यक्ति माना है। इसी आधार पर प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में कालिदास के चरित्र की कल्पना की है। एक ऐसा भी वर्ग है जो इसकी प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करता, परन्तु कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में कितने प्रामाणिक तथ्य आज तक हमें उपलब्ध हैं? जितनी सामग्री है, वह एक न एक अनुमान पर ही आधारित है। कुछ लोगों को अपने अनुमान अधिक प्रामाणिक लगें, यह बात दूसरी है।

एक आलोचक ने लिखा था कि 'कालिदास-जैसे व्रती तपस्वी महात्मा' को नाटक में एक दुर्बल व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। मुझे आश्चर्य इसलिए हुआ कि वे आलोचक संस्कृत के अच्छे पंडित हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'कुमारसम्भव' तथा 'मेघदूत' पढ़कर यदि कालिदास का ऐसा ही चरित्र उनके मन में बनता है, तो क्या कहा जा सकता है? रूढ़िगत संस्कार ही जहाँ व्यक्ति का विवेक बन जाए, वहाँ और आशा करना व्यर्थ है। हमारे यहाँ परम्परा ही कुछ ऐसी है कि हम अपने जातीय प्रतीकों को सदा अतिमानवीय धरातल पर रखकर देखना चाहते हैं। उनमें मानवीयता का निदर्शन हमें चोट पहुँचाता है। इसका मुख्य कारण शायद यही है कि हमें स्वयं अपनी मानवीयता में विश्वास नहीं है, अपने यथार्थ में आस्था नहीं है। क्योंकि अपने से कुछ आशा नहीं होती, इसलिए यह बात असम्भव प्रतीत होती है कि मानवीय धरातल पर रहकर भी

जीवन में कुछ महान् किया जा सकता है। केवल उसी धरातल पर रहकर किया जा सकता है, यह तो शायद सुनने में भी बहुत भारी पड़े।

'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास का जैसा भी चरित्र है वह उसकी रचनाओं में समाहित उसके व्यक्तित्व से बहुत हटकर नहीं है; हाँ, आधुनिक प्रतीक के निर्वाह की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है। यह इसलिए कि कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व में से गुज़रना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुज़रना पड़ा है, हम भी आज उसमें से गुज़र रहे हैं। हो सकता है व्यक्ति कालिदास का यह नाम भी वास्तविक न हो, पर हमारी आज तक की सृजनात्मक प्रतिभा के लिए इससे अच्छा दूसरा नाम, दूसरा संकेत, मुझे नहीं मिला।

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास दुर्वल नहीं है; कोमल, अस्थिर और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। विलोम जो अपेक्षया सबल प्रतीत होता है, दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों को संकेतित करता है। वह व्यक्ति अपने अन्तर्द्वन्द्व को खा चुका है, इसलिए अपेक्षया अधिक संयोजित है। आशा और आस्था से हताशा और अनास्था का स्वर प्रकट रूप से अधिक बलवान होता है; अपनी स्थापना के लिए उसकी आन्तरिक अपेक्षा ही ऐसी होती है। आशा और आस्था की शक्तियाँ अपनी कोमलता में निर्बल प्रतीत हों, फिर भी कथ्य यही है कि बर्बर शक्तियों के हाथों वे पराजित नहीं होतीं। 'आषाढ़ का एक दिन' में पराजित व्यक्ति टूटा हुआ कालिदास नहीं, अपने में संयोजित विलोम है—क्योंकि विजय और पराजय के संकेत वे दोनों स्वयं नहीं हैं; संकेत है मल्लिका जो कालिदास की आस्था का विस्तारित रूप है। मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि में रोपित उस स्थिर आस्था का भी है जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती।

इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि-क्षेत्र नहीं है। साहित्य इतिहास के समय से बँधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है; युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज' और 'कल' नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं, जो जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं। इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नए और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती हैं। यह निर्माण रूढ़िगत अर्थ में इतिहास नहीं है। उस इतिहास की खोज के लिए इतिहास की शोध पुस्तकों की ओर ही जाना चाहिए।

प्रस्तुत नाटक का आधार भी ऐतिहासिक है, परन्तु उतने ही अर्थ में जितना इस व्याख्या में आता है। कथा का आधार अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द' काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द' भी है, क्योंकि संस्कृत तथा पालि साहित्य में जो कथा उपलब्ध थी, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है, एक काल्पनिक अन्विति से उसे विस्तार दिया है। 'धम्मपद' की टीका में नन्द और सुन्दरी की जो कथा है, 'सौन्दरनन्द' की कथा प्रभाव और विस्तार में उससे कहीं आगे जाती है। 'सौन्दरनन्द' में नन्द और सुन्दरी के जीवन के जो तथ्य हैं, उनके जीवन के सीमित ऐतिहासिक तथ्यों से वे कहीं भिन्न हैं; शोधग्रन्थों के 'प्रामाणिक' तथ्य तो उनके सम्बन्ध में उपलब्ध ही नहीं हैं। संस्कृत तथा प्राकृत स्रोतों की कथा में ही बहुत अन्तर है। जो स्वतन्त्रता 'सौन्दरनन्द' के लेखक ने उपलब्ध तथ्यों से आगे जाने में ली, वही स्वतन्त्रता यदि आज का लेखक 'सौन्दरनन्द' के तथ्यों से आगे जाने में लेता है, तो पुराणसर्वस्व व्यक्तियों को चौंकना नहीं चाहिए। तथ्यों के इतिहास का सन्तोष उन्हें दूसरी जगह मिल सकता है; उसकी उन्हें यहाँ खोज नहीं करनी चाहिए। यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय-मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है। रंगमंच पर नाटक कैसा उतरेगा, यह अभी कैसे कहा जा सकता है? 'आषाढ़ का एक दिन' की तरह प्रकाशन से पहले उस दृष्टि से इसकी भी परीक्षा नहीं की जा सकी। आशा करना चाहता हूँ कि उस प्रयोग की तरह यह प्रयोग भी अपनी स्थापना कर सकेगा।

—मोहन राकेश

*पुनश्चः**

हाँ, दिल्ली के तथाकथित 'हिन्दी रंगमंच' (वस्तुतः 'अंग्रेज़ी-पंजाबी रंगमंच') की अपेक्षाओं की पूर्ति इससे न हो, तो मैं अपने को ही दोषी नहीं मानूँगा। ऐसे किसी रहस्य का बीज नाटक में नहीं है जो तीसरे अंक के अन्त में जाकर खुलता हो। दिल्ली के कुछ एक स्वनामधन्य निर्देशकों के मन में नाटक की जो कल्पना है, उसकी पूर्ति उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय नाटकों से ही हो सकती है। जो थोड़े और आधुनिक हैं, उनकी आर्थर मिलर और टेनेसी विलियम्ज़ के नाटकों से। संस्कृत क्लासिक्स से भी कभी-कभी उनका काम चल सकता है, जबकि उनके अंग्रेज़ी अनुवाद का उर्दू में अनुवाद करनेवाले लोग मिल जाएँ और उर्दू अनुवाद का कोई रेडियो आर्टिस्ट 'स्टेज एडाप्टेशन' तैयार कर दे। इसके अलावा कुछ 'शैडो प्लेज़' वे ख़ुद भी लिख सकते हैं।

—मोहन राकेश

---

* 'लहरों के र [illegible] प में नाटककार ने ये पंक्तियाँ जोड़ी थीं, [illegible]

पात्र

श्वेतांग : कर्मचारी
श्यामांग : कर्मचारी
सुन्दरी : नन्द की पत्नी
अलका : दासी
शशांक : गृहाधिकारी
नन्द : बुद्ध का सौतेला भाई
मैत्रेय : नन्द का एक मित्र
नीहारिका : दासी
भिक्षु आनन्द : बुद्ध का शिष्य

स्थान, समय

अंक 1

कपिलवस्तु। राजकुमार नन्द के भवन में सुन्दरी का कक्ष। रात उतरने का समय।

अंक 2

वही कक्ष। प्रत्यूष से कुछ पहले।

अंक 3

वही कक्ष। अगली रात।

अंक : एक

दाईं ओर गोलाकार चबूतरा। सुन्दर बिछावन, तकिए। पीछे एक ऊँचा दीपाधार; शिखर पर पुरुषमूर्ति—बाँहें फैली हुईं तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुईं। बाईं ओर एक झूला और उससे थोड़ा हटकर एक मत्स्याकार आसन। आसन के पास ही मदिराकोष्ठ। इसी ओर मंच के आगे के भाग में एक छोटा दीपाधार; शिखर पर नारीमूर्ति—बाँहें संवलित तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुईं। दाईं ओर आगे के कोने में शृंगारकोष्ठ। खुले भाग में डोरी से बँधी पत्तियों का ढेर।

एक द्वार सामने; खुला होने पर पीछे के गवाक्ष दिखाई देते हैं। दूसरा द्वार दाईं ओर; अन्दर के कक्षों में जाने के लिए। तीसरा बाईं ओर; मत्स्याकार आसन और दीपाधार के बीच, बाहर उद्यान में जाने के लिए।

पर्दा उठने पर मंच पर दो व्यक्ति हैं, श्वेतांग और श्यामांग। श्वेतांग अग्निकाष्ठ से बड़े दीपाधार के दीपक जला रहा है। श्यामांग पत्तियों के ढेर में उलझा हुआ उन्हें सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है।

श्वेतांग : *(कार्य में व्यस्त)*
तुम्हारी उलझन अभी समाप्त नहीं हुई?

श्यामांग : *(पत्तियों को तोड़ने-सुलझाने में व्यस्त)*
मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है।

श्वेतांग : मुझसे ईर्ष्या होती है? क्यों?

श्यामांग : देखो न, एक के बाद एक दीपक जलता जाता है। न कुछ उलझता है, न कुछ बिखरता है।

श्वेतांग : इसका कारण है।

श्यामांग : कारण है? क्या कारण है?

कुछ पत्तियाँ हाथों में लिये हुए श्वेतांग के पास चला जाता है।

मेरे हाथों में काम उलझ क्यों जाता है?

श्वेतांग : *(उसी तरह व्यस्त)*

इसलिए कि तुम सोचते बहुत हो।

श्यामांग : सोचता बहुत हूँ? पर उससे क्या होता है?

श्वेतांग : सब-कुछ उसी से होता है। हाथ काम नहीं करते, आँखें चुँधिया जाती हैं।

श्यामांग पल-भर आँखें झपकाता रहता है।

श्यामांग : हाथ काम नहीं करते, आँखें चुँधिया जाती हैं। तो तुम...तुम कभी कुछ नहीं सोचते?

श्वेतांग पल-भर अग्निकाष्ठ की ओर देखता रहता है, फिर जैसे अतीत से होकर लौटता है।

श्वेतांग : अब नहीं सोचता। पहले सोचा करता था।

श्यामांग : पहले सोचा करते थे!... और सोचने का परिणाम यह हुआ कि...!

श्वेतांग : सोचना छोड़ दिया।

श्यामांग : *(सोचता-सा)*

सोचना छोड़ दिया!

श्वेतांग : आदमी काम करना चाहे तो उपाय यही है, राज-कर्मचारी के लिए विशेष रूप से।

एक बार सीधी नज़र से श्यामांग को देखकर फिर काम करने लगता है।

श्यामांग : तुम कहना चाहते हो कि...कि मुझे भी...सोचना नहीं चाहिए। यही न?...पर मैं...मैं कब सोचना चाहता हूँ? बिना चाहे मस्तिष्क सोचता रहे, सोचता रहे, तो आदमी क्या कर सकता है?

श्वेतांग : बिना चाहे तो मस्तिष्क सोचता ही रहता है। न सोचने के लिए वैसा चाहना पड़ता है, प्रयत्न करना पड़ता है।

श्यामांग : अब इसके लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है! प्रयत्न आदमी से न बन पड़े तो...?

श्वेतांग : तो सब-कुछ उलझता रहता है। अपने हाथों में देख लो।

श्यामांग असहाय दृष्टि से पत्तियों को देखता है।

श्यामांग : इसका अर्थ है कि वह पत्तियों का ढेर...।

उस ओर संकेत करता है।

श्वेतांग : तुम्हारे हाथों कभी नहीं सुलझेगा। लाओ, मुझे दो, मैं सुलझा देता हूँ। *(अग्निकाष्ठ उसे देकर)* तुम दीपक जलाओ।

जाकर पत्तियाँ सुलझाने लगता है। श्यामांग अग्निकाष्ठ हाथ में लिए उसे काम करते देखता रहता है।

श्यामांग : देखो, श्वेतांग! एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही...।

श्वेतांग : तुमसे कोई भी बात समझने को कहा किसने है? जल्दी से दीपक जलाओ, देवी सुन्दरी, अभी इधर आनेवाली हैं। आकर देखेंगी कि दीपक नहीं जले, तो बिगड़ उठेंगी। वर्षों के बाद आज उन्होंने कामोत्सव का आयोजन किया है...।

श्यामांग : *(उसके पास आता हुआ)*
यही बात तो मेरी समझ में नहीं आ रही। क्यों आज ही वर्षों के बाद...?

श्वेतांग : तुम फिर बहक रहे हो। तुमसे कहा है न, दीपक जलाओ।

श्यामांग : वह तो तुमने कहा है। मगर मैं सोचता हूँ...।

नेपथ्य से सुन्दरी के शब्द सुनाई देते हैं। श्यामांग आगे के दीपाधार के पास जाकर दीपक जलाने लगता है। सुन्दरी अलका के साथ बात करती हुई बाईं ओर के द्वार से आती हैं। श्वेतांग झुककर अभिवादन करता है। श्यामांग भी जैसे सहसा याद आने से, बाद में अभिवादन करता है।

सुन्दरी : हाँ, रात के अंतिम पहर तक! भोज, आपानक और नृत्य। वर्षों तक याद बनी रहनी चाहिए लोगों के मन में।

अलका : *(अंतर्मुख-सी)*
याद...वर्षों तक...परन्तु जाने क्यों मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाएँ उठती हैं...।

सुन्दरी : रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रात-भर नगरवधू चंद्रिका के चरणों की गति से इस कक्ष की हवा काँपती रहेगी। हवा काँपती रहेगी, और ढुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। कपिलवस्तु के राजपुरुष रात-भर उस मदिरा में और अन्यान्य मणि-मदिराओं में डूबते-उतराते रहेंगे। तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी। जो नहीं देखेंगे, वे तो कल्पना भी नहीं कर पाएँगे।

अलका पल-भर श्यामांग की ओर देखती रहती है।

अलका : *(जैसे सहसा अपने को सहेजकर)*
कल रात-भर मुझे नींद नहीं आई। जब नींद आई, तो...।

सुन्दरी : ठहर, मैं क्या सोच रही थी?...हाँ, शशांक से कह दिया था न कि इस अवसर के लिए उसे कुछ विशेष मदिराएँ प्रस्तुत करनी हैं?

अलका : आपने अब तक आदेश नहीं दिया था। आदेश दें, तो मैं अभी जाकर कह देती हूँ।

सुन्दरी : मैंने अब तक आदेश नहीं दिया था? इतनी बड़ी बात और इसी के सम्बन्ध में आदेश नहीं दिया? फिर मैंने सोच कैसे लिया कि...? शायद अपने पर बहुत निर्भर करती हूँ। सोच लेती हूँ कि बात मन में आने से ही पूरी हो जाती है। अभी तक सुगन्धियों की भी तो व्यवस्था नहीं हो पाई।...तू जा, पहले शशांक से कह दे। समय बहुत थोड़ा है। पुराने रस और आसव मिलाकर भी वह कई-कई तरह के नए सम्मिश्रण प्रस्तुत कर सकता है।...और उससे कहना, भोज़ और पान की सारी सामग्री आज उद्यान में सजानी है।

अलका : अभी जाकर कह देती हूँ।

दाईं ओर के द्वार से चली जाती है।

सुन्दरी : तुम्हारा काम अभी पूरा नहीं हुआ श्वेतांग?

श्वेतांग : अभी नहीं देवि! तोरण सजाने के लिए ये पत्तियाँ...।

सुन्दरी : पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो और तुम मेरे साथ आओ। तोरणों पर गन्धलेप से मुद्राएँ भी तो बनानी हैं। और तुम श्यामांग...!

श्यामांग की ओर देखती है। श्यामांग हाथ रोके जड़-सा खड़ा है।

तुम खड़े-खड़े सोच क्या रहे हो? कि आग काठ के अन्दर है या बाहर? देखो, चिन्तन बाद में करना, पहले जल्दी से दीपक जलाकर पत्तियाँ सजा दो। अतिथियों के आने में अधिक समय नहीं है।...तुम आओ श्वेतांग!

बाईं ओर के द्वार से चली जाती है। श्वेतांग जाते हुए एक बार तरस खाती आँखों से श्यामांग की ओर देख लेता है। उनके चले जाने पर श्यामांग कुछ क्षण ठगा-सा खड़ा रहता है। भाव ऐसा होने लगता है जैसे उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा रहा हो। वह अग्निकाष्ठ को अपने माथे के

पास लाकर इस तरह हिलाता है जैसे उसके अन्दर उजाला कर रहा हो। फिर चेष्टा से अपने को सँभालकर दीपक जलाने लगता है।

श्यामांग : बस कह दिया, तो हो गया! पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो! श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझीं, तो कामोत्सव नहीं होगा!...श्वेतांग कहता है कुछ सोचो नहीं।...पर सोचना-न-सोचना अपने बस की बात है?...पिछले वसन्त में आम कैसे बौराये थे! पेड़ों की डालियाँ अपने-आप हाथों पर झुक आती थीं।...परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार...जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है!... कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ...यहाँ रात-भर, नृत्य होगा, आपानक चलेगा...!

फिर कुछ क्षण ऐसे ही रहता है। जैसे आँखों के आगे अँधेरा घिर आया हो। फिर प्रयत्न से अपने को सँभालता है और घूमकर देखता है कि सब दीपक जल गए हैं या नहीं, उसके बाद अग्निकाष्ठ की ओर इस तरह देखता है जैसे उससे पूछ रहा हो कि अब और क्या करना है।

तुम्हें बाहर छोड़ देना है और आकर पत्तियाँ सुलझानी हैं, यही न?

अस्थिर भाव से सामने के द्वार से जाकर अग्निकाष्ठ बाहर रख आता है और आकर फिर से पत्तियों में उलझ जाता है।

(अपने से) लो, और सुलझाओ।...जाने इनका सिरा कहाँ है! एक बार हाथ से छूट जाता है, तो फिर पकड़ में ही नहीं आता।

सिरा नहीं मिलता, तो झुंझलाकर जगह-जगह से डोरी तोड़ने लगता है। दाईं ओर के द्वार से सुन्दरी अलका के साथ आती है।

सुन्दरी : तू सपने भी देखती है, तो ऐसे-ऐसे! सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश! इसका अर्थ यह है कि...।

दृष्टि श्यामांग पर पड़ती है। वह उनके आने से फिर जड़वत् खड़ा हो गया है। अलका जैसे उससे कुछ कहने को होती है, पर चुप रह जाती है।

काम इस तरह होता है, श्यामांग? खड़े-खड़े सोच क्या रहे हो? कि डोरियाँ पत्तियों में उलझी हैं या पत्तियाँ डोरियों में?

श्यामांग : *(जैसे आँखों के आगे आते अँधेरे से बचने की चेष्टा करता हुआ)* नहीं...मैं सोच...सोच कुछ भी नहीं रहा। चेष्टा कर रहा हूँ कि किसी तरह...किसी तरह ये सुलझ जाएँ और...।

अचानक भारी गुंझल हाथ में आ जाता है। वह हाथ पीछे करके उसे तोड़ता है।

सुन्दरी : हाँ, इसी चेष्टा से तो ये सुलझेंगी! जाओ, जाकर यह काम किसी और को सौंप दो और...।

श्यामांग जैसे बहुत प्रयत्न से आगे सुनने की प्रतीक्षा करता है।

(कुछ शीघ्रता के साथ) और कहीं एकान्त में बैठकर सोचो कि जब कोई काम हाथ में न रहे, तो हाथों को क्या करना चाहिए।

श्यामांग उलझी हुई पत्तियों को, फिर अपने हाथों को देखता है। फिर जैसे कुछ भी न सोच पाने से पत्तियों के ढेर में उलझा हुआ झुककर अभिवादन करता है। बाईं ओर के द्वार से जाते हुए वह एक बार अलका की ओर चुँधियाई-सी आँखों से देख लेता है। सुन्दरी पल-भर शृंगारकोष्ठ के पास रुकती है, फिर मत्स्याकार आसन पर जा बैठती है।

तू अपने सपने की बात कह रही थी न अलका?...क्या कह रही थी...क्या देखा था...सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश?

अलका होंठ काटकर सिर हिलाती है और उसके पास चली जाती है।

सुन्दरी : *(उसे सिर से पैर तक देखकर)* यह भरा-पूरा यौवन और हृदय में धूल-भरा आकाश!...इसका कुछ उपाय करना होगा।

अलका : प्रभात में नींद टूटने से पहले देखा था सपना! प्रभात के सपने सच नहीं होते, देवि?

सुन्दरी : *(परिहास के स्वर में)* सुना है सच होते हैं। इसीलिए तो उपाय करना होगा। कहीं यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।

अलका : *(कुछ अंतर्मुख)* मैं और भिक्षुणी का वेश!...नहीं, मैं ऐसी बात नहीं सोच सकती।

अभी नहीं...मैं तो यह सोचकर ही सिहर जाती हूँ कि कल...सच, कल भिक्षुणी के वेश में देवी यशोधरा कैसी लगेंगी, देवि?

सुन्दरी : *(उठती हुई)*

और सब भिक्षुणियाँ कैसी लगती हैं?

मदिराकोष्ठ के पास चली जाती है।

सोचकर खेद होता है कि इतने वर्ष पीड़ा सहने के बाद भी देवी यशोधरा अपनी पीड़ा का मान न रख सकीं।

पात्र से थोड़ी मदिरा चषक में डाल लेती है।

बहुत सहानुभूति भी होती है।

अलका : परन्तु सम्भव है देवि...!

सुन्दरी : हाँ, कह, रुक क्यों गई?

अलका : सोचती हूँ कि सम्भव है आज वे उन्हें पहले के सम्बन्ध से नहीं देखतीं। उनके हृदय में जो पीड़ा थी राजकुमार सिद्धार्थ को लेकर थी। परन्तु आज जो लौटकर आए हैं, वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं, गौतम बुद्ध हैं।

सुन्दरी : यही तो दुःख है कि आज वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं हैं। परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है। नहीं?

मदिरा पीकर चषक रख देती है।

अलका : *(अचकाई-सी)*

इसका श्रेय देवी यशोधरा को है? आपका अभिप्राय है कि...।

सुन्दरी : अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी-तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?

अलका सुनकर जैसे सिहर जाती है।

अलका : ऐसा, नहीं, देवि...!

सुन्दरी : क्यों? यह सच नहीं? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े थे? बात बहुत साधारण-सी है अलका! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।

अलका : *(पल-भर चुप रहकर)*

तो आप यह कहना चाहती हैं कि...।

सुन्दरी : कहना चाहने की बात नहीं, अलका! मैं एक छोटी-सी सच्चाई तुझे बतला रही हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है?

अलका : धृष्टता के लिए क्षमा चाहती हूँ, देवि! परन्तु...।

सुन्दरी : क्षमा चाहने की आवश्यकता नहीं। बात कहने में धृष्टता नहीं होती। मैं तेरी बात सुनना चाहती हूँ।

अलका : देवी यशोधरा की बात आप जानें। परन्तु प्रजा के बच्चों-बूढ़ों तक में क्यों इतना उत्साह है? वे संध्या होते ही क्यों नदी-तट की ओर उमड़ पड़ते हैं...? क्या इसका अर्थ यही नहीं है कि...?

सुन्दरी : इसका अर्थ इतना ही है, अलका, कि बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। तब जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं। यह उत्साह दूधफेन का उबाल है। चार दिन रहेगा, फिर शान्त हो जाएगा।

बाहर उद्यान से हंसों का कलरव और पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई देती है।

अलका : पर पहले आज तक कभी...।

सुन्दरी : ठहर, सुन! उतरती रात में राजहंसों का कलरव कैसे मन को खींचता है।

अलका : आपने ठीक से सुना नहीं, देवि! मुझे ऐसे लगा जैसे...।

सुन्दरी : बोल नहीं! चुपचाप सुन!

कलरव धीरे-धीरे शान्त पड़ जाता है।

इस स्वर की कहीं तुलना है? कह नहीं सकती क्या अधिक सुन्दर है—ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे अँधेरे में दूर से सुनाई देता इनका कूजन! आज पहली बार इन्हें इस समय बोलते सुना है। *(ज़रा हँसकर)* कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर काँपती हुई लहरें जिधर ले जाएँगी, उधर को तैर जाएँगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी-तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा। मैं चाहूँगी कि उस दिन...।

इस बीच एकाध बार पानी में पत्थर फेंकने का शब्द सुनाई देता है। फिर एक साथ कई एक पत्थर फेंकने का और उसमें मिला-जुला पंखों की तेज़ फड़फड़ाहट और हंसों के आहत क्रंदन का शब्द सुनाई देता है। सुन्दरी बोलते-बोलते रुक जाती है और उद्विग्न दृष्टि से उद्यान की ओर देखती है।

किसकी धृष्टता है यह? कमलताल में पत्थर कौन फेंक रहा है?

अलका : मैंने पहले भी ऐसा शब्द सुना था। यही मैं आपसे कह रही थी। रात के समय हंस अकारण ही नहीं बोल उठे थे।

हंसों का क्रंदन हल्की-हल्की कराहट में बदलकर धीरे-धीरे रुक जाता है।

सुन्दरी : उद्यान में जाकर देख, कौन है जिसने ऐसी चेष्टा की है! कहना मैं उसे अभी यहाँ बुला रही हूँ।

अलका : मैं अभी देखती हूँ।

बाईं ओर के द्वार से चली जाती है। सुन्दरी उसी तरह उद्विग्न चबूतरे पर बैठ जाती है। कुछ क्षण बाद श्यामांग बाईं ओर के द्वार से आता है। अलका पीछे-पीछे आती है, सिर झुकाए हुए। सुन्दरी श्यामांग को देखते ही खड़ी हो जाती है। श्यामांग के चेहरे का भाव बहुत बदल गया है। वह विक्षिप्त-सा नज़र आता है।

सुन्दरी : *(आवेशपूर्वक)*

तो तुम थे जो कमलताल में राजहंसों पर पत्थर फेंक रहे थे!

श्यामांग : नहीं, राजहंसों पर नहीं, देवि...!

अलका सुन्दरी के निकट आ खड़ी होती है। उसके चेहरे पर कई तरह के भाव आ-जा रहे हैं।

सुन्दरी : राजहंसों पर नहीं तो किस पर? ताल में दिखाई देती अपनी छाया पर?

छाया शब्द के उच्चारण से श्यामांग की आँखों में एक डर-सा लहरा जाता है।

श्यामांग : छाया पर!...हाँ....परन्तु अपनी छाया पर नहीं। वह एक और ही छाया थी...बहुत डरावनी...!

सुन्दरी : बनते क्यों हो? स्पष्ट बात क्यों नहीं कहते? *(व्यंग्यपूर्वक)*... वह एक और ही छाया थी! जान सकती हूँ कैसी छाया थी वह?

श्यामांग : जाने कैसी छाया थी! ज्यों-ज्यों अँधेरा गहरा हो रहा था, छाया लम्बी और लम्बी होती जा रही थी...।

सुन्दरी : मैं यह प्रलाप नहीं सुनना चाहती। तुम्हें अँधेरे में बैठकर छायाएँ देखने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था?

श्यामांग : काम? काम नहीं था। आपने कहा था काम न करने के लिए। कमलताल के पास जो अँधेरा कोना है, कुछ देर के लिए वहाँ चला गया था। वहाँ देखा, ताल की लहरों पर वह छाया उतर रही है। लहरें उसमें गुम हुई जा रही हैं; कमलनाल कमलपत्र सब उसमें खोए जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सबको लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े को भी। मुझे डर लगा। मैं छाया पर पत्थर फेंकने लगा।

सुन्दरी : छाया को हटाने के लिए तुम उस पर पत्थर फेंकने लगे?

श्यामांग : हाँ, एक पत्थर फेंका, तो लगा छाया हिल रही है। वह हिली, परन्तु हटी नहीं...। तभी हंसों के जोड़े ने पंख फड़फड़ा दिए और जैसे छाया से बचने के लिए वे पुकार उठे। मैंने तब उस छाया पर कई पत्थर लगातार फेंके।

सुन्दरी : *(और भी आवेश में)*
तुम समझते हो कि मैं इन बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास कर लूँगी?

श्यामांग : छाया कई टुकड़ों में बँट गई, मगर फिर ज्यों-की-त्यों हो गई तभी न जाने कैसे उसने राजहंसों को अपने में कस लिया जिससे वे चीत्कार कर उठे...।

अलका इस बीच कभी सुन्दरी और कभी श्यामांग की ओर देखती रहती है। सहसा वह आगे आ जाती है।

अलका : तुम सच क्यों नहीं कह देते कि अनजाने में तुमसे अपराध हो गया है? अपराध के लिए तुम क्षमा माँग लो, तो...।

श्यामांग : छाया को हटाना अपराध था क्या? मैं नहीं जानता था। अपराध था, तो उसके लिए...।

अलका : क्यों फिर वही बात किए जाते हो? क्यों नहीं स्पष्ट कह दते कि तुम्हारा मन कहीं और था और तुम्हें पता नहीं चला कि कब तुमने पत्थर उठाए और कब फेंकने लगे?

श्यामांग : मेरा मन कहीं और था? पर ऐसा तो नहीं। मन कहीं और होता, तो मैं छाया को देखता किस तरह और...?

सुन्दरी आगे आ जाती है।

सुन्दरी : मुझे विश्वास है सचमुच तुमने छाया देखी है। जब तुम यहाँ काम कर रहे थे, तब भी वही छाया तुम्हारे सिर पर मँडरा रही थी। वही तुम्हें काम नहीं करने देती थी। आज कामोत्सव के आयोजन में वह छाया किसी को भी न घेरती, तो मुझे आश्चर्य होता। उपाय यही है कि कुछ समय के लिए तुम्हें दक्षिण के अन्धकूप में उतार दिया जाए। वहाँ वह छाया तुम्हारे पास तक नहीं फटकेगी।

अलका : *(सहसा आगे आकर)*
नहीं-नहीं, देवि!

सुन्दरी उसकी ओर ध्यान नहीं देती।

सुन्दरी : *(बात जारी रखती हुई)*
... और तुम्हें भी पूरा अवकाश रहेगा, नहीं? श्वेतांग तुम्हें तुम्हारे गन्तव्य तक पहुँचा आएगा। *(दाईं ओर देखकर)* जो भी द्वार पर हो, श्वेतांग से कह दे, मैं उसे बुला रही हूँ।

श्वेतांग दाईं ओर के द्वार से आता है।

श्वेतांग : *(साभिवादन)*
देवि!

सुन्दरी : सुगन्धियों की व्यवस्था हो गई?

श्वेतांग : हाँ, देवि!

सुन्दरी : तोरणों पर मुद्राएँ अंकित की जा चुकीं?

श्वेतांग : हाँ, देवि!

सुन्दरी : तो एक काम तुम्हें और करना है। तुम्हारा सहयोगी श्यामांग आज एक छाया से पीड़ित है। इसे उस छाया से मुक्त करने के लिए...।

श्यामांग : छाया वहाँ है देवि, कमलताल पर। जब मैं वहाँ से हटा, तब भी वह...।

श्वेतांग पल-भर ध्यान से श्यामांग को देखता रहता है।

श्वेतांग : मुझे लगता है, देवि...!

सुन्दरी : तुम्हें जो भी लगता हो, वह आकर कहना। पहले इसे ले जाकर दक्षिण के अन्धकूप में छोड़ आओ। वहाँ रक्षकों से कहना...।

श्यामांग : रक्षक मुझे जानते हैं, देवि! सब-के-सब मुझसे अच्छी तरह परिचित हैं।

सुन्दरी : *(कुछ क्रोध के साथ)*
खड़े क्यों हो, श्वेतांग? जाओ और जाकर आदेश का पालन करो।

श्वेतांग आगे बढ़कर श्यामांग को बाँह से पकड़ लेता है।

श्वेतांग : आओ, श्यामांग!

श्यामांग : मैं तुमसे सच कहता हूँ श्वेतांग, मैं कुछ सोच नहीं रहा था। सोचना चाहता भी नहीं था। मुझे याद था, तुमने कहा था...।

सुन्दरी : इसे ले जाओ, मैं इसकी अनर्गल बातें और नहीं सुनना चाहती।

श्वेतांग बाईं ओर के द्वार से श्यामांग को बाहर ले चलता है।

श्वेतांग : *(चलते-चलते)*
मैंने तुमसे कुछ भी नहीं कहा था। तुम यदि समझते हो कि मैंने कुछ कहा था, तो वह तुम्हारे मन की भ्रांति है।

श्वेतांग : *(चलते-चलते)*
तुमने कुछ भी नहीं कहा था? सच, कुछ नहीं कहा था? फिर मुझे कैसे लगा कि तुमने...।

दोनों बाहर चले जाते हैं। श्यामांग के अन्तिम शब्द बाहर से सुनाई देते हैं। अलका इस बीच आहत-सी आगे के दीपाधार के पास आ जाती है।

सुन्दरी : *(शृंगारकोष्ठ की ओर बढ़ती हुई)*
मुझे पहले से ही आशंका थी, जानती थी कि...*(अलका की ओर देखकर)* तुझे क्या हुआ है, अलका? तू इस तरह क्यों खड़ी है?

अलका अपने को सुस्थित करने का प्रयत्न करती है।

अलका : हुआ कुछ नहीं, देवि! ऐसे ही...।

सुन्दरी : ऐसे ही क्या? तेरे चेहरे से तो लगता है जैसे...इधर आ मेरे पास।

अलका आँख में आए आँसुओं को पोंछकर उसके पास चली जाती है।

सुन्दरी : *(उसका हाथ पकड़कर)*
बता, क्या बात है?

अलका : कुछ भी तो नहीं, देवि! मैं...।

सुन्दरी : मैं जानती हूँ कि तू बहुत भावुक है। तुझे शायद दुःख हुआ है कि आज के दिन...।

अलका : नहीं, ऐसा नहीं, देवि!

सुन्दरी : तो फिर...तू फिर से अपशकुन की बात सोच रही है?

अलका : नहीं, देवि!...मैं सोच रही थी कि जो कुछ हुआ है, वह उसने शायद जान-बूझकर नहीं किया...।

सुन्दरी : तू श्यामांग के लिए कह रही है?

अलका चुपचाप सिर हिला देती है।

(कुछ तीव्र होकर) तू समझती है कि सचमुच...?

अलका : नहीं, देवि! छाया की बात में मैं विश्वास नहीं करती। मैं कई दिन से देख रही हूँ कि...धीरे-धीरे उसे कुछ होता जा रहा है...अपनी मानसिक शक्तियों पर से उसका अधिकार उठता जा रहा है...।

सुन्दरी कुछ सोचती-सी उसके पास से हट आती है।

सुन्दरी : तू कहना चाहती है कि श्यामांग...कि वह उन्माद में यह सब कर रहा था?

अलका : उन्माद नहीं तो उससे कम भी नहीं है। कई दिन से देख रही हूँ कि वह...कि वह अपने ही में कहीं खोया जा रहा है...मन में कुछ ग्रंथियाँ उलझ गई हैं और वह...उसे सहानुभूति और उपचार की आवश्यकता है, देवि! मैं कितना चाहती थी कि मैं उसे...कि उसके लिए कुछ किया जा सके...।

सुन्दरी झूले के पास चली जाती है। कुछ सोचती-सी झूले को हिला देती है फिर उसे हिलता छोड़ स्वयं अलका की ओर लौट आती है।

सुन्दरी : *(जैसे मन में स्थितियों को सुलझाती हुई)*

तो तेरे कहने का अर्थ यह है कि...कहीं तू भी तो उसकी तरह...परन्तु नहीं। ऐसा नहीं हो सकता।...तू शायद...।

पास आ उसकी ठोड़ी को छूकर उसका मुँह अपनी ओर कर लेती है।

तू उससे...प्रेम तो नहीं करती?

अलका होंठ काटकर आँखें झुका लेती है। सुन्दरी उसके पास से हटकर चबूतरे पर चली जाती है और एक तकिए से टेक लगा लेती है।

मैंने नहीं सोचा था कि तू...पर तू किसी से प्रेम करती है, तो उस तरह के सपने कैसे देखती है?...और श्यामांग!...वह ऐसा व्यक्ति है क्या जिससे...पर शायद यह बात पूछने की नहीं है।...मुझे इस विषय में सोचना होगा...।

अलका अपने को व्यस्त रखने के लिए शृंगारकोष्ठ की सामग्री को सहेजती है। फिर चबूतरे के पास जाकर तकियों की सलवटें निकालने लगती है।

सोचना होगा कि तुझे और उस व्यक्ति को...अच्छा, सुन।

अलका हाथ रोककर उसकी ओर देखती है।

तुझे विश्वास है कि तू सचमुच उससे प्रेम करती है?

अलका अपने आँसुओं को छिपाने के लिए पलकें झपकती हुई आँखें दूसरी ओर हटा लेती है।

और तू चाहती थी कि उसके लिए कुछ किया जाए।

अलका धीरे से सिर हिला देती है।

तो मैं तुझे निराश नहीं करूँगी।...तू जानती है मैं तुझे कितना चाहती हूँ! मैं यह कैसे चाहूँगी कि तेरी भावना...पर अलका, मुझे अब भी विश्वास नहीं होता कि उसने जो कुछ किया है, उन्मांद में किया है। सोचती हूँ कि इसके लिए उसे...पर सम्भव है मैं ठीक नहीं सोच रही...।

चबूतरे से उठ पड़ती है।

अच्छा, तू जाकर शशांक से कह कि वह उद्यान में सबके आसन लगाने से पहले एक बार मुझसे बात कर ले। अतिथि अब आया ही चाहते हैं।...श्वेतांग लौट आए, तो मैं श्यामांग के लिए दूसरा आदेश भेजती हूँ।

अलका का कन्धा थपथपा देती है। अलका साभार झुककर दाईं ओर के द्वार से चली जाती है। तभी सामने के द्वार से नन्द अन्दर आता है। चेहरे से लगता है जैसे वह कोई दुर्घटना देखकर आया हो और उसका आतंक अभी उसके मन से निकला न हो। वह आकर पल-भर झूले के पास रुकता है। सुन्दरी अलका के जाने के बाद अपने से बात करती रहती है।

परन्तु सोचती हूँ कि यह उन्माद आज ही क्यों? आज से पहले कभी ऐसा क्यों नहीं हुआ? कितने दिन से वह यहाँ काम कर रहा है, फिर क्यों आज ही...?

नन्द मदिराकोष्ठ के पास आकर चषक में मदिरा ड़ालता है तभी सुन्दरी की दृष्टि उस पर पड़ती है।

(चौंककर) आप?...आप कब आए? अभी-अभी तो मैं...।

नन्द : *(चषक होंठों के पास ले जाकर)*
मैं अभी आया हूँ।

चषक ख़ाली करके यथास्थान रख देता है।

सुन्दरी : और मैं कितनी देर से प्रतीक्षा कर रही थी, सोच रही थी कि शायद...।

नन्द : *(पास आता हुआ)*
क्या सोच रही थी...कि नहीं आऊँगा?

सुन्दरी : ऐसी असम्भव बात मैं सोच सकती थी? सोच रही थी कि शायद आखेट में बहुत दूर निकल गए हैं। डर रही थी कि सब लोग आ चुकेंगे, तो अन्त में आनेवाले अतिथि आप ही न हों।

नन्द : *(जैसे कुछ और बात सोचता हुआ)*
अन्त में आनेवाला अतिथि...!

चबूतरे पर जाकर विश्राम की मुद्रा में बैठ जाता है।

मैं जानता था तुम प्रतीक्षा में होगी। इसीलिए...*(सहसा बात बदलकर)* आखेट में बहुत देर तो नहीं लगी।...तुम्हें लगा कि बहुत देर लगी है?

सुन्दरी : नहीं लगी? आप संध्या से पहले लौट आने को नहीं कह गए थे?

पास जाकर पल-भर उसे देखती रहती है।

इतने थके हुए क्यों लग रहे हैं?

नन्द : इसलिए कि थककर आया हूँ। दिन-भर एक मृग का पीछा किया, फिर भी वह हाथ नहीं आया। जाने कैसा मायामृग था वह!

सुन्दरी : यह तो कभी नहीं हुआ कि आपका आखेट आपके हाथ से निकल जाए।

नन्द : हाथ से निकला भी तो नहीं।...सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इससे मन को उतना खेद नहीं हुआ, जितना इससे...कि जब थककर लौटने का निश्चय किया, तो वही मृग...थोड़ी ही दूर आगे...रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।

सुन्दरी : किसी और के बाण से आहत हुआ वह?

नन्द : नहीं। किसी के बाण से आहत नहीं हुआ, अपनी थकान से मर गया। बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी है, तो केवल प्राप्ति की हल्की-सी

अनुभूति। परन्तु बिना घाव के अपनी ही क्लांति से मरे हुए मृग को देखकर मन में जाने कैसा लगा! और लौटकर आते हुए अपने-आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि...।

सुन्दरी : थोड़ी मदिरा ले लीजिए। मन स्वस्थ हो जाएगा।

मदिराकोष्ठ की ओर जाने लगती है।

नन्द : अभी और नहीं। कुछ देर बाद। *(सहसा उठकर)* मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि मरा हुआ मृग भी इतना सजीव लग सकता है। ऐसे लग रहा था जैसे हाथ लगाते ही वह आशंका से काँप जाएगा और सहसा उठकर भाग खड़ा होगा। पर मैं उसे हाथ भी तो नहीं लगा सका। आखेटकों ने उसे उठा लाना चाहा, तो मैंने मना कर दिया। कहा कि उसे वहीं पड़ा रहने दो, उसी रूप में मृत और...जीवित!

सुन्दरी : अतिथियों के आने तक शयनकक्ष में विश्राम करना चाहेंगे?

नन्द : *(जैसे कुछ चौंककर)*

अतिथियों के आने तक?...नहीं। तुमने पहले ही कह दिया था कि आज विश्राम नहीं होगा।

सुन्दरी : मैंने कहा तो था, पर तब यह कहाँ सोचा था कि...।

नन्द : तुम्हारी कही हुई बात तुम्हारे लिए उतना महत्त्व नहीं रखती जितना मेरे लिए। *(उसके कन्धों पर थोड़ा झुककर)* यह तुम नहीं जानती।

सुन्दरी : मैं नहीं जानती?

नन्द : जानतीं, तो ऐसा कहतीं?

बाईं ओर के द्वार से शशांक आता है। उन्हें देखकर पल-भर के लिए द्वार के पास ठिठकता है।

शशांक : देवि का आदेश था कि मैं...।

सुन्दरी : हाँ, मैंने तुम्हें बुला भेजा था। बताना चाहती थी कि उद्यान में अतिथियों के बैठने की व्यवस्था कैसे करनी है। आसन इस तरह बिछाने होंगे कि चार-चार, छः-छः लोग एक-एक वृक्ष के नीचे बैठ सकें। सारा जमघट एक ही स्थान पर हो, यह मैं नहीं चाहूँगी...।

नन्द : *(सुन्दरी से)*

सुनो...।

सुन्दरी : ...और जितने मदिरापात्र हैं...आज के लिए कुछ विशेष मदिराएँ प्रस्तुत की हैं?

शशांक : हाँ, देवि! कुछ ऐसे सम्मिश्रण हैं जिनका राजभवन में आज पहली बार सेवन किया जाएगा।

नन्द : *(सुन्दरी के निकट आकर)*
मैं एक बात कहना चाहता था सुन्दरी...।

सुन्दरी : ...तो मदिरापात्र और चषक कमलताल के पास के चबूतरे पर रखवा देना, और वहाँ भी आसपास कुछ आसन बिछवा देना। जब सारी व्यवस्था हो जाए, तो आकर मुझे सूचित कर देना।

शशांक आज्ञा-ग्रहण के रूप में सिर हिलाकर बाईं ओर के द्वार से चला जाता है। सुन्दरी मुड़कर नन्द की ओर देखती है।

सुन्दरी : आप कुछ कह रहे थे?

नन्द अनिश्चित-सा उसकी ओर देखता है।

नन्द : हाँ...नहीं...ऐसी कुछ विशेष बात नहीं थी। मैं यही कहना चाहता था कि...व्यवस्था यदि उद्यान के स्थान पर कक्ष में की जाए, तो...।

सुन्दरी : इस कक्ष में? इस कक्ष में इतना स्थान है कि सब अतिथि यहाँ आ सकें?

नन्द : इतना स्थान तो नहीं है, फिर भी...।

मुड़कर मदिराकोष्ठ की ओर जाता है।

सुन्दरी : मदिरा लेंगे? अभी मैंने कहा था तो...।

नन्द : *(जैसे चौंककर)*
हाँ...नहीं...मैं इस विचार से इधर नहीं आया।

फिर से मुड़कर सुन्दरी की ओर आ जाता है।

सुन्दरी : आप व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कह रहे थे।

नन्द आकर आगे के दीपाधार के पास खड़ा हो जाता है।

नन्द : हाँ, मैं कह रहा था कि सम्भव है उतने लोग न भी आएँ, जितने लोगों के आने की हम आशा कर रहे हैं।

सुन्दरी : *(थोड़ा तमककर)*
क्यों? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमंत्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रहा हो? अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न आ पाए, तो बात दूसरी है।

नन्द : मैं यही तो कह रहा था कि...सम्भव है...कुछ लोगों के लिए ऐसे कुछ कारण हो जाएँ। सोमदत्त और विशाखदेव के यहाँ मैं अभी स्वयं होकर आया था...।

सुन्दरी : *(आवेश में उसके पास आकर)*
आप स्वयं... उन लोगों के यहाँ होकर आए हैं? क्यों? आपका स्वयं लोगों के यहाँ जाना...विशेष रूप से यह कहने के लिए... यह क्या अपमान का विषय नहीं है?

नन्द : मैं विशेष रूप से नहीं गया...।

दीपाधार और शृंगारकोष्ठ के बीच टहलता है।

गया था देवी यशोधरा से मिलने...।

सुन्दरी : *(और तमककर)*
देवी यशोधरा से मिलने...।

नन्द : उन्होंने बुला भेजा था।

सुन्दरी : बुला भेजा था? क्यों?

नन्द : *(टहलते हुए रुककर)*
उन्होंने कहलाया था कि कल से वे इस भवन में नहीं रहेंगी... बाहर भिक्षुणियों के शिविर में चली जाएँगी, इसलिए...।

सुन्दरी : इसलिए क्या?

नन्द फिर टहलने लगता है।

नन्द : इसलिए चाहती हैं कि आज अंतिम बार भवन में अपने सब बांधवों से मिल लें।

सुन्दरी मन में उमड़ते हुए भाव को किसी तरह दबाकर झूले पर जा बैठती है।

सुन्दरी : तो उनके मन का मोह अभी छूटा नहीं है?

नन्द : मोह की बात...*(बात बीच में ही रोककर)*...हो सकता है ऐसा ही हो।...उन्होंने कहलाया तुम्हारे लिए भी था।

सुन्दरी : और आपने जाकर मेरी ओर से क्षमा माँग ली।

नन्द : नहीं। मैंने कहा कि तुमने आज कुछ अतिथियों को निमंत्रित कर रखा है, इसलिए...।

सुन्दरी : *(झूले से उठकर)*
अतिथियों को निमंत्रित कर रखा है, इतना ही?

आकर चबूतरे के सहारे खड़ी हो जाती है।

कामोत्सव की बात नहीं कह सके?

नन्द : कहने की आवश्यकता नहीं थी।

घूमता हुआ शृंगारकोष्ठ की ओर से होकर सुन्दरी के पास आ जाता है।

वे यह बात जानती थीं। उन्होंने स्वयं ही कहा कि...।

सुन्दरी : वे जानती थीं न? मुझे पता था वे अवश्य जानती हैं...। क्या कहा उन्होंने?

नन्द : कहा कि अपनी व्यस्तता के कारण तुम न भी आ सको, तो मैं तुम्हें उनका आशीर्वाद...।

सुन्दरी चबूतरे का सहारा छोड़कर सीधी खड़ी हो जाती है।

सुन्दरी : *(कुछ तीव्र स्वर में)*
आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे! मन में क्या सोच रही होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ। उन्हीं के कारण...।

श्वेतांग बाईं ओर के द्वार से आता है।

श्वेतांग : *(साभिवादन)*
देवी के आदेश का पालन हो गया है। श्यामांग को...।

सुन्दरी : *(उसी तीव्रता के साथ)*
श्यामांग का अपराध मैंने क्षमा कर दिया है। अलका को विश्वास है कि उसने जो कुछ भी किया उन्माद में किया है। मैंने अलका को वचन दिया था कि मैं उसका अपराध क्षमा कर दूँगी। इसलिए उसके सम्बन्ध में मेरा दूसरा आदेश यह है कि उसका उपचार करने की व्यवस्था की जाए। जब तक वह ठीक नहीं होता तब तक वह अलका की ही देख-रेख में रहेगा।

श्वेतांग भौचक्का-सा उसकी ओर देखता है जैसे उसे सुनी हुई बात पर विश्वास न हो रहा हो।

श्वेतांग : तो क्या...क्या अभी जाकर...?

सुन्दरी : हाँ, अभी जाकर उसे ले आने की व्यवस्था करो...और सुनो। यहाँ अभ्यंतर भाग में जो कर्मचारियों के कक्ष हैं, उन्हीं में से एक में उसे रखना होगा। अलका को उसकी देखभाल करने में यहाँ सुविधा रहेगी।

श्वेतांग : *(कुछ संकोच के साथ)*
मैं कहना चाहता था, देवि, कि यदि आज की रात...!

सुन्दरी : *(अधीर होकर)*
मैंने जो आदेश दिया है, उसका पालन करो। जाओ।

श्वेतांग बाईं ओर के द्वार से चला जाता है। नन्द इस बीच पीछे के दीपाधार के पास जाकर कुछ-एक बुझे हुए दीपकों को दूसरे दीपकों की लौ से जलाता है। फिर सुन्दरी की ओर लौट आता है।

नन्द : श्यामांग को क्या हुआ है?

सुन्दरी : मुझे आप स्मरण न दिलाएँ, मैं अब उस बात को भूल जाना चाहती हूँ।

नन्द : परन्तु उसके उन्माद की बात...?

सुन्दरी : बात कुछ नहीं है। काम कर रहा था। अचानक बहकी-बहकी बातें करने लगा। फिर एक अपराध उससे हो गया। परन्तु मैंने उसे क्षमा कर दिया है।

नन्द पल-भर मौन रहता है।

नन्द : तुम बुरा तो नहीं मान गईं?

सुन्दरी : किस बात का?

नन्द : मेरे अकारण बाहर रुके रहने का...देर से लौटकर आने का?

सुन्दरी : नहीं तो। आप समय से पहले तो आ ही गए हैं।

नन्द : फिर ऐसी क्यों हो रही हो?

सुन्दरी : कैसी हो रही हूँ

नन्द : यह तो मैं ही देख सकता हूँ...जो तुम्हारे चेहरे का दर्पण हूँ।

सुन्दरी : रहने दीजिए, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।

नन्द : अच्छा नहीं लगता! मगर यह बात मेरी नहीं, तुम्हारी कही हुई है। तुम्हें याद नहीं?

सुन्दरी : आज मुझे कुछ भी याद नहीं।

नन्द : यह भी याद नहीं कि तुमने आज कामोत्सव का आयोजन किया है...तुम्हारे कुछ अतिथि...अभी आनेवाले हैं।

सुन्दरी : कुछ अतिथि!...आप बार-बार यह क्यों कहना चाहते हैं कि सब अतिथि नहीं आएँगे!...सोमदत्त और विशाखदेव इससे लज्जित नहीं हुए कि आप कहने के लिए स्वयं उनके यहाँ गए?

नन्द बाँहें पीछे करके फिर टहलने लगता है।

नन्द : वे लज्जित थे...विशेष रूप से इसलिए कि वे...वे उत्सव में...नहीं आ पाएँगे!

सुन्दरी : नहीं आ पाएँगे?

पल-भर के लिए स्तब्ध हो रहती है।

कारण?

नन्द : *(रुककर)*

उन्होंने क्षमा चाहते हुए दिन में ही संदेश भेजा था। मैंने उस समय तुम्हें बताना ठीक नहीं समझा। सोचा कि उसकी आवश्यकता नहीं होगी। मैं उधर जाऊँगा, तो वे अवश्य मेरे साथ चले आएँगे...।

सुन्दरी : पर आपने बताया क्यों नहीं मुझे? बताया होता, तो मैं आपको कभी किसी के यहाँ न जाने देती। मेरे उत्सव में लोग अनुरोध करने से आएँ, इससे उनका न आना ही अच्छा है।...और दो व्यक्तियों के आने-न-आने से अन्तर भी क्या पड़ता है? *(कुछ सोचती-सी)* देखिए, और अतिथियों के सामने यह बात न कहिएगा कि आप इन लोगों को बुलाने इनके यहाँ गए थे।

बाहर से किसी के आने की आहट सुनाई देती है। सुन्दरी घूमकर सामने के द्वार की ओर जाती है।

शायद कुछ लोग आ रहे हैं।

सामने के द्वार से मैत्रेय आता है।

(प्रयत्न से स्वर में उत्साह लाकर) आर्य मैत्रेय! हमारे पहले अतिथि!

मैत्रेय : *(गम्भीर भाव से आगे आता हुआ)*

हाँ, पहला...और, शायद एकमात्र अतिथि!

बढ़कर नन्द के पास आ जाता है। सुन्दरी आहत दृष्टि से उसकी ओर देखती हुई अपने स्थान पर खड़ी रहती है।

नन्द : एकमात्र अतिथि! तो क्या और लोगों में से...?

मैत्रेय : जिन-जिनसे मैं मिला हूँ, उनमें से हर एक ने किसी-न-किसी कारण अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए क्षमा याचना की है—रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईषाण, शैवाल, सभी ने।

नन्द : *(अव्यवस्थित-सा)*

और पद्यकांत, रुद्रदेव, लोहिताक्ष, शालिमित्र...?

मैत्रेय : लोहिताक्ष और शालिमित्र से मिलने नहीं गया। पद्यकांत और रुद्रदेव ने भी यही कहा कि उनकी ओर से मैं क्षमायाचना करूँ,

वे आज नहीं आ पाएँगे। उनसे मिलने के बाद और किसी के यहाँ जाने को मन नहीं हुआ।

सुन्दरी, अपने को रोक पाने में असमर्थ, बढ़कर उनके बीच में आ जाती है।

सुन्दरी : परन्तु इन सबसे कहने जाने की आवश्यकता आपको क्यों हुई? क्या आप पहले से जानते थे कि वे लोग नहीं आएँगे?

मैत्रेय : इसका उत्तर कुमार दे सकते हैं।

मदिराकोष्ठ के पास जाकर चषक में मदिरा डालने लगता है।

सुन्दरी : *(आवेशपूर्ण स्वर में नन्द से)*
तो क्या इन सबने आपको सन्देश भेजा था कि ये नहीं आएँगे?

सीधे नन्द की आँखों में देखती है। नन्द आँखें दूसरी ओर हटा लेता है।

नन्द : सबने तो नहीं...पर इनमें से कई लोगों ने संदेश भेजा था।

सुन्दरी : और आपने इसकी चर्चा तक मुझसे करना आवश्यक नहीं समझा।

नन्द : मैं तुम्हारे उत्साह में बाधा डालना नहीं चाहता था। सोचा था कि इनमें से अधिकांश लोग एक बार जाकर कहने से...

सुन्दरी : कितना मान होता मेरा कि जाकर कहने से जो लोग आते, उनका मुझे इस घर में स्वागत करना पड़ता! आपने यह नहीं सोचा कि मैं...कि मैं...।

आवेश पर वश न रख सकने के कारण मुँह हाथों में छिपाए चबूतरे पर जा बैठती है। नन्द और मैत्रेय एक-दूसरे की ओर देखते हैं। तभी बाहर कुछ आहट सुनाई देती है। मैत्रेय भरा हुआ चषक मदिराकोष्ठ में रखकर सामने द्वार की ओर बढ़ता है। परन्तु नन्द अपनी उत्सुकता में उससे पहले द्वार के पास पहुँच जाता है।

नन्द : शायद कुछ लोग आ रहे हैं।

द्वार से निकलकर गवाक्ष के पास चला आता है। सुन्दरी धीरे-धीरे चेहरे से हाथ हटाती है और अपने को सँभालने का प्रयत्न करती हुई उस ओर देखती है। नन्द ग़वाक्ष के पास से हटकर वापस कक्ष में आ जाता है। सुन्दरी चबूतरे से उठ खड़ी होती है।

सुन्दरी : कौन लोग हैं?

नन्द उसके पास आ खड़ा होता है। मुँह से कुछ नहीं कहता।

देखा है आपने! कौन लोग हैं?

नन्द : अतिथि नहीं हैं।

सुन्दरी : *(प्रयत्न से अपने को सुस्थित रखती हुई)*
तो और कौन लोग हैं?

नन्द : अपने ही कुछ कर्मचारी हैं श्वेतांग, बीजगुप्त और नागदास...।

सुन्दरी : *(अपने भाव को छिपाने के प्रयत्न में),*
ये सब लोग क्या अपने-अपने कार्य पर नहीं हैं?

नन्द : कार्य पर ही हैं। श्वेतांग को अभी तुमने आदेश दिया था न! ये सब मिलकर श्यामांग को साथ के कर्मचारियों के कक्ष में ला रहे हैं।

मैत्रेय : मैं दिन-भर सोचता रहा कि आपसे कहूँ, परन्तु कह नहीं पाया। कामोत्सव का आयोजन यदि आज स्थगित करके कल रखा जा सकता...।

भरा हुआ चषक फिर उठा लेता है। सुन्दरी उसकी बात से अपने पर वश खो बैठती है।

सुन्दरी : *(मदिराकोष्ठ की ओर जाती हुई)*
कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ...क्यों! मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।

नन्द बढ़कर सुन्दरी के पास आ जाता है।

नन्द : देखो, इस तरह अव्यवस्थित नहीं होते।

उसका हाथ अपने हाथ में लेना चाहता है, परन्तु सुन्दरी हाथ छुड़ा लेती है।

सुन्दरी : मैं अव्यवस्थित नहीं हूँ। किसी का कोई षड्यंत्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता।

नन्द : षड्यंत्र! इसमें षड्यंत्र कोई नहीं है सुन्दरी...!

सुन्दरी : यह षड्यंत्र नहीं तो और क्या है? और इस षड्यंत्र की प्रेरणा कहाँ से आई है, यह भी मैं अच्छी तरह जानती हूँ।

सहसा वहाँ से हटकर श्रृंगारकोष्ठ के पास आ जाती है और वहाँ की सामग्री को इधर-उधर रखने-हटाने लगती है। मैत्रेय पल-भर स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता रहता है। फिर भरा हुआ चषक पुनः मदिराकोष्ठ में रख देता है।

मैत्रेय : मैं आज्ञा चाहूँगा कुमार! यहाँ और रुककर मैं राजकुमारी के उद्वेग का कारण नहीं बनना चाहता।

नन्द : ठहरो मैत्रेय! तुम्हें सोचना चाहिए कि सुन्दरी के उद्वेग का वास्तविक कारण...।

सुन्दरी : *(आपे से बाहर होकर)*

अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ ये होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएँ। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतीक्षा में वे न रहें। वह कल उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं...।

सामग्री को इधर-उधर रखते हुए चंदनलेप की कटोरी हाथ से गिर जाती है। उसे पैर से ठोकर लगाकर वह सहसा बाईं ओर के द्वार से चली जाती है।

नन्द : *(असहाय स्वर में)*

ठहरो सुन्दरी, बात सुनो...

सुन्दरी कोई उत्तर नहीं देती। पल-भर मौन व्यवधान रहता है। फिर नन्द मुड़कर मैत्रेय की ओर देखता है।

मैत्रेय : मैं आज्ञा चाहूँगा कुमार!

उत्तरीय लपेटकर झट से सामने के द्वार से चला जाता है। नन्द सिर झुकाए धीरे-धीरे पीछे के दीपाधार की ओर जाता है। जाते हुए मदिराकोष्ठ के पास रुककर भरे हुए चषक को देखता है ओर उँडेल देता है। बाईं ओर के द्वार से शशांक आता है।

शशांक : अतिथियों के बैठने की सारी व्यवस्था हो गई है, कुमार! देवि के आदेशानुसार उद्यान के एक-एक वृक्ष के नीचे...।

नन्द : *(बैठे हुए स्वर में)*

जाओ शशांक! अब उस सबकी आवश्यकता नहीं है।

शशांक : पर कुमार... ।

नन्द : तुमसे कह दिया हैं जाओ। जो आसन बिछाए हैं, उठा दो। अब उन सबकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शशांक चकित-सा पल-भर रुका रहता है। फिर सिर झुकाकर चला जाता है। नन्द दीपाधार का सहारा लिए अंतर्मुख-सा ऊपर की ओर देखने लगता है। प्रकाश उसके चेहरे और ऊपर की पुरुष मूर्ति पर केंद्रित होकर धीरे-धीरे मन्द पड़ता है।

अंक : दो

अँधेरा। अँधेरे में टहलती हुई नन्द की आकृति प्रकाश होने तक एक छाया-सी नज़र आती है।

नेपथ्य से श्यामांग का ज्वर-प्रलाप सुनाई देता है, धीमा परन्तु स्पष्ट।

नेपथ्य : कोई स्वर नहीं है...कोई किरण नहीं है...सबकुछ...सबकुछ इस अन्धकूप में डूब गया है।...मुझे सुलझा लेने दो...सुलझा लेने दो...नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा!...कोई उपाय नहीं है...कोई मार्ग नहीं है...इन लहरों पर से...लहरों पर से...यह छाया हटा दो...मुझसे...मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती...।

नन्द बोलता है, तो नेपथ्य का स्वर अपेक्षया मन्द पड़ जाता है। स्पष्टता नन्द के स्वर में रहती है, परन्तु दोनों स्वर एक-दूसरे को काटते चलते हैं।

नन्द : *(बड़े दीपाधार के पास से झूले की ओर आती हुई छायाकृति : स्वर दबा-दबा स्वगत)*
कितनी लम्बी है यह रात, जैसे कि इसे बीतना ही न हो। बाऱ-बार लगता है यह स्वर रात पर पहरा दे रहा है...यही से बीतने नहीं देता।

नेपथ्य : स्वर नहीं है...कहीं कोई स्वर नहीं है...इस अन्धकूप में सबकुछ खो गया है...मेरा स्वर...पानी की लहरों का स्वर...सबकुछ एक आवर्त में घूम रहा है...एक चील...एक चील सबकुछ झपटकर लिए जा रही है...इसे रोको...इसे रोको...।

नन्द : *(झूले के पास से आगे के दीपाधार की ओर आती हुई आकृति)*
आधी रात से अब तक यह स्वर नहीं रुका। किस आदेश से इसे रोकूँ? सोचता था कि यह रुके, तो कुछ देर सोने का प्रयत्न करूँ।...अच्छा हुआ कि सुन्दरी तब तक थककर सो गई थी। वह जाग रही होती, तो जाने इस स्वर से उसे कैसा लगता!

नेपथ्य : मुझमें साहस नहीं है...किसी में साहस नहीं है...यह चील मुझे लिए जा रही है...जाने कहाँ...नहीं, चील नहीं है...एक छाया है...काले अँधेरे कूप में भटकती हुई छाया...अकेली...(कराहकर) मुझे इस कूप से निकालो...इस कूप में पानी नहीं है...इसका पानी कहाँ गया? इसका पानी कौन ले गया?...मुझे पानी दो, पानी...।

नेपथ्य में ही हल्का-सा अलका का स्वर : 'अभी देती हूँ पानी, अभी ला रही हूँ।'

चबूतरे पर सुदंरी—दूसरी छायाकृति—करवट बदलती है।

नन्द : *(धीमे क़दमों से चबूतरे की ओर जाती हुई छायाकृति : झुककर और सुन्दरी को देखकर)*

नहीं, नींद नहीं खुली। दिन-भर की थकान और उसके बाद की गहरी निराशा!...कितनी कठिनता से नींद आई थी इसे! अलका को सोचना चाहिए था...कि इस स्वर से किसी की नींद टूट भी सकती है।

नेपथ्य : *(पहले से कुछ ऊँचा स्वर)*

कोई नहीं देखेगा...मुझे यहाँ कोई नहीं देखेगा...इस अँधेरे में... इस अँधेरे में मुझे अकेला क्यों छोड़ दिया?...मैं इस अँधेरे में नहीं रहना चाहता...मैं अकेला नहीं रहना चाहता...मुझे एक किरण ला दो...एक किरण...(कुछ और ऊँचे स्वर में) कोई नहीं लाएगा...?...कोई एक भी किरण नहीं लाएगा?

सुन्दरी फिर करवट बदलती है। उसके मुँह से एकाध शब्द निकल पड़ता है : 'नहीं, अब और नहीं, बस।' सामने के गवाक्ष से प्रत्यूष की हल्की किरण अन्दर आती है।

नेपथ्य : लहरों में पानी नहीं...कहीं भी पानी नहीं है...।

नेपथ्य में अलका का स्वर : 'मैं पानी ले आई हूँ। थोड़ा-सा पानी पी लो।'

नेपथ्य : *(हाँफता-सा स्वर)*

पानी नहीं है...पानी कहाँ है?...कहाँ है पानी...?

नन्द दबे पैरों से दाईं ओर के द्वार के पास जाता है।

नन्द : *(पहले से स्पष्ट आकृति)*

अलका!

नेपथ्य : *(पहले से शान्त स्वर)*

यह पानी...हाँ है...बस नहीं...प्यास नहीं...और प्यास नहीं...।

स्वर शान्त हो जाता है।

नन्द : अलका!

अलका दाईं ओर के द्वार से आती है। वस्त्र और भाव अस्त-व्यस्त।

अलका : कुमार!

नन्द : कक्ष में अँधेरा है। दीपक जलाने के लिए अग्निकाष्ठ ला दो।

अलका वापस चली जाती है। नन्द चबूतरे के पास जाकर सुन्दरी के बालों को सहला देता है। अलका अग्निकाष्ठ लेकर आती है। नन्द पास आकर अग्निकाष्ठ के लिए हाथ बढ़ा देता है।

नन्द : लाओ, मुझे दो।

अलका : मैं जला देती हूँ।

नन्द : नहीं, मुझे दे दो।

अग्निकाष्ठ उसके हाथ से ले लेता है।

लगता है श्यामांग रात-भर अर्द्धमूर्च्छित रहा है।

अलका : *(आँखें झुकाए हुए)*

हाँ कुमार!...इसका अर्थ है कि आप भी रात-भर...।

नन्द : मुझे नींद नहीं आई।...जाओ, उसे देखभाल की आवश्यकता होगी।

अलका : प्रलाप रुक गया है। लगता है नींद आ गई है। देवी सुन्दरी...।

नन्द : उसे नींद आ गई थी। जाओ, श्यामांग को फिर भी तुम्हारी आवश्यकता पड़ सकती है।

अलका चली जाती है। नन्द पीछे के दीपाधार के कुछ एक दीपक जला देता है। फिर अग्निकाष्ठ बुझाकर दीपाधार के नीचे रख देता है।

उजाला हो जाने से कक्ष की धुँधली रेखाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। चबूतरे पर बिछावन अस्त-व्यस्त है, तकिए अपने स्थानों से हटकर इधर-उधर पड़े हैं। चबूतरे पर और आसपास कुछ फूल और पुष्पमालाएँ बिखरी हैं। मत्स्याकार आसन पर एक तकिया तिरछा पड़ा है। मदिराकोष्ट पर मदिरापात्र औंधा पड़ा है। जिससे एक-एक बूँद मदिरा अब भी पटक रही है। दो-एक चषक श्रृंगारकोष्ठ और चबूतरे पर पड़े हैं। साधारणतया

कक्ष का रूप आवेशजनित अस्त-व्यस्तता की गवाही देता है। सुन्दरी आँखें खोलती है और हल्की-सी अँगड़ाई लेकर तकिए से सिर उठाती है।

सुन्दरी : अभी प्रभात नहीं हुआ?

नन्द : अभी नहीं। तुम उठ क्यों गई? कुछ देर और सो रहो।

सुन्दरी एक तकिए से टेक लगाकर दो-एक तकिए गोद में रख लेती है।

सुन्दरी : ये दीपक रात-भर जलते रहे? बुझे नहीं?

नन्द : बुझ गए थे। मैंने अभी फिर जलाए हैं।

सुन्दरी : आपने जलाए हैं? क्यों दास-दासियाँ...।

नन्द : मैं नहीं चाहता था कि दास-दासियों में से कोई आकर तुम्हारी नींद में बाधा डाले।

सुन्दरी : आप सोए नहीं?

नन्द : सोने की चेष्टा की थी पर नींद नहीं आई।

आकर पास बैठ जाता है।

सुन्दरी : क्यों?

मेरे प्रति मन में बहुत क्रोध था?

नन्द : तुम्हारे प्रति क्रोध? मेरे मन में? ऐसा तुम सोच सकती हो?

सुन्दरी : *(आँखें मूँदे हुए)*

कभी-कभी चाहती हूँ कि सोच सकूँ।

आँखें खोल लेती है और सीधी बैठ जाती है।

सच, आप कभी मुझ पर क्रोध नहीं करते? इतनी बार, इतनी तरह के कारण होते हैं, फिर भी...?

नन्द ख़ाली चषक को उठाकर देखता है और चबूतरे से उठ पड़ता है।

नन्द : सोचता हूँ यह सब सहेज देना ठीक होगा। दास-दासियाँ आकर सबकुछ इस तरह पड़ा हुआ देखेंगी, तो...।

सुन्दरी भी चबूतरे से उठ पड़ती है।

सुन्दरी : तो क्या होगा? हमारे अंतरंग जीवन को लेकर उन्हें कुछ भी सोचने का अधिकार नहीं है।

नन्द शृंगारकोष्ठ से भी चषक उठा लेता है और दोनों को ले जाकर मदिराकोष्ठ में रख देता है। औंधे मदिरापात्र से टपकती हुई बूँदों को पल-भर देखता रहता है, फिर उसे

सीधा कर देता है। सुन्दरी कुछ-एक बिखरी हुई मालाओं को उठाकर चबूतरे पर रखती है।

नन्द : कहने का अधिकार न हो, पर सोचने का अधिकार तो किसी को भी रहता ही है।

सुन्दरी : यह मदिरापात्र औंधा कैसे हो गया?

नन्द : न जाने कैसे। हो सकता है पुष्पमालाओं की एकाध चोट यह भी खा गया हो।

मत्स्याकार आसन से तकिया उठाकर चबूतरे की ओर ले आता है।

सुन्दरी : *(उसके पास जाकर)*
मुझे सचमुच बहुत खेद है।

नन्द सलवटें निकालकर तकिया चबूतरे पर रख देता है।

नन्द : किस बात के लिए?

सुन्दरी : रात के अपने व्यवहार के लिए।

नन्द : तुम व्यर्थ ही मन में खेद ला रही हो। तुम उस समय विक्षुब्ध थीं। मैं तुम्हारी मनःस्थिति में होता, तो शायद मैं भी ऐसे ही करता।

सुन्दरी : आप ऐसे कभी न करते। मैं आपको जानती नहीं हूँ?

नन्द : जानती हो, तो यह सब किसलिए कह रही हो?

सुन्दरी : ऐसे ही। कहना अच्छा लगता है। कभी-कभी सोचती हूँ कि...।

नन्द : क्या सोचती हो?

सुन्दरी : कि आप कभी सचमुच मुझसे रुष्ट हो जाएँ, तो दो-एक रातें मेरे कक्ष में न आएँ, तो कैसा लगेगा?

नन्द : अच्छा लगेगा?

सुन्दरी : अच्छा नहीं लगेगा। फिर भी कभी-कभी चाहती हूँ कि...।

नेपथ्य में प्रभात की शंखध्वनि सुनाई देती है।

प्रभात की शंखध्वनि! आपने सारी रात बिना सोए ही काट दी?

नन्द : उससे क्या होता है? सोने के लिए इसके बाद और रातें क्या नहीं आएँगी?

सुन्दरी शृंगारकोष्ठ के पास जाकर पल-भर दर्पण के सामने खड़ी रहती है।

सुन्दरी : सोकर उठने पर अपना चेहरा कैसा लगता है?

नन्द : कैसा लगता है?

सुन्दरी : लगता है जैसे इसमें कान्ति हो ही नहीं। आपको नहीं लगता?

नन्द : न, मुझे नहीं लगता।

सुन्दरी : ये सब कहने की बातें हैं। आप थोड़ी देर के लिए बाहर चले जाइए। मैं अलका को बुलाकर अपना प्रसाधन कर लूँ।

पास आकर उसे सामने के द्वार की ओर भेज देना चाहती है।

जाइए आप।

जाइए न!

नन्द अपने अन्दर अनुभूति से संतुष्ट पल-भर आँख मूँदे रहता है। फिर सामने के द्वार से बाहर गवाक्ष के पास चला जाता है। और दोनों बाँहें गवाक्ष पर फैलाकर प्रत्यूष के हलके उजाले को देखने लगता है। सुन्दरी दर्पण के पास जाकर एक-एक करके अपनी पलकों को देखती है।

अलका!

दाईं ओर के द्वार से नीहारिका आती है।

नीहारिका : देवि

सुन्दरी : नीहारिका!...अलका कहाँ है?

नीहारिका : वह अभी-अभी बाहर गई है। जाते हुए मुझसे कह गई थी कि आपका कोई आदेश हो, तो मैं...।

सुन्दरी : परन्तु वह गई कहाँ है?

नीहारिका : कह रही थी कि कविराज के कक्ष में उनसे कुछ पूछने जा रही है। श्यामांग रात-भर...।

सुन्दरी : *(कुछ व्यंग्यपूर्ण स्वर में)*

ओह, श्यामांग! मैं भूल गई थी कि मैंने परिचर्या के लिए उसे पास के कक्ष में बुला लिया है।...मुझे शृंगार-प्रसाधन के लिए अलका की सहायता की आवश्यकता थी! तुझसे वह काम नहीं होगा, तू जा।

नीहारिका : आप आदेश दें, तो मैं जाकर...।

सुन्दरी : नहीं, अलका को उपचार करने दे, मैं अपना प्रसाधन स्वयं कर लूँगी।

नीहारिका सिर झुकाकर दाईं ओर के द्वार से चली जाती है। सुन्दरी अपने चेहरे को घुमा-फिराकर दर्पण में देखती है, फिर प्रसाधन-सामग्री को सहेजती हुई एक बार नन्द की ओर देख लेती है और मुस्कराकर वाल्मीकि की पंक्ति गुनगुनाने लगती है :

"स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
शोकेन मोहेन च पीडयमान...।"
(फिर नन्द की ओर देखकर) सुनिए!

नन्द गवाक्ष के पास से हटकर उसकी ओर आता है।

सुन्दरी : *(ध्यान से उसके चेहरे को देखती हुई)*
लगता है बाहर जाकर किसी का कुछ खो गया है...।

नन्द : मैं दूर जंगल के घने वृक्षों को देख रहा था।

सुन्दरी : क्यों? प्रभात होते ही फिर आखेट का उत्साह जाग आया?

नन्द : नहीं, उस मृग की बात सोच रहा था। सोच रहा था कि वहीं घने वृक्षों की ओट में पड़ा हुआ वह...।

सुन्दरी : यहाँ आइए।

नन्द : *(पास आता हुआ)*
वहाँ पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था! और न जाने क्यों इस समय प्रभात का फीका चाँद भी मुझे वैसा ही लगा...कोमल, अक्षत और निर्जीव!

सुन्दरी : *(अपने में व्यस्त)*
देखिए, अलका नहीं है, मुझे स्वयं अपना प्रसाधन करना होगा।

नन्द : लगा जैसे घने वृक्षों में सदा से वह इसी तरह अटका हो, इस आशा में कि कभी कोई उसे वहाँ पड़ा देख लेगा और बाँहों में उठाकर ले जाएगा...।

सुन्दरी : आपने सुना है मैंने क्या कहा है?

नन्द : *(अपने को सहेजकर)*
क्या कहा है?

सुन्दरी : कि अलका नहीं है, मुझे अपना प्रसाधन स्वयं करना होगा। इसलिए आप यहाँ मेरे पास ठहरिए।

नन्द : परन्तु अभी तुम्हीं ने कहा था कि...।

सुन्दरी : वह तब कहा था। अब कह रही हूँ कि यहाँ मेरे पास ठहरिए।

दर्पण में देखती हुई अपने बाल खोलने लगती है।

नन्द : और यदि थोड़ी देर में फिर कह दोगी कि...।

सुन्दरी होंठों पर उँगली रखकर उसे चुप रहने के लिए कहती है।

सुन्दरी : बाधा न डालिए।

नन्द मुस्कराकर आज्ञा-पालन की मुद्रा में सामने चबूतरे पर बैठ जाता है। सुन्दरी बाल खोलकर धीरे-धीरे उनमें तेल लगाती है।

एक बात कहूँ?

नन्द : कहो।

सुन्दरी : आपको माननी होगी।

नन्द : तुम्हारी बात मैंने कब नहीं मानी?

सुन्दरी : आपको वचन देना होगा, कि कल रात जो कुछ हुआ, उसे आप बिलकुल भूल जाएँगे।

नन्द : मुझे तो नहीं लगता कि कल रात ऐसा कुछ हुआ भी है।

सुन्दरी : आप उस विषय में सोचेंगे भी नहीं।

नन्द : यह तुम अपने से कहो जो अब भी उस विषय में सोच रही हो।

सुन्दरी : और कभी मुझे उसकी याद भी नहीं दिलाएँगे।

नन्द : मुझे याद रहेगी तो याद दिलाऊँगा।

सुन्दरी : और आज दिन-भर प्रसन्न रहेंगे।

नन्द : *(रुकते-से स्वर में)*

हाँ, प्रसन्न क्यों नहीं रहूँगा?

सुन्दरी : *(मुस्कराकर)*

प्रातः उठते ही मृग की बात सोचेंगे, तो कैसे प्रसन्न रहेंगे?

नन्द उठकर उसके पास आता है।

नन्द : एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुन्दरी हाथ रोककर उसकी ओर देखती है।

सुन्दरी : किस बात का?

नन्द : कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ...तुम्हारी सुन्दरता पर या तुम्हारी चातुरी पर।

सुन्दरी कृत्रिम रोष के साथ उठ खड़ी होती है।

सुन्दरी : आप मुझे चतुर कहते हैं?

नन्द : नहीं हो तुम?

सुन्दरी : *(जैसे बहुत भोलेपन से)*

नहीं तो।

ना-ना *(फिर जैसे व्यस्ततापूर्वक ढूँढ़ती हुई)*

चन्दन-लेप कहाँ है?...अलका ने न जाने...।

नन्द : चन्दन-लेप यहाँ है...।

झुककर नीचे से गिरी हुई कटोरी उठा लेता है और सुन्दरी की ओर बढ़ा देता है।

यह लो।

सुन्दरी कटोरी लेकर निराशा के भाव से रख देती है।

सुन्दरी : यह तो ख़ाली है। जो थोड़ा-बहुत लेप है, वह भी सूखा है।

नन्द : कल तुम्हीं ने तो...

सुन्दरी : *(आँखों में रोष लाकर)*
फिर कल की बात याद करते हैं?

नन्द : अच्छा, अब नहीं करूँगा।

सुन्दरी : पर, अब जो याद की...इसके लिए दंड भुगतना पड़ेगा।

नन्द : क्या दंड होगा?

सुन्दरी : *(जैसे सोचती हुई)*
दंड होगा...कि आपको...दर्पण लेकर...

आगे के दीपाधार की ओर संकेत करती है।

वहाँ खड़े होना होगा। यहाँ उजाला नहीं है, मैं अपने को ठीक से नहीं देख पा रही।

नन्द : बस इतना ही?

बढ़कर दर्पण हाथ में लेने लगता है। सुन्दरी उसका हाथ रोक देती है।

सुन्दरी : नहीं, इतना ही नहीं इसके अतिरिक्त आज दिन-भर कहीं जाना नहीं होगा, आखेट के लिए भी नहीं। यहाँ मेरे पास रहना होगा।

नन्द : सारा दिन?

सुन्दरी : आपत्ति करेंगे, तो दंड और बढ़ जाएगा।

नन्द : मैंने आपत्ति कहाँ की है?

सुन्दरी : तो लीजिए दर्पण।...नहीं, ठहरिए। *(चन्दन की कटोरी उठाकर)* यह लेप सूख गया है। विशेषक कैसे बनाऊँगी! इसे भिगो लाएँगे?

नन्द : क्यों नहीं भिगो लाऊँगा?

कटोरी उसके हाथ से ले लेता है।

आपत्ति करूँगा, तो...।

सुन्दरी : *(माथे पर बल डालकर)*
फिर वही बात...?

नन्द : अच्छा, यह भी नहीं कहूँगा।

दाईं ओर के द्वार से चला जाता है और पल-भर बाद कटोरी को तीली से हिलाता हुआ लौट आता है। सुन्दरी इस बीच दर्पण को आधार से उठाकर उसमें अपनी छाया देखती है।

नन्द : *(पास आकर)*
यह लो।

सुन्दरी : *(कटोरी लेकर रखती हुई)*
पता है लोग क्या कहते हैं?

नन्द : क्या कहते हैं?

सुन्दरी : कहते हैं, आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नन्द : इसमें झूठ क्या है?

सुन्दरी : झूठ नहीं है?

नन्द : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। *(स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ)* ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

सुन्दरी : नहीं होता? मानवी का रूप बहुत देखा?

दर्पण उसकी ओर बढ़ा देती है।

लीजिए!

नन्द दर्पण उसके हाथ से ले लेता है।

वहाँ जाकर खड़े हो जाइए।

नन्द आगे के दीपाधार के पास चला आता है।

इस तरह नहीं...

पास जाकर दर्पण उसके साथ सटा देती है।

इस तरह। (चन्दन की कटोरी हाथ में लेकर) अब मुझे विशेषक बनाने दीजिए...।

दर्पण में देखती हुई विशेषक बनाने के लिए हाथ माथे के पास ले जाती है। तभी दूर से भिक्षुओं और भिक्षुणियों का समवेत स्वर सुनाई देने लगता है। उसका हाथ पल-भर रुका रहता है। स्वर क्रमशः पास आता जाता है।

नेपथ्य : धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि...।

पृष्ठभूमि में यह स्वर निरन्तर चलता रहता है।

नन्द : *(सहसा अपने को सहेजकर)*
देखिए दर्पण हिल गया। आप कुछ देर स्थिर खड़े नहीं रह सकते?

उस स्वर से पैदा हुई नन्द की अस्थिरता उसके चेहरे और हाथों से प्रकट होती है।

नन्द : *(दर्पण को ठीक रखने का प्रयत्न करता हुआ)*
अब ठीक है।

सुन्दरी : नहीं।

नन्द : अब?

सुन्दरी : ऊँ-हूँ।

नन्द : *(प्रयत्नपूर्वक ध्यान सुन्दरी के चेहरे पर केंद्रित करके)*
अब?

सुन्दरी : अब कुछ ठीक है। देखिए, अब नहीं हिलिएगा...।

फिर विशेषक बनाने का प्रयत्न करती है। नन्द दर्पण को अपने से इतना सटा लेता है कि उसकी साँस से वह धुँधला जाता है। सुन्दरी हाथ रोककर रोषपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखती है।

रहने दीजिए।

जाकर चन्दन-लेप की कटोरी शृंगारकोष्ठ में रख देती है।

नन्द : क्यों, अब क्या हुआ? दर्पण हिला तो नहीं?

सुन्दरी : हिला नहीं, पर आपकी साँस से धुँधला गया है। आप जान-बूझकर...।

नन्द : *(धुँधले दर्पण को देखता हुआ)*
नहीं, मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया।

अपने उत्तरीय से दर्पण को पोंछ देता है।

लो, अब देखो।

सुन्दरी : आप दर्पण रख दीजिए। मुझे विशेषक नहीं बनाना है।

नन्द : क्यों?

सुन्दरी : मैंने कह दिया है, मुझे नहीं बनाना है।

शृंगारकोष्ठ के पास से हटकर चबूतरे की ओर चली जाती है। नन्द दर्पण की छाया उस पर डालने का प्रयत्न करता है।

नन्द : जब तक विशेषक नहीं बनाओगी, मैं तुम्हें दर्पण की छाया से बाहर नहीं जाने दूँगा।

सुन्दरी चबूतरे के पास से हटकर झूले की ओर चली जाती है। नन्द दर्पण की छाया उधर डालता है।

अब भी दर्पण की छाया तुम्हारे ऊपर है और तुम्हारी छाया दर्पण के अन्दर है।

सुन्दरी : आप दर्पण रख दीजिए। मुझे विशेषक नहीं बनाना है, नहीं बनाना है।

दर्पण की छाया से बचने के लिए झूले से उठकर पीछे के दीपाधार के पास से होती हुई चबूतरे के ऊपर आ जाती है। नन्द दर्पण ऊँचा उठाकर उस पर छाया डालने का प्रयत्न करता है। भिक्षुओं का समवेत स्वर बहुत पास आकर एकाएक रुक जाता है। स्वर के रुकते ही दर्पण नन्द के हाथ में सँभल न पाने से नीचे गिरकर टूट जाता है।

सुन्दरी : *(चौंककर)*

दर्पण टूट गया?

नन्द स्तब्ध-सा पहले सुन्दरी को, फिर टूटे हुए दर्पण को देखता है। सुन्दरी चबूतरे पर जहाँ-की-तहाँ बैठ जाती है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों का समवेत स्वर फिर आरम्भ हो जाता है और अब क्रमशः दूर होता जाता है।

नन्द : धम्मं शरणम् गच्छामि

संघं शरणम् गच्छामि

बुद्धं शरणम् गच्छामि...।

नन्द कुछ पल खोया-सा खड़ा रहता है, फिर बढ़कर सुन्दरी के पास आता है।

नन्द : मुझे खेद है सुन्दरी...!

समवेत स्वर क्रमशः मन्द पड़ता हुआ विलीन होने लगता है।

देखो, सुन्दरी...!

सुन्दरी जड़-सी उसकी ओर देखती है और चबूतरे से उठकर आगे के दीपाधार के पास आ जाती है।

(उसके पास आकर) सुन्दरी!

सुन्दरी : आप अपने कक्ष में चले जाइए। मैं कुछ देर एकांत में रहना चाहती हूँ।

नन्द पल-भर अस्थिर-सा खड़ा रहने के बाद सिर झुकाए चबूतरे पर चला जाता है। सुन्दरी एक बार उसकी ओर देखकर फिर सामने देखने लगती है।

सुन्दरी : आपसे कहा था मैं कुछ देर एकांत में रहना चाहती हूँ।

नन्द : परन्तु मुझे यहाँ से जाने का अधिकार नहीं है। मैं दिन-भर तुम्हारे पास रहने का वचन दे चुका हूँ।

सुन्दरी : वचन मुझे दिया था न? अब मेरी ओर से आप वचनमुक्त हैं।

नन्द : परन्तु मैं वचनमुक्त नहीं होना चाहता।

आकर टूटे हुए दर्पण को उठाता है और उसे देखता हुआ ले जाकर श्रृंगारकोष्ठ में आधार पर रख देता है। फिर लौटकर सुन्दरी के पास आता है।

सुनो।

सुंदरी न कुछ कहती है, न उसकी ओर देखती है।

जो टूटा है, वह तो काँच का दर्पण है। तुम कहा करती हो न कि तुम्हारा दर्पण...।

सुन्दरी : उस बात को जाने दीजिए।

नन्द : अच्छा, आओ, वहाँ चलकर बैठो।

उसे मत्स्याकार आसन की ओर ले जाना चाहता है।

सुन्दरी : मैं आपसे एक बात जानना चाहती हूँ।

नन्द : वहाँ आ जाओ, बैठकर बात करो।

उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए उसे मत्स्याकार आसन तक ले जाता है और कन्धों पर हाथ रखकर उसे बिठा देता है।

अब बताओ क्या जानना चाहती हो?

सुन्दरी : जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था, ...या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?

नन्द इस बीच श्रृंगारकोष्ठ के पास आकर चन्दन-लेप की कटोरी वहाँ से उठा लेता है और लेप को तीली से हिलाता हुआ सुन्दरी के पास लौट आता है।

नन्द : लाओ, मैं अपने हाथों से तुम्हारे माथे पर विशेषक बना देता हूँ।

सुन्दरी : आपने मेरी बात का उत्तर नहीं दिया।

नन्द उसके पास बैठ जाता है।

नन्द : यह तुम कैसे कहती हो कि मैं उस समय और कुछ सोच रहा था?

सुन्दरी : आप उनकी बात नहीं सोच रहे थे?

नन्द : किनकी?

सुन्दरी : जिन्होंने आज भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ली है।

नन्द : इसलिए कि भिक्षुओं की मंडली उस समय भवन के बाहर आकर रुकी थी?

सुन्दरी : और इसलिए भी कि ज्योंही भिक्षुओं का स्वर रुका, त्योंही...।

नन्द : मैं इतना ही कह सकता हूँ कि यह तुम्हारे मन का भ्रम है, और कुछ नहीं मैंने दर्पण अधिक ऊँचा उठा दिया था, इसलिए उसका संतुलन बना न रह सका...।

सुन्दरी : सच कह रहे हैं?

नन्द : तुमसे झूठ क्यों कहूँगा?

सुन्दरी एक बार खोजती-सी दृष्टि से उसकी ओर देखकर वहाँ से उठ पड़ती है।

सुन्दरी : *(आगे के दीपाधार की ओर आती हुई)*
आप उस समय यह नहीं सोच रहे थे कि भिक्षुओं की मंडली में शायद वे भी होंगी,...शायद आपसे भिक्षा लेने के लिए ही वे इस द्वार पर रुकी होंगी?

नन्द : मैं तो नहीं, पर लगता है तुम यह बात सोच रही थीं। इसीलिए तुम्हें लगा कि शायद मैं भी...

सुन्दरी : *(शृंगारकोष्ठ की ओर जाती हुई)*
आप मुझसे कहते हैं कि मैं यह बात सोच रही थी!...मुझे यही बात तो उस समय सोचनी थी!

शृंगारकोष्ठ के पास आकर टूटे हुए दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखती है।

जाने कैसा-सा लगता है...अपना टूटा हुआ प्रतिबिंब देखकर।

हल्की-सी सिहरन शरीर में दौड़ जाती है।

इधर आइए।

नन्द उठकर पास आता है।

इसमें मुझे देखिए।

नन्द : उसमें क्या देखूँ? बाहर जो देख रहा हूँ।

सुन्दरी : बाहर भी ऐसी ही अपरूप लगती हूँ।

नन्द : टूटे हुए दर्पण में अपने को देखते जाना बहुत अच्छा लग रहा है?

सुन्दरी : *(दर्पण से आँखें हटाकर)*
अच्छा लग रहा है? यह दो भागों में बँटा हुआ सीमंत, खंडित मस्तक, खंडित चेहरा, खंडित...

नन्द उसे आगे बोलने से रोक देता है।

नन्द : और नहीं।...यह अखंड रूप यदि तुम अपनी आँखों से देख पातीं...।

सुन्दरी पल-भर उसकी ओर देखती रहती है।

सुन्दरी : आप कह रहे थे अपने हाथों से मेरा प्रसाधन करेंगे?

नन्द : हाँ, तुम ऐसें ही रुकी रहो, मैं अभी... *(मत्स्याकार आसन की ओर जाता हुआ)* अभी क्षण-भर में तुम्हारे माथे पर मैं पूरा आकाश चित्रित कर दूँगा। *(मत्स्याकार आसन से चन्दन की कटोरी उठाकर वापस आता हुआ)* बीच में सूर्य और उसके दोनों ओर सोम और बृहस्पति...ऊपर और नीचे शेष चारों ग्रह तथा कर्णफूलों के पास राहु और केतु...।

सुन्दरी इस बीच शृंगारकोष्ठ से थोड़ा आगे आ जाती है।

सुन्दरी : आप मेरा प्रसाधन करेंगे?

नन्द : क्यों नहीं करूँगा?

सुन्दरी : अच्छा, तो पहले विशेषक बना दीजिए।

नन्द थोड़ा-सा लेप उँगली पर लेकर उसके माथे पर लगाने लगता है कि सहसा सामने का एक किवाड़ खटखटा उठता है।

नन्द : *(सहसा चौंककर)*
कोई आया है?

बाहर हवा का शब्द सुनाई देता है। बंद किवाड़ फिर धीरे-धीरे खुल जाता है।

सुन्दरी : हवा है।

नन्द : ऐसी हवा! ठहरो, मैं किवाड़ बन्द कर दूँ।

चन्दन-लेप मदिराकोष्ठ पर रखकर सामने के द्वार की ओर जाता है। हवा का तेज़ शब्द सुनाई देता है। द्वार के पास पहुँचता ही है कि दोनों किवाड़ सहसा बन्द हो जाते हैं। वह थोड़े प्रयत्न से उन्हें खोलता है। खोलते ही बाहर से ऐसा शब्द सुनाई देता है जैसे कई कबूतर एक-साथ गुटर-गूँ-गुटर-गूँ कर रहे हों। वह धीरे से किवाड़ बन्द कर देता है।

(किवाड़ बन्द करते हुए) एकाएक ऐसी हवा चलने लगी?

सुन्दरी : *(उसकी ओर जाती हुई)*

हवा भी किसी से पूछकर चलती है क्या?

नन्द : तुमने सुना, किवाड़ खोलते ही कैसा स्वर सुनाई दिया?

सुन्दरी : हवा से डरे हुए कबूतर हैं। पहले नहीं बोलते थे क्या?

नन्द : ऐसा नहीं। वह स्वर बहुत असाधारण-सा था।

ठहरो...फिर से सुनो...।

फिर किवाड़ खोलता है। इस बार किवाड़ सहज ढंग से खुल जाते हैं बाहर का हवा का शब्द अपेक्षाकृत हल्का सुनाई देता है। कबूतरों का स्वर भी अपेक्षया हल्का पड़ गया है। लगता है दूर एक खुटकबढ़ैया लगातार लकड़ी पर चोंच से प्रहार कर रही हो। नन्द किवाड़ फिर बन्द कर देता है। सुन्दरी उसके पास से हटकर शृंगारकोष्ठ की ओर आती है।

सुन्दरी : आपका मन इतना कच्चा है, यह मैं नहीं जानती थी।

वह अभी शृंगारकोष्ठ तक पहुँच भी नहीं पाती कि दाईं ओर के द्वार से अलका घबराई हुई-सी आती है।

अलका : देवि!...कुमार!

सुन्दरी : *(सहसा रुककर)*

क्या बात है अलका?...क्या हुआ है?...श्यामांग ठीक तो है न?

अलका : *(हाँफती हुई)*

वह...वह! अभी सो रहा होगा। मैं आपसे...आपसे एक और बात कहने आई थी...।

सुन्दरी : *(शृंगारकोष्ठ की ओर बढ़ती हुई)*

कोई ऐसी बात है जो इसी समय कहनी आवश्यक थी?

अलका : हाँ, देवि!...अभी-अभी मैं बाहर से आ रही थी,...तो देखा...देखा कि आँगन के द्वार पर एक भिक्षुमूर्ति भिक्षा लेने के लिए खड़ी है।...दो बार उसने भिक्षा की याचना की, फिर सहसा लौट पड़ी।...तभी मैंने उसे आलोक में देखा।...देखा कि वे स्वयं...स्वयं गौतम बुद्ध हैं...। मैं उसी समय...सूचना देने के लिए...यहाँ चली आई...।

पल-भर निस्तब्धता रहती है। तीनों में से कोई बात नहीं करता। नन्द सिर झुकाए, बाँहें लपेटे चबूतरे की ओर आता है।

नन्द : *(अलका से)*
तुमने ठीक देखा है कि स्वयं भाई..कि स्वयं गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए आए थे?

अलका : किसी को पहचानने में भूल कर सकती हूँ, पर उन्हें पहचानने में मैं कभी भूल नहीं कर सकती। दो बार याचना करने पर भी जब कोई उनके पात्र में भिक्षा डालने नहीं आया, तो आँखें उठाकर पल-भर वे गवाक्ष की ओर देखते रहे। फिर सहसा लौट पड़े...।

सुन्दरी : तू जा अलका! अच्छा किया जो आकर तूने सूचना दे दी।

अलका : आप कहें, तो मैं जाकर...।

सुन्दरी : तू अपने कक्ष में जा और कुछ देर विश्राम कर। मैंने सुना है तू रात-भर सोई नहीं है।

अलका एक बार सुन्दरी की ओर, फिर नन्द की ओर देखती है और सिर झुकाकर चली जाती है। सुन्दरी पल-भर अपने स्थान पर रुकी रहती है, फिर मदिराकोष्ठ से चन्दन-लेप की कटोरी उठाकर नन्द के पास चली जाती है। नन्द खोई-खोई-सी आँखों से उसे देखता है।

नन्द : *(जैसे वह भूली हुई बात एकाएक याद हो आई हो)*
विशेषक...हाँ...*(कटोरी के लिए हाथ बढ़ाकर)* लाओ, दो मुझे।

सुन्दरी उसके बढ़े हुए हाथ के पास से कटोरी हटा लेती है।

सुन्दरी : नहीं, इस मन से नहीं।....पहले बताइए, क्या सोच रहे हैं?

नन्द : *(अव्यवस्थित भाव से)*
सोच...सोच कुछ नहीं रहा।...हाँ, सोच रहा था कि...

सुन्दरी : कि उन्हें कैसा लगा होगा? उन्होंने मन में क्या सोचा होगा?

नन्द : *(मदिराकोष्ठ की ओर आता हुआ)*
हाँ, यह भी और साथ यह भी कि...*(सुन्दरी की ओर देखकर)* तुम्हें यह नहीं लगता कि मुझे जाकर एक बार उनसे इस प्रमाद के लिए क्षमा-याचना करनी चाहिए?

सुन्दरी चन्दन-लेप की कटोरी लिए हुए शृंगारकोष्ठ के पास आ जाती है और उसे रखकर पल-भर सोचती-सी खड़ी रहती है।

सुन्दरी : ऐसा सोचते हैं, तो एक बार चले क्यों नहीं जाते?

नन्द : *(उसकी ओर जाता हुआ)*
सोचता हूँ कि जाना हो, तो...।

सुन्दरी : इसी समय जाना चाहिए, यही न? तो जाइए न! मुझे दिए हुए वचन के कारण विवशता का अनुभव करते हैं? वह विवशता नहीं रहेगी।

नन्द : परन्तु...।

सुन्दरी : मैं अपनी ओर से आपको वचनमुक्त कर रही हूँ।

नन्द : तुम मन से कह रही हो न, चला जाऊँ?

सुन्दरी : *(पल-भर उसे देखते रहने के बाद स्नेह, सहानुभूति और आशंका-मिश्रित स्वर से)*

मन से नहीं तो कैसे?

नन्द : *(उसके स्नेह से प्रभावित)*

मैं अधिक समय नहीं लूँगा। नदी-तट पर आने-जाने में जितना समय लगेगा, उसके अतिरिक्त घड़ी-भर समय और...।

सुन्दरी : *(चेष्टापूर्वक मुस्कराकर)*

मैं प्रतीक्षा करूँगी।

नन्द पल-भर पलकें मूँदे रहता है, फिर सहसा चलने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

नन्द : अच्छा...!

उसका पैर द्वार की ओर बढ़ता ही है कि :

सुन्दरी : रुकिए।

नन्द रुककर उसकी ओर देखता है। सुन्दरी चन्दनलेप की कटोरी लेकर उसके पास चली जाती है।

सुन्दरी : पूरा आकाश नहीं, पर एक ग्रह तो माथे पर अंकित कर ही दीजिए।

नन्द कटोरी से चन्दन लेकर उसके माथे पर एक बिन्दु अंकित कर देता है और हल्के-से उसकी ठोड़ी को छू देता है।

और जाने से पहले एक और वचन देते जाइए।...

नन्द प्रश्नात्मक दृष्टि से उसे देखता है।

...कि लौटकर स्वयं ही इस विशेषक को पूरा करेंगे। आपके लौटने तक मैं इस बिन्दु को सूखने नहीं दूँगी।

नन्द : परन्तु यह बिन्दु तो कुछ ही क्षणों में सूख जाएगा, और मुझे आने में...।

सुन्दरी : मैंने कहा हैं मैं आपके आने तक इसे सूखने नहीं दूँगी...पानी से भिगोकर गीला रखूँगी। आपके आने पर ही और सब प्रसाधन भी करूँगी, तभी अपने बाल भी बाँधूँगी।

नन्द विभोर भाव से सिर हिलाता है। अनमने ढंग से द्वार की ओर बढ़ता है। द्वार के पास पहुँचकर रुक जाता है और सुन्दरी की ओर देखता है। सुन्दरी पास जाकर हाथ के सहारे से उसे जाने के लिए प्रेरित करती है।

अब जाइए।

नन्द द्वार से बाहर जाकर भी एक बार मुड़कर उसकी ओर देख लेता है। फिर चला जाता है। सुन्दरी गवाक्ष के पास जा खड़ी होती है। गवाक्ष के बढ़ते हुए प्रकाश के आगे उसकी आकृति एक छायाकृति में बदलने लगती है। तभी श्यामांग के प्रलाप का हल्का-हल्का स्वर सुनाई देता है :

नेपथ्य : पानी...पानी नहीं है...लहरों में पानी नहीं है...एक किरण...कोई एक किरण ला दो...अँधेरा...यह घना गुमसुम अँधेरा...यह अँधेरा मुझसे नहीं सहा जाता...यह छाया...यह छाया मुझसे नहीं ओढ़ी जाती...यह छाया मेरे ऊपर से हटा दो...एक किरण...कोई एक किरण...

प्रकाश धीरे-धीरे मंद पड़ता है और सुन्दरी की छायाकृति अँधेरे में विलीन होने लगती है।

अंक : तीन

कक्ष में सबकुछ व्यवस्थित है। दीपाधारों के सब दीपक जल रहे हैं। फिर भी एक सूनेपन का आभास होता है। कक्ष में व्यक्ति कोई नहीं है। सामने का द्वार बन्द है। कुछ क्षण निःस्तब्धता। फिर उद्यान की ओर से सुन्दरी और अलका के स्वर सुनाई देते हैं :

नेपथ्य : *(सुन्दरी :)*
किसी ने भी नहीं देखा यह कब हुआ?
(अलका :)
नहीं, देवि!
(सुन्दरी :)
यह भी पता नहीं कि घटना किस दिन की है या रात की?
(अलका :)
ना! दिन-भर इधर आने का अवसर ही नहीं मिला।

सुन्दरी और अलका दाईं ओर के द्वार से आती हैं। सुन्दरी के बाल खुले हैं; वेश उसी तरह है जैसे दूसरे अंक के अंत में था। चेहरे के भाव में एक कठोरता है। आँखों से लगता है जैसे एक चुनौती से लड़ रही हो। अलका के चेहरे से थकान टपकती है परन्तु कर्तव्यवश वह अपनी थकान को ढके रहना चाहती है।

सुन्दरी : आँखों से देखकर भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा...कैसे सम्भव है कि एकाएक इस तरह...?

अलका : मैंने देखा, तो सोचा आँखों को कुछ हो गया है। जब विश्वास हुआ कि नहीं, आँखों का दोष नहीं, तो लगा कि इस अपराध की साझीदार मैं भी हूँ। पहले सोचा, आपको अभी सूचना न दूँ, पर फिर मुझसे रहा नहीं गया...।

सुन्दरी : सूचना न देने से वे लौट न आते।...परन्तु अलका...

जाकर मत्स्याकार आसन पर बैठ जाती है।

मैं अब भी नहीं सोच पा रही कि यह हुआ कैसे...राजहंस स्वयं उड़कर चले गए, इसमें भी विश्वास नहीं होता...और यह भी मन नहीं मानता कि किसी ने उन्हें...।

अलका पास जाकर चबूतरे के सहारे खड़ी हो जाती है।

अलका : ऐसा साहस किसी का नहीं हो सकता कि वह ताल से उन्हें चुरा ले जाता।

सुन्दरी : *(अंतर्मुख भाव से)*

यही तो सोच रही हूँ कि कौन ऐसा है जो इस तरह का दुःसाहस कर सकता।

अलका उस संकेत से कुछ अव्यवस्थित हो जाती है।

अलका : जिस एक व्यक्ति पर संदेह हो सकता था...वह तो सारी रात, सारा दिन उस कक्ष से बाहर नहीं गया। अधिकांश समय मैं स्वयं...।

सुन्दरी : नहीं, मुझे उस पर संदेह नहीं। श्यामांग उन्माद में भी ऐसी बात न सोच पाता।

अलका : तो आप किसके लिए सोचती हैं कि...।

सुन्दरी : किसी के लिए भी तो नहीं सोच पाती...परन्तु फिर यह भी विचार आता है कि राजहंस आहत थे...कम-से-कम एक उनमें अवश्य आहत था। कल कैसा क्रंदन उसका सुना था? क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण...क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?

अलका : संभव है आहत होना ही कारण रहा हो उनके उड़कर चले जाने का...।

सुन्दरी : होने को कुछ भी कारण हो सकता है। सम्भव है यही कारण रहा हो।

इधर-उधर देखती है जैसे उसे किसी चीज़ की आवश्यकता हो। अलका चबूतरे से एक तकिया उठाकर उसके पास ले आती है।

अलका : कुछ देर विश्राम नहीं करेंगी?

तकिया उसकी बाँह के नीचे रख देती है।

सुन्दरी : दिन-भर विश्राम के अतिरिक्त और किया ही क्या है?

अलका : यह यदि विश्राम था, तो...।

सुन्दरी : देख, मैं उस विषय की चर्चा फिर नहीं सुनना चाहती।

अलका : नहीं, मैं उस विषय की चर्चा नहीं कर रही।

शृंगारकोष्ठ के पास जाकर वहाँ से सुगन्धिजल की कटोरी उठा लाती है।

आप अनुमति दें, तो मैं...।

सुन्दरी : तू बार-बार क्यों अनुरोध करती है?

अलका : अनुरोध कहाँ कर रही हूँ? अनुरोध कर सकती, तो आपको दिन-भर बिना प्रसाधन रहने देती? बिना प्रसाधन के आपका रूप...।

सुन्दरी : *(कुछ तीखे स्वर में)*

मेरा यही रूप क्या स्वाभाविक नहीं है...मुझे किसी प्रसाधन की आवश्यकता नहीं।

अलका : क्षमा चाहती हूँ, मेरा यह अभिप्राय नहीं था।...और प्रसाधन के लिए तो मैं कह भी नहीं रही। इतना ही कह रही हूँ कि...।

सुन्दरी चिढ़कर वर्जना की दृष्टि से उसकी ओर देखती है, परन्तु उसे देखते ही चेहरे का भाव बदल जाता है।

सुन्दरी : तू स्वयं इतना थकी है, फिर भी क्यों ऐसा हठ कर रही है?

अलका : हठ नहीं कर रही, विनय से कह रही हूँ, सम्भव है कुमार को लौटकर आने में अभी और समय लगे। तब तक आप...।

सुन्दरी मत्स्याकार आसन से उठ खड़ी होती है।

सुन्दरी : *(आगे के दीपाधार की ओर आती हुई)*

मैंने कहा था, मैं इस विषय की चर्चा नहीं सुनना चाहती।

अलका अपराध भाव से आँखें झुकाए अपने स्थान पर खड़ी रहती है।

(सहसा अलका की ओर मुड़कर) तू समझती है कि मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूँ? *(आँखें उस ओर से हटाकर अंतर्मुख भाव से)* प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का विशेषक, यह बिंदु, सूख जाने न देती। परन्तु जितना समय इसे गीला रखना चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा। एक पहर, दो पहर, तीन पहर। हर बीतता हुआ क्षण मेरे प्रयत्न का उपहास उड़ाता था, फिर भी मैं अपने अन्दर के विरोध से लड़ती, मन के विद्रोह को किसी तरह समझाती रही। परन्तु एक क्षण आया जब वह

प्रयत्न मन से हार गया। मेरा गीला हाथ माथे तक जाकर लौट आया और मैंने उसे फिर गीला नहीं किया।

सहसा शृंगारकोष्ठ के पास जाकर वहाँ से एक कटोरी उठा लेती है।

(कटोरीवाला हाथ अलका की ओर बढ़ाकर) यह कटोरी है जिसमें मैंने पानी भरकर रखा था। कटोरी ख़ाली नहीं हुई थी, पर मैंने स्वयं इसे ख़ाली कर दिया।

कटोरी को एक झटके से फिर शृंगारकोष्ठ पर रख देती है।

अब मुझे प्रतीक्षा नहीं है अलका! मैं अपने स्वाभिमान को और नहीं छल सकती। *(लौटकर अलका की ओर आती हुई)* वे जब भी लौटकर आएँ, अपने घर में आएँगे, कोई उनसे कुछ कहेगा नहीं। और यदि आने में कोई बाधा है, तो...

अलका : *(बढ़कर उसकी ओर आती हुई)*
ऐसी बाधा की बात आप सोच सकती हैं?

सुन्दरी : मैंने कहा है अलका, मैं अपने स्वाभिमान को और नहीं छल सकती। नदी-तट तक जाने-आने में जितना समय लगता है, उसके अतिरिक्त घड़ी-भर समय और...यह उन्होंने कहा था। मैंने विश्वास से उन्हें भेजा था। चाहती, तो उस समय उन्हें रोक भी सकती थी। परन्तु रोकना मैंने नहीं चाहा...।

झूले के पास जाकर एक हाथ उस पर रख लेती है।

क्योंकि रोकना दुर्बलता होती। मन में कहीं यह साल बनी रहती कि मैंने उन्हें नहीं जाने दिया कि कहीं उसका अर्थ होता कि उन पर और अपने पर मुझे विश्वास नहीं था।

अलका सुगन्धिजल की कटोरी लिये हुए पास आ जाती है।

अलका : आप कुछ देर के लिए यहीं न बैठ जाएँगी?

सुन्दरी उसे देखती है और आत्मसमर्पण के भाव से झूले पर बैठ जाती है। अलका हल्के हाथों से उसके माथे पर सुगन्धिजल लगाने लगती है।

सुन्दरी : तेरा यह स्नेह और विश्वास।...कभी-कभी सोचती हूँ कि तू मेरी दासी क्यों है?...क्यों नहीं तू...।

अलका : मेरी बात मानेंगी?

सुन्दरी : तेरी बात मानती कब नहीं हूँ?

अलका : *(एक ओर से माथे के दूसरी ओर आती हुई)*
कुछ देर यहीं लेट रहें। नींद आने से मन स्वस्थ हो जाएगा। मैं तब तक किसी को भेजती हूँ कि जाकर देख आए...।

सुन्दरी : नहीं, अलका! किसी को कहीं भेजना नहीं है। भेजकर बुलाना होता, तो मैं बहुत पहले ही भेज देती। मैं कह चुकी हूँ कि उनके आने में यदि बाधा हो, तो...।

अलका : वे अवश्य आएँगे। आप तब तक कुछ देर सो रहें। न आने का एक कारण यह भी तो हो सकता है कि समय पर न आ पाने से उनका संकोच ही उन्हें रोके हो।...या आर्य मैत्रेय के साथ आखेट पर निकल गए हों!

सुन्दरी : *(अंतर्मुख भाव से)*
आखेट पर?...आर्य मैत्रेय के साथ?

गले से एक अस्पष्ट-सा स्वर निकल पड़ता है।

(उसके हाथ हटाती हुई) बस अब और नहीं।

अलका कटोरी लिए हुए उठकर शृंगारकोष्ठ की ओर जाती है और कटोरी रखकर वहाँ से रेशमी वस्त्र का एक टुकड़ा निकाल लाती है।

अलका : यह नहीं, तो भाई से विदा लेने में संकोच हो रहा होगा। और कोई कारण नहीं हो सकता।

उसका माथा वस्त्र से पोंछ देती है और लौटकर वस्त्र शृंगारकोष्ठ में नीचे रख देती है।

आप विश्राम कर लें। वे ज्यों ही लौटकर आएँगे, मैं आपको जगा दूँगी।

मत्स्याकार आसन से उठाकर तकिया झूले में लगा देती है।

अब लेट जाएँ।...कह रही हूँ कि कुछ देर के लिए लेट जाएँ।...
अभी कह रही थीं, आप मेरी बात मानती हैं।

सुन्दरी फिर आत्मसमर्पण के भाव से अपने को उसके हाथों में छोड़ देती है। अलका सहारा देकर उसे झूले में लिटा देती है और कुछ पल झूले को हिलाती रहती है। फिर एक बार झुककर उसे देख लेती है और झूले को हिलता छोड़कर दबे पैरों बाईं ओर के द्वार के पास आ जाती है।

(द्वार से बाहर देखती हुई दबे हुए स्वर में) नीहा! *(पल-भर के व्यवधान के बाद फिर)* नीहा!

नीहारिका जैसे सोई हुई उठकर आती है।

तू सो रही थी?

नीहारिका : नहीं, सो नहीं रही थी।

अलका होंठों पर उँगली रखकर उसे धीरे बोलने का संकेत करती है।

कल रात-भर जागते रहने से थोड़ा ऊँघ गई थी।

अलका : श्वेतांग लौटकर नहीं आया?

नीहारिका : मैंने उसे नहीं देखा। जाकर देखती हूँ।

अलका : वह लौट आया हो तो उससे कहना कि... *(पल-भर सोचकर)* कहना कि वह... *(एक बार झूले की ओर देख लेती है)*...कि वह यहीं आ जाए।

नीहारिका जाने लगती है।

और सुन।

नीहारिका रुककर उसकी ओर देखती है।

उससे कहना कि... *(झूले की ओर संकेत करके)* अभी इन्हें किसी तरह सुलाया है। आकर ऐसे स्वर में बात न करे कि नींद टूट जाए।

नीहारिका सिर हिलाकर चली जाती है। अलका एक बार दबे पैरों झूले के पास जाकर सुन्दरी को देख लेती है और उसे वस्त्र ओढ़ा देती है। फिर शृंगारकोष्ठ के पास जाकर वहाँ की सामग्री को सहेजती है। चन्दन-लेप की सूखी कटोरी उठाकर दाईं ओर से बाहर ले जाती है और पल-भर बाद भरी हुई कटोरी लिये हुए लौट आती है। उसे यथास्थान रख रही होती है कि उसी ओर से श्वेतांग आता है। अलका उसे धीरे बोलने का संकेत करती है और हल्के पैरों से उसके पास चली जाती है।

अलका : उनसे मिले?

श्वेतांग धीरे-से सिर हिलाता है।

श्वेतांग : नहीं।

अलका : उन्हें देखा भी नहीं?

श्वेतांग : ना। देखा भी नहीं।

अलका : वे वहाँ नहीं हैं?

श्वेतांग : वहाँ से कब के जा चुके हैं।

अलका : जा चुके हैं? अकेले?

श्वेतांग : हाँ, अकेले।

अलका : यह पता नहीं चला, किधर गए हैं?

श्वेतांग : ठीक से पता नहीं चला। इतना पता चला कि पहले बहुत देर तक वहाँ थे। जिस समय वहाँ पहुँचे तथागत इतने लोगों से घिरे हुए थे कि कितनी ही देर वे उनके सामने नहीं जा पाए। प्रतीक्षा करते हुए कितनी ही बार लौट आने के लिए अस्थिर हुए, पर लौटने का साहस नहीं कर सके...।

अलका शृंगारकोष्ठ में अपना छोड़ा हुआ काम पूरा करने लगती है। एक बार टूटे हुए दर्पण को आधार स्थान से उठाकर देखती है, फिर उसे वहीं रखकर वस्त्र-खंड से पोंछ देती है।

अलका : फिर?

श्वेतांग : *(उस थोड़े-से स्थान पर धीरे-धीरे टहलता हुआ)*
अंत में किसी तरह अवसर मिला, तो उन्होंने प्रणाम करके तथागत से अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा।

अलका : आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा?...और उन्होंने स्वीकार कर लिया?

श्वेतांग : नहीं। उन्होंने इसका उत्तर न देकर अपना भिक्षापात्र कुमार के हाथों में दे दिया।

अलका : *(स्तंभित-सी)*
उन्होंने अपना भिक्षापात्र कुमार के हाथों में दे दिया?

श्वेतांग : बतानेवालों ने मुझे यही बताया है, कुमार उस समय इतने अव्यवस्थित थे कि भिक्षापात्र हाथ में लिये हुए ही लौटकर यहाँ आने लगे।

सुन्दरी कुनमुनाकर झूले पर करवट बदलती है। अलका श्वेतांग को चुप रहने का संकेत करके झूले के पास चली जाती है और यह निश्चय करके कि वह सो रही है, धीरे-धीरे झूले को हिलाकर लौट आती है।

अलका : गौतम बुद्ध ने उन्हें रोका?

श्वेतांग : कहकर नहीं रोका। कुछ क्षण स्थिर दृष्टि से उन्हें देखते रहे, फिर उन्हें अपने पीछे आने के लिए कहकर विहार में चले गए।

अलका : कैसा अन्तर्द्वन्द्व रहा होगा कुमार के लिए।

श्वेतांग : न चाहते हुए भी कुमार को उनके पीछे जाना पड़ा। सुना है वहाँ जाकर तथागत ने उन्हें उपदेश दिया और भिक्षु आनन्द से उन्हें दीक्षित करने के लिए कहा...।

अलका : *(स्तब्ध होकर)*
उन्हें दीक्षित करने के लिए कहा?

श्वेतांग : हाँ। कुमार के विरोध करते रहने पर भी उनके केश काट दिए गए। परन्तु कुमार उसी समय उठकर वहाँ से चले आए। उनकी आँखों में उस समय आँसू थे—जाने केश कट जाने के कारण या अपने मन की बात न कह पाने के कारण...।

अलका : और उसके बाद?

श्वेतांग : जब वे वहाँ से चले, बहुत विक्षुब्ध थे। लगता था जैसे किसी से जूझना चाहते हों और जूझ न पाए हों। जिन लोगों ने उन्हें उस स्थिति में देखा, उन्हें डर भी लगा और सहानुभूति भी हुई। ऐसा भाव था उनका कि यदि स्वयं गौतम बुद्ध उस समय उनके सामने आकर कुछ कहते, तो शायद वे उनसे भी...।

अलका : परन्तु उसके बाद वे गए कहाँ?

श्वेतांग : यही पता नहीं चला। लोगों का कहना है कि उसके बाद उन्हें घने जंगल की ओर जाते देखा गया था।

अलका : घने जंगल की ओर? परन्तु शस्त्रास्त्र तो उनके पास नहीं थे।

श्वेतांग : इसीलिए विश्वास नहीं होता। निहत्थे वे जंगली पशुओं के बीच क्यों गए होंगे, यह समझ में नहीं आता। यहाँ भी लौटकर नहीं आए, इसलिए संदेह होता है कि कहीं...।

अलका उसे बीच में ही रोक देती है।

अलका : अमंगल की बात मत सोचो।...जंगली पशुओं के बीच निहत्थे जाकर भी कुमार का अनिष्ट नहीं होगा। उस विक्षुब्ध मनःस्थिति में उन्होंने यहाँ लौटकर आना नहीं चाहा होगा, इसीलिए शायद कहीं और चले गए हों...।

श्वेतांग : सम्भव है ऐसा ही हो। मैंने एक बार सोचा कि आर्य मैत्रेय को साथ लेकर उन्हें ढूँढ़ने जाऊँ, परन्तु...।

अलका प्रश्न दृष्टि से उसकी ओर देखती है।

अलका : परन्तु क्या?

श्वेतांग : सुना है आर्य मैत्रेय आज दीक्षित हो गए हैं।

अलका : *(जैसे विश्वास न हो)*
आर्य मैत्रेय भी?

श्वेतांग : हाँ, वे भी।...अब यदि देवि से आदेश प्राप्त हो तो मैं कुछ सैनिकों को साथ लेकर...।

अलका : नहीं। उन्हें अभी बताना ठीक नहीं। उन्हें यह सब पता चलेगा, तो वे...।

श्वेतांग : परन्तु न बताना भी तो अहितकर हो सकता है। तुम सोचो यदि सचमुच कुमार किसी संकट में हों, और हम लोग इस समय कुछ न कर पाएँ...।

अलका : ठहरो, सोचने दो।...लगता है तुम्हारा कहना ही ठीक है। मन विश्वास नहीं करना चाहता कि कुमार का कुछ अनिष्ट हो सकता है, परन्तु...घने जंगल में...रात के समय...कुछ भी तो असम्भव नहीं है। अच्छा...तुम बाहर ठहरो...मैं अभी उन्हें जगा देती हूँ।

श्वेतांग एक उदास नज़र कक्ष पर डालकर दाईं ओर के द्वार से बाहर चला जाता है। अलका झूले के पास जाकर पल-भर सुन्दरी को देखती खड़ी रहती है।

(धीरे से) देवि! *(थोड़ा झुककर)* देवि!

सामने का एक किवाड़ खुलने लगता है और नन्द के शब्द सुनाई देते हैं :

नन्द : उसे जगाओ नहीं, सोई रहने दो।

अलका चौंककर पीछे देखती है। नन्द किवाड़ खोलकर अन्दर आता है। अलका सहसा उत्साहित हो उठती है।

अलका : कुमार!

परन्तु अगले ही क्षण उत्साह की रेखाएँ उसके चेहरे से मिट जाती हैं। नन्द का वेश वही है जो जाने से पहले था, परन्तु सिर मुँडा हुआ है और शरीर क्षत-विक्षत।

आप...आ...आप!

नन्द : तुम जाओ; उसे सोई रहने दो।

अलका : पर...पर...परन्तु...मैंने उनसे कहा था कि...आपके लौटकर आते ही...आते ही...मैं उन्हें जगा दूँगी।

नन्द : पर मैंने कहा है कि उसे जगाना नहीं है। तुम जाओ, एक अभ्यागत मेरे साथ हैं।

अलका आदेश-पालन के रूप में सिर झुकाती है और दाईं ओर के द्वार की ओर चल देती है।

(पीछे के बन्द किवाड़ की ओर देखकर)

आ जाओ भिक्षु!

अलका जाते-जाते एक बार उस ओर देख लेती है। सामने का दूसरा किवाड़ खोलकर भिक्षु आनन्द अन्दर आता है। अलका द्वार के पास रुककर फिर एक बार जैसे विश्वास करने के लिए देख लेती है और बाहर चली जाती है।

कुशासन मँगवा दूँ।

भिक्षु आनन्द : नहीं, उसकी आवश्यकता नहीं।

नन्द : *(दिखाता हुआ)*

यह है मेरा घर, मेरी पत्नी का कक्ष; और यह है मेरी पत्नी।

भिक्षु आनन्द : देख रहा हूँ घर सुन्दर है, कक्ष बहुत ही सुन्दर है।

नन्द : हाँ, सुन्दरी को तो तुमने देखा नहीं। भिक्षु हो इसलिए देखोगे भी नहीं। सम्भवतः तुम्हारी दृष्टि से उसका यहाँ होना यथार्थ नहीं, केवल एक भ्रांति है।

दोनों बात करते हुए कुछ आगे जाते हैं।

परन्तु उस तरह मैं एक भ्रांति नहीं हूँ? तुम एक भ्रांति नहीं हो? तुम्हारा कहा हुआ हर वाक्य एक भ्रांति नहीं है?

भिक्षु आनन्द : दूसरों को इस सत्य तक पहुँचने में बहुत समय लगता है। मुझे प्रसन्नता है तुमने शीघ्र इसे ग्रहण कर लिया है।

नन्द : *(आवेगपूर्वक)*

ग्रहण कर लिया है?...यह कहकर तुम्हारे मन को संतोष मिलता हो, तो मैं तुम्हें उससे वंचित करना नहीं चाहूँगा।

भिक्षु आनन्द : तुम इस समय बहुत उद्विग्न हो। वन में व्याघ्र के साथ हुए द्वन्द्व में...।

नन्द : जानता हूँ तुम सारा समय छाया की तरह मेरे साथ रहे हो...व्याघ्र के साथ हुए द्वन्द्व में मैं विक्षत हुआ...।

भिक्षु आनन्द : अपने मन के संतोष के लिए ही न? जो कि तुम समझते हो झूठा संतोष नहीं!...छाया की तरह तुम्हारे साथ-साथ रहा हूँ क्योंकि तथागत का यह आदेश था कि...।

नन्द : तथागत के आदेश के विषय में अब और नहीं सुनना चाहता। तथागत के आदेश से तुमने मेरे केश काट दिए। बड़े भाई के

सम्मान के कारण मैं उन क्षणों के लिए विमूढ़-सा हो रहा, बलपूर्वक विरोध नहीं कर सका। परन्तु उसके बाद में अपना उत्तर उन्हें दे आया था।

भिक्षु आनन्द : *(आगे के दीपाधार के पास जाकर)*
उत्तर दे नहीं आए थे, अब तक दे रहे हो।...जो कुछ तुमने उनसे कहा, वह तुम्हारे उत्तर का एक अंश था। दूसरा अंश था तुम्हारा यहाँ न आकर जंगल में चले जाना और व्याघ्र से युद्ध करना। तीसरा अंश है...।

नन्द : इस तरह तो यह उत्तर तब तक पूरा नहीं होगा...

भिक्षु आनन्द : जब तक कि अन्तर की व्याकुलता शान्त नहीं हो जाती।

नन्द : *(व्यंग्यपूर्वक हँसकर)*
और वह शान्त होगी, तुमसे दीक्षा लेने से!

भिक्षु आनन्द : नहीं, दीक्षा लेने से वह शान्त न होगी।

नन्द टहलता हुआ शृंगारकोष्ठ के पास चला जाता है। वहाँ की व्यवस्था को देखकर थोड़ा चौंकता है, फिर भिक्षु आनन्द की ओर लौट आता है।

नन्द : तो?...तो कैसे शान्त होगी वह?

भिक्षु आनन्द : यह प्रश्न तुम मुझसे नहीं, अपने से पूछ रहे हो।

नन्द : *(सहसा रुककर)* और नहीं भिक्षु!...यह बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा। स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्यसत्य और अमृत—मैं जानता हूँ वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कहे देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है।

भिक्षु आनन्द : निःसंदेह नहीं है। तुम अपने लिए अपनी दिशा खोज रहे हो, यह व्याकुलता ही वास्तविक आरम्भ है। तुम यह जानते हो, इसीलिए अपनी व्याकुलता से इतना नहीं लड़ रहे।

नन्द : बातें अब रहने दो भिक्षु! तुम घर देखना चाहते थे, घर तुमने देख लिया है। *(दाएँ और बाएँ संकेत करके)* उधर मेरा कक्ष है, इधर उद्यान है...।

भिक्षु आनन्द : मैं घर देखने आया था...घर...कक्ष और उद्यान नहीं।...अब मुझे चलना चाहिए।

पल-भर स्थिर दृष्टि से नन्द को देखता रहता है, फिर सामने के द्वार की ओर चल देता है।

अच्छा...।

नन्द पल-भर अपने स्थान पर रुका रहता है, फिर उस द्वार की ओर बढ़ता है।

नन्द : ठहरो, भिक्षु!

भिक्षु आनन्द रुककर प्रश्नदृष्टि से उसकी ओर देखता है।

जाने से पहले तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।

भिक्षु आनन्द : मुझसे? परन्तु जो व्यक्ति तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता है, वह मैं नहीं हूँ। उत्तर किसी भी प्रश्न का तुम्हें केवल एक ही व्यक्ति से मिल सकता है और उस व्यक्ति का नाम है... नन्द।

नन्द : तो जाओ, भिक्षु!...मैं फिर से वही खेल खेलने के लिए तुम्हें नहीं रोकना चाहूँगा।

उसकी ओर से मुँह फेरकर आगे के दीपाधार के पास आ जाता है। भिक्षु आनन्द बाहर से मुड़कर एक बार उसकी ओर देख लेता है।

भिक्षु आनन्द : मुझे रोकने का तो प्रश्न ही नहीं है, नन्द!...जिसे तुमने रोक रखा है। वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।

बाहर चला जाता है। नन्द जब तक मुड़कर उस ओर देखता है, तब तक वह जा चुकता है। नन्द जैसे उसे सुनाने के लिए कुछ क़दम द्वार की ओर जाता है।

नन्द : बातों को उलझाते क्यों हो, भिक्षु? कौन है वह दूसरा व्यक्ति? कौन है वह जिसे मैंने रोक रखा है?

भिक्षु तब तक जा चुका है। नन्द गवाक्ष तक जाकर लौट आता है।

जानता हूँ तुम्हारा क्या उत्तर होता। रुकते, तो तुम इतना ही कहते, तुम उस व्यक्ति को नहीं जानते नन्द? मुझे आश्चर्य है! परन्तु तुम्हारी मुस्कराती हुई भौंहें कहतीं कि तुम्हें आश्चर्य नहीं है; आश्चर्य की बात केवल व्यंग्य है, उपहास है।

बढ़कर मदिराकोष्ठ के पास आता है, मदिरापात्र को उठाकर देखता है और रख देता है।

(पीछे द्वार की ओर देखकर) नहीं, आज मदिरा नहीं लूँगा; भिक्षु! तुम्हारी मुस्कराती हुई आँखें जिससे यह न कह सकें, "स्मृति से इतना डर क्यों लगता है, नन्द? अपनी स्मृति को मदिरा की विस्मृति में डुबो देना क्यों चाहते हो?" *(मदिराकोष्ठ से आगे आता हुआ)* यद्यपि इसका उत्तर मैं तुम्हें दे सकता था। कह सकता था कि स्मृति से बचने के लिए तुमने जो स्वाँग रचा है, वह स्वाँग मैंने नहीं रचा, इसलिए।

लौटकर झूले के पास चला जाता है और पल-भर स्निग्ध दृष्टि से देखता रहता है।

अच्छा है तुम सो रही हो। जाग रही होतीं, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर शायद मैं न दे पाता।

उसके पास से हटकर टहलता हुआ पीछे दीपाधार की ओर जाता है।

मैंने कहा था तुम्हारा विशेषक सूखने से पहले ही मैं लौट आऊँगा, परन्तु नहीं आ सका। तुम पूछतीं, क्यों, तो मैं क्या उत्तर देता? क्या कहता कि तथागत के पास से उठ आने के बाद क्यों मन में कल के मरे हुए मृग को देखने की कामना इतनी प्रबल हो आई थी कि किसी भी तरह अपने को वहाँ जाने से रोक नहीं सका? कैसे बताता कि मृग के स्थान पर एक नोच खाई ठठरी को देखकर मुझे कैसा लगा? और कि फिर क्यों मैं अचानक उस गुरगुराकर सामने से आते व्याघ्र से उलझ पड़ा? जानता था कि यह प्रवृत्ति आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक नहीं सका? क्यों मैंने जान-बूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया? क्षत-विक्षत हम दोनों हुए...पलायन भी एक तरह से दोनों ने ही किया...। क्यों? आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों? और उस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की हो खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?

उस दीपाधार के पास से हटकर आगे के दीपाधार की ओर आता है।

या यह केवल मन का विद्रोह था...बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि उस समय मैं

इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्त्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि 'यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।'

दीपाधार के पास से टहलता हुआ शृंगारकोष्ठ की ओर जाता है।

इतना समझ में आता है कि जिए जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं। सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पाँव का एक स्पन्दन-मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूँद की एक अकुलाहट...परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है?...आकाश में कहीं लटकते हुए नीले-काले बिंदु—कोरे सिद्धातों के—वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?

टूटे हुए दर्पण के सामने रुककर कुछ क्षण अपना प्रतिबिंब उसमें देखता रहता है।

उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो आता? कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुतः किसे है; उन्हें या मुझे? *(दर्पण के पास से हटकर)* उन्होंने कहा, 'मैं मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है...सब किसी उँगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्न नहीं है।'...पर मैं पूछता हूँ कि जब होने-न-होने में कोई अंतर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए? *(टहलकर फिर से झूले और पीछे के दीपाधार की ओर जाता हुआ)* कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है! कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएँगे? *(झूले के पास रुककर)* अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जातीं। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है।

इस बीच कई-एक दीपक बुझ चुके हैं और कक्ष का प्रकाश पहले से मन्द पड़ गया है।

तुम्हारा विशेषक जो सूख गया, उसका मुझे खेद है। उसे मैं अभी गीला कर देता हूँ।

शृंगारकोष्ठ के पास जाकर वहाँ से चन्दन-लेप की कटोरी उठा लाता है। उँगली पर थोड़ा-सा लेप लेकर उससे सुन्दरी के माथे पर हल्का-सा बिन्दु बनाने लगता है। सुन्दरी हड़बड़ाकर जाग जाती है। अपने पर झुकी हुई मुंडित आकृति को देखकर उसके मुँह से चीख़ निकल जाती है और वह आँखों पर हाथ रख लेती है। दाईं ओर से अलका, नीहारिका और श्वेतांग घबराए हुए आते हैं। नन्द अव्यवस्थित होकर सहसा पीछे के दीपाधार की ओर हट जाता है।

अलका : क्या बात है, देवि? क्या हुआ है?...कोई भयानक सपना देखा है?

सुन्दरी : *(आँखों पर हाथ रखे हुए अलका के शरीर को छूकर)* यह तू... तू है अलका?

आँखों पर हाथ रखे रहती है और जैसे विश्वास कर लेना चाहती है कि पास खड़े सब लोग उसके परिजन ही हैं। नन्द कुछ सोचता-सा शृंगारकोष्ठ की ओर जाता है और चन्दन-लेप की कटोरी वहाँ रखकर और एक नज़र सुन्दरी पर डालकर दाईं ओर के द्वार से चला जाता है।

और कौन-कौन लोग हैं?

अलका : नीहारिका है और श्वेतांग है। ठहरिए, मैं आपके लिए पानी ले आऊँ।

नीहारिका : मैं लेकर आती हूँ।

दाईं ओर के द्वार से चली जाती है।

अलका : तुम श्वेतांग, कुमार के कक्ष में जाकर स्नान के लिए पानी और बदलने के लिए दूसरे वस्त्र निकालकर उन्हें दो।

सुन्दरी धीरे-धीरे आँखों से हाथ हटाती है। श्वेतांग दाईं ओर के द्वार से चला जाता है।

सुन्दरी : तू क्या कह रही थी अलका...कुमार के कक्ष में स्नान के लिए पानी... और बदलने के लिए वस्त्र... *(झूले से उठती हुई)* वे लौट आए हैं?

अलका : *(पल-भर के असमंजस के बाद)*
हाँ, देवि!...कुछ देर पहले लौट आए हैं।

सुन्दरी : और तूने मुझे जगाया नहीं?...तूने कहा था कि उनके आते ही...।

अलका : कुमार ने आपको सोए हुए देखा, तो...तो जगाने से मना कर दिया। मैंने सोचा कि वे...वे आदेश दे रहे हैं, इसलिए...।

सुन्दरी : कहाँ हैं वे? अपने कक्ष में?

अलका : हाँ...अपने कक्ष में ही हैं।...थके हुए थे, इसलिए श्वेतांग से कहा है, उनके स्नान इत्यादि की व्यवस्था करे।

सुन्दरी बढ़कर चबूतरे के पास आ जाती है।

सुन्दरी : वे लौट आए हैं?...फिर ऐसा...ऐसा भयानक सपना मैंने क्यों देखा?

अलका : सोते समय आपका मन स्वस्थ नहीं था...और फिर आप तो सपनों में विश्वास नहीं करतीं...।

सुन्दरी : *(अपने को सहेजने का प्रयत्न करती हुई)*
विश्वास मैं नहीं करती...फिर भी सोचती हूँ कैसा सपना था वह।

नीहारिका जलपात्र में पानी लिए हुए आती है।

नीहारिका : पानी ले लीजिए, देवि!

सुंदरी : नहीं, मुझे पानी की आवश्यकता नहीं।

नीहारिका अलका की ओर देखती है और जलपात्र लिए हुए लौट जाती है।

अलका : आप सपने की बात कह रही थीं।

सुन्दरी : मैंने देखा कि...परन्तु अलका, लगता है जैसे वह सपना न हो, जो कुछ मैंने देखा है, खुली आँखों से ही देखा हो।

अलका : क्या देखा आपने?

सुन्दरी : *(चबूतरे से शृंगारकोष्ठ की ओर बढ़ती हुई)*
देखा कि मैं झूले में पड़ी हूँ...सहसा एक ठंडे स्पर्श से आँख खुल जाती है। आँख खुलते ही *(सिहरकर)*...देखती हूँ कि एक रुंड-मुंड आकृति मेरे ऊपर झुकी हुई है; उसका हाथ मेरे माथे पर है...तभी मेरे मुँह से चीख़ निकल जाती है और मैं...मैं सचमुच जाग जाती हूँ।

शृंगारकोष्ठ के पास जाकर पल-भर दर्पण के सामने रुकी रहती है।

किसी ने यहाँ नया दर्पण लाकर नहीं रखा?

अलका : यह दर्पण यहाँ अच्छा नहीं लग रहा था, पर मैंने सोचा कि बिना आदेश पाए...।

सुन्दरी : पर यह सबकुछ...।

चन्दन-लेप की कटोरी उठाकर देखती है।

यह कटोरी तूने भर दी थी?...इसमें यह...यह निशान किसकी उँगली का है?

अलका : निशान?

पास जाकर कटोरी लेकर देखती है।

सम्भव है...भरकर लाते हुए...मेरी ही उँगली से यह निशान बन गया हो। अब बैठिए, मैं आपके शरीर का कुछ प्रसाधन कर दूँ।...कुमार जब तक नहाएँ, तक तब आप...।

सुन्दरी : नहीं, अलका! मैंने तब तुझे बताया नहीं था। मैंने दिन-भर शरीर का प्रसाधन नहीं किया क्योंकि...

द्वार की ओर बढ़ती है।

ठहर, मैं अभी उनके कक्ष में होकर आती हूँ।

अलका : *(एकाएक आगे जाकर)*

देवि!

सुन्दरी : *(रुककर)*

क्यों?...कह न, क्या कहना चाहती है?

अलका : मैं सोचती थी कि यदि...।

सुन्दरी : कह न, क्या सोचती थी?

अलका : सोचती थी कि यदि...कुमार के सामने जाने से पहले आप...।

सुन्दरी : फिर वही बात? मैं तुझे बता चुकी हूँ कि मैं अभी प्रसाधन नहीं करूँगी।

अलका : तो भी यदि कुछ देर...मेरा मतलब है कुमार के स्नान करने तक यदि...।

सुन्दरी : नहीं, मैं और प्रतीक्षा नहीं करूँगी। पाँच पहर से मैंने उन्हें देखा नहीं है।

दाईं ओर के द्वार से चली जाती है। अलका द्वार तक जाती है और लौट आती है। उद्विग्न भाव से शृंगारकोष्ठ के पास जाकर चन्दन-लेप की कटोरी को उठाती और रख देती है। साथ ही आशंकित भाव से द्वार की ओर देखती हुई उधर की प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा करती है। कुछ अंतराल के बाद सहसा उधर से सुन्दरी के शब्द सुनाई देते हैं :

नेपथ्य : नहीं-नहीं...यह सम्भव नहीं...।

अलका बढ़कर द्वार की ओर जाने लगती है कि सहसा सुन्दरी उधर से आ जाती है। भाव ऐसा है जैसे सहसा कहीं से चोट खा आई हो।

अलका : *(पास जाकर उसे सँभालने के प्रयत्न में)*
ऐसे क्यों हो रही हैं, देवि?

सुन्दरी : *(सहसा आवेश में)*
तू...तूने बताया क्यों नहीं मुझे? क्यों नहीं बताया कि जो मैंने देखा था, वह सपना नहीं था?

अलका सहारे से उसे चबूतरे पर बिठाने का प्रयत्न करती है।

क्या अब तू मुझे यह विश्वास दिलाना चाहेगी कि मैं जागती आँखों से भी सपना ही देखकर आई हूँ?

अलका : मैंने इसलिए नहीं बताया कि आप जान लेंगी, तो बहुत अस्थिर हो उठेंगी...।

सुन्दरी उसके हाथ हटा देती है।

सुन्दरी : जान लेती, तो कम-से-कम दूसरी बार के आघात से तो बच जाती। यह आकृति एक दुःस्वप्न नहीं...यथार्थ है...मेरा अपना यथार्थ...क्या मैं उसका सामना कर सकती हूँ?...क्या एक बार इतना भी कह सकती हूँ...कि आपने...आपने मेरे पास से जाकर...यह सब कैसे हो जाने दिया...क्यों हो जाने दिया?

अलका : जानती हूँ, आपको मन में कैसा लग रहा है। परन्तु आप मन को सँभालेंगी नहीं, तो सोचिए कुमार को कैसा लगेगा? अब जबकि वे लौट आए हैं...

सुन्दरी : वे नहीं आए, अलका! जो लौटकर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है...।

अपने उद्वेग को रोक पाने में असमर्थ सहसा बाईं ओर के द्वार से उद्यान की ओर निकल जाती है।

(जाते-जाते)...कोई दूसरा ही...!

उसी समय दाईं ओर के द्वार से नन्द अन्दर आता है। आँखों से खोया-खोया और चेहरे से गम्भीर।

नन्द : *(अलका को देखे बिना पीछे के दीपाधार की ओर जाता हुआ)*
कोई दूसरा ही!...तो क्या सचमुच मैं कोई दूसरा ही हूँ? भिक्षु ने यही कहा था...तुम भी अब यही कह रही हो।...परन्तु मैं

जानना चाहता हूँ कि मैं कोई दूसरा कैसे हूँ? मात्र इसलिए कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए हैं?

दीपाधार के पास रुकता है, तो सहसा दृष्टि अलका पर पड़ती है। अलका जैसे अप्रसन्न होकर शृंगारकोष्ठ के पास झुकी हुई है।

तुम यहीं खड़ी हो, अलका? जाओ, तुम्हारी स्वामिनी को तुम्हारी आवश्यकता होगी।

अलका आँखें उठाकर उसकी ओर देखती है, फिर आँखें झुका लेती है।

अलका : मैं जा रही हूँ...।

दाईं ओर के द्वार से चली जाती है। नन्द होंठ काटता हुआ अन्तर्मुख भाव से दीपाधार के पास से मत्स्याकार आसन की ओर आता है।

नन्द : तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है। घर से...और अपने-आपसे भी अकेला! जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।

आसन को ऐसे छूकर आगे निकल आता है जैसे उसमें भी उसे परायेपन का आभास होता हो। चेहरे की गम्भीरता के साथ एक दृढ़ता दिखाई देने लगती है।

लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिए उसके पास कोई आवरण नहीं है।...परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता।...तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे...अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे।...जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक-साथ घेर लिया है! व्याघ्र से लड़कर भी मन को शान्ति नहीं मिली।...लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है...ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं हैं!...मन में मृत्यु का भय है...किसी भी प्रकार की मृत्यु का... परन्तु उस भय में साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न...केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।

क्यों...पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उनसे जानना है...आज ही...और अभी...।

पल-भर जैसे सोचता-सा रुका रहता है।

हाँ, अभी...।

सामने के द्वार की ओर बढ़ता है। श्वेतांग दाईं ओर के द्वार से आता है।

श्वेतांग : कुमार!

नन्द रुककर उसकी ओर देखता है।

स्नान के लिए पानी रख दिया है। बदलने के लिए वस्त्र भी निकाल दिए हैं।

नन्द : *(जाते-जाते)*

अभी नहीं श्वेतांग! वस्त्र बदलने का समय अभी नहीं हुआ।

श्वेतांग : परन्तु कुमार...!

नन्द : मेरे साथ आओ। तुम्हारे लिए इस समय दूसरा कार्य है।

बाहर चला जाता है। श्वेतांग रुककर उद्यान की ओर देखता है। फिर उसके पीछे-पीछे चला जाता है। पल-भर के व्यवधान के बाद बाईं ओर के द्वार से अलका आती है।

अलका : कुमार!

चारों ओर नज़र दौड़ाती है, पर नन्द को न देखकर उसी द्वार से चली जाती है। फिर सुन्दरी के साथ वापस आती है।

लगता है कुमार फिर अपने कक्ष में चले गए हैं।

सुन्दरी : वहाँ वह सूना कमलताल...यहाँ कक्ष का यह सूनापन...लगता है आज घर अपना घर नहीं रहा...।

धीरे-धीरे जाकर मत्स्याकार आसन पर बैठ जाती हैं।

अलका : नीहारिका से कह दूँ कि कुमार स्नान कर चुकें, तो...।

सामने के द्वार से श्वेतांग गम्भीर और थका-सा अन्दर आता है।

श्वेतांग : कुमार स्नान नहीं करेंगे। उन्होंने मुझसे कहा है कि...।

सुन्दरी सहसा आसन से उठ खड़ी होती है।

सुन्दरी : क्या कहा है उन्होंने? और...वे...वे बाहर कब चले गए?...वे तो...।

श्वेतांग : कुमार अभी-अभी बाहर गए हैं। जाते हुए उन्होंने मुझसे कहा है कि...।

सुन्दरी : *(पहले से और अव्यवस्थित होकर)*
वे अभी-अभी फिर बाहर चले गए हैं?...क्यों? रात के समय इस तरह जाने का कारण?

श्वेतांग : कारण उन्होंने नहीं बताया। इतना ही कहा है कि...।

सुन्दरी : *(उतावली में)*
क्या कहा है उन्होंने? जल्दी से बताते क्यों नहीं?

श्वेतांग सिर झुका लेता है और प्रयत्न से बात कह पाता है।

श्वेतांग : उन्होंने कहा कि...वे अपने केशों की खोज में जा रहे हैं। जाकर तथागत से पूछना चाहते हैं कि उन्होंने उनके केशों का क्या किया? और यदि कुछ नहीं किया, तो क्या उनके केश उन्हें लौटाए जा सकते हैं? उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है...

सुन्दरी जैसे जड़-सी हो रहती है।

सुन्दरी : यह कहा है उन्होंने?

हाथों में मुँह छिपाए हुए फिर आसन पर बैठ जाती है।

इतना ही समझ पाए हैं वे?...*(मुँह से हाथ हटाकर)* जाओ तुम लोग। जाओ, मुझे इस समय एकांत चाहिए।

श्वेतांग अलका की ओर देखता है और सिर झुकाए धीरे-धीरे चला जाता है। अलका सुन्दरी को सहेजने के प्रयत्न में उसके पास बैठने लगती है।

जा, तू भी जा अलका! मैंने कहा है, मुझे एकांत चाहिए, बिलकुल एक़ांत!

अलका अनमने भाव से उसके पास से हटकर उसी द्वार से चली जाती है।

(रूंधे हुए गले से) इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग!...बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है!

फिर से मुँह हाथों में छिपा लेती है। प्रकाश धीमा होने लगता है और उसके साथ-साथ नेपथ्य से श्यामांग के शब्द सुनाई देते हैं।

नेपथ्य : नहीं...किसी की समझ में नहीं आता...पत्थर...पानी में पत्थर मैंने नहीं फेंके...जिसने पत्थर फेंके...वह भी...वह भी वही छाया थी...यह अँधेरा...यह अँधेरा मुझसे नहीं ओढ़ा जाता...मुझे एक किरण ला दो...एक किरण...।

इस बीच सुन्दरी की छायाकृति चेहरे से हाथ हटाती है

सुन्दरी : इससे अधिक कभी समझ भी नहीं पाएँगे ये...कभी नहीं समझ पाएँगे!

नेपथ्य : *(विलीन होता हुआ स्वर)*

बस एक किरण...केवल एक किरण...!

नेपथ्य का स्वर और मंच की आकृति दोनों साथ-साथ विलीन हो जाते हैं।

लहरों के राजहंस (1968)

उस एक को
जिसे लगता है
मन की बात कहकर आदमी छोटा हो जाता है।

नाटक का यह परिवर्तित रूप

बहुत पहले से एक बिम्ब मन में था। दो दीपाधार। एक ऊँचा, शिखर पर पुरुष-मूर्ति—बाँहें फैली हुईं तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुईं। दूसरा छोटा, शिखर पर नारी-मूर्ति—बाँहें सिमटी हुईं तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुईं।

पहले-पहल शायद अश्वघोष का **सौन्दरनन्द** पढ़ते हुए यह बिम्ब मन में बनने लगा था। क्यों और कैसे, यह कह सकना असम्भव है। उस काव्य का अपना बिम्ब तरंगों पर तैरते राजहंस का है, या अनिश्चय में उठे-रुके एक पैर का। परन्तु मेरे लिए वह सब धुँधला दृश्य था। स्पष्ट थे दो दीपाधार जो **सौन्दरनन्द** में नहीं थे।

पिछले बीस वर्षों में न जाने कितनी बार और कितनी तरह से मैंने इन दीपाधारों के बीच के धुँधले दृश्य को बदलते देखा है। हर बार का दृश्य एक नए दृश्य का आभास देकर, फीका पड़ जाता रहा है। आज तक और किसी रचना को लेकर मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ। परिवर्तन और रचनाओं में भी मैंने किए हैं, परंतु मूल रूप के बहुत निकट रहकर—लगभग उसी के हाशिए पर। हाल ही में **आषाढ़ का एक दिन** के पाठ को भी जहाँ-तहाँ से थोड़ा छुआ है। परन्तु **लहरों का राजहंस** के साथ ऐसा नहीं है। इसके बार-बार लिखे और बदले जाने की प्रक्रिया कुछ इतनी लम्बी है कि उसकी चर्चा करते भी संकोच होता है।

अपने पहले रूप में यह नाटक नहीं, एक कहानी थी। कहानी मैंने सन् छियालीस या सैंतालीस में लिखी थी। एक परीक्षा-कापी के भूरे पन्नों पर घसीटी गई वह कहानी अब तक गुम हो गई है या जलाने और फाड़ने से बचे ढेरों काग़ज़ों में आज भी कहीं सुरक्षित है, कह नहीं सकता। प्रस्तुत नाटक के चार पात्र—नन्द, सुन्दरी, अलका और मैत्रेय—उस कहानी में भी थे। 'नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है'—सुन्दरी का यह वाक्य भी उस कहानी में से ही है। परन्तु लिख लेने के बाद वह कहानी मुझे बहुत अधूरी लगती रही। मैंने उसे कहीं प्रकाशनार्थ नहीं भेजा। इसका एक कारण शायद यह भी था कि कहानी

के पात्र और परिस्थितियाँ सामान्य अर्थ में 'ऐतिहासिक' थीं, और ऐतिहासिक सन्दर्भ की रचनाओं के प्रति मेरे मन में वैसे ही एक चिढ़ रही है। उस तरह के सन्दर्भ को लेकर तब तक एक ही और चीज़ मैंने लिखी थी—**कलिंग-विजय** शीर्षक एकांकी जिसका प्रकाशन **सरस्वती** के सन् पैंतालीस (?) के किसी अंक में हुआ था। परन्तु नाटक में वह सन्दर्भ उतना अस्वाभाविक नहीं लगता जितना कहानी में।

सन् सैंतालीस और उनचास के बीच दो साल मैं बम्बई में था। उन दिनों **कलिंग-विजय** का वहाँ रेडियो से प्रसारण हुआ। तब इस कहानी को भी मैंने एक रेडियो-नाटक के रूप में लिख डाला। शीर्षक था, **सुन्दरी**। मुझे याद है मैंने वह नाटक एक ईरानी होटल में चाय पीते हुए वहाँ के शोरगुल के बीच सुना था। जो कुछ वहाँ सुनाई दिया, उसमें नाटक कम और 'ध्वनि-प्रभाव' ही ज़्यादा था। सुनने के बाद कई दिन मन में उदासी रही कि क्यों मैंने वह नाटक उस रूप में लिखकर प्रसारण के लिए दे दिया। बाद में यह सोचकर उससे छुट्टी पा गया कि चलो किसी को पता तो है नहीं, मैं भी यह भूलकर रह सकता हूँ कि मैंने उस रूप में उसे लिखा था।

इसके बाद सात-आठ साल और निकल गए। मैं उन दिनों जालन्धर में था। जालन्धर रेडियो के लिए कई एक नाटक लिखे थे जिनमें से अधिकांश रमेशपाल ने वहाँ से प्रस्तुत किए थे। एक बार बात होने पर रमेशपाल को बहुत उत्साहित पाकर यह नाटक भी उन दिनों फिर से लिख डाला। शीर्षक था, **रात बीतने तक**। परिकल्पना इस बार एक रंग-नाटक की थी, परन्तु रेडियो-शिल्प की दृष्टि से उसमें अपेक्षित परिवर्तन कर दिए थे। नाटक के प्रसारण से पहले रमेशपाल के मन में जितना उत्साह था, वह प्रसारण के बाद और बढ़ गया। यहाँ तक कि जालन्धर से जाने के बाद भी उसने राँची, लखनऊ तथा अन्य स्टेशनों से कई बार इसे प्रस्तुत किया। परन्तु मैं रमेश के उत्साह का सहभागी नहीं बन सका। मुझे हर बार सुनने पर लगा कि नाटक में चरित्रों का वह सन्तुलन नहीं है जो कि होना चाहिए था। संवादों में भी अपेक्षित से अतिरिक्त कुछ था जो मुझे खटकता था, हालाँकि रमेश को उस 'अतिरिक्त कुछ' का ही अधिक मोह था। उसका आन्तरिक संस्कार जिसे नाटक की सबसे बड़ी सफलता मानता था, वही मेरी दृष्टि में नाटक की सबसे बड़ी दुर्बलता थी। नाटक का निश्चित अन्त—नन्द का बौद्ध धर्म स्वीकार करके भिक्षा के लिए अपने घर के द्वार पर आना—मुझे एक आरोप-सा लगता था। नन्द की यह परिणति अधिक 'ऐतिहासिक' और **सौन्दरनन्द** के अधिक अनुकूल थी, परन्तु मुझे लगता था कि मैंने नन्द को अपने लिए अवकाश न देकर पहले से तैयार किए गए एक साँचे में ढाल दिया है। इस विषय में रमेशपाल का मुझसे जो मतभेद उन दिनों था, वह आज भी है। उसकी अब भी यह धारणा है कि बाद में नए रूप में लिखकर मैंने नाटक के साथ अन्याय किया है। जो बात **रात बीतने तक** में थी, वह इसमें नहीं है, सन् तिरसठ में **लहरों के राजहंस** का

प्रकाशन होने पर उसने कहा था। नाटक को आज के रूप में पढ़कर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, मैं नहीं कह सकता।

रमेश की अब तक जो प्रतिक्रिया रही है, उसका कारण समझ में आता है। एक रचना के साथ हर पाठक की अपनी एकात्मकता स्थापित होती है, इसलिए उसमें किसी तरह का परिवर्तन कर दिए जाने से उसे लग सकता है कि उसकी अपनी किसी चीज़ को विकृत कर दिया गया है। एक नाट्य-कृति के साथ उसके परिचालक का सम्बन्ध और गहरा होता है, इसलिए वहाँ यह अनुभूति और तीव्र हो सकती है। **रात बीतने तक** रमेशपाल का प्रिय नाटक रहा है—उसका **लहरों के राजहंस** के रूप में ढल जाना उसे स्वीकार्य नहीं हुआ, इसमें मुझे आश्चर्य नहीं है। एक और स्तर पर यही स्थिति **लहरों के राजहंस** के उन पाठकों की रही है जिन्हें बाद में तीसरे अंक में किए गए परिवर्तन स्वीकार्य नहीं लगे। उनकी उलझन का अनुमान मैं लगा सकता हूँ, परन्तु अपनी जिस उलझन के कारण मैंने बार-बार इसमें परिवर्तन किए हैं, उसका ठीक-ठीक अनुमान उन्हें नहीं है।

सन् तिरसठ में यह नाटक जिस रूप में प्रकाशित हुआ, उसका लिखना **आषाढ़ का एक दिन** से पहले शुरू किया जा चुका था। तब तक अपने मन की एक बाधा पर मैंने काबू पा लिया था। अपने वर्तमान की संगति में ऐतिहासिक सन्दर्भ का किस रूप में उपयोग किया जा सकता है, यह बात तब तक मन में स्पष्ट होने लगी थी—विशेष रूप से इन दो कथानकों को लेकर जो बहुत दिनों से 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' तथा 'तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः' इन दो पंक्तियों के रूप में मन में थे। **आषाढ़ का एक दिन** सन् अट्ठावन के मार्च-अप्रैल के महीनों में लिखा गया था। **लहरों के राजहंस** को पहले पूरा नहीं किया, क्योंकि पहले के हर प्रयत्न से असन्तुष्ट रहने के कारण लगा कि फिर से इसी में जुटने से बेहतर होगा दूसरे नाटक को पहले लिख लेना। **आषाढ़ का एक दिन** के भी तीन चरित्र पहले से मन में स्पष्ट थे। **मेघदूत** पढ़ते हुए मुझे लगा करता था कि वह कहानी निर्वासित यक्ष की उतनी नहीं है जितनी स्वयं अपने आत्मा से निर्वासित उस कवि की, जिसने अपनी ही एक अपराध-अनुभूति को इस परिकल्पना में ढाल दिया है। उस अपराध-अनुभूति के सम्बन्ध में सोचते हुए जो तीन चरित्र मुझे मिले थे, वे थे मल्लिका, अम्बिका और विलोम। कालिदास का चरित्र तो केन्द्र में था ही। इनके अतिरिक्त शेष सब पूरक चरित्र हैं जिनकी सृष्टि नाटक लिखते समय हुई है। जून अट्ठावन में **आषाढ़ का एक दिन** प्रकाशित हुआ। प्रकाशन के साथ ही उसके सम्बन्ध में जो प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुईं, उन्होंने जहाँ और नाटक लिखने का आत्मविश्वास मुझे दिया, वहाँ पहले से आरम्भ किए इस नाटक को लेकर मन में एक कुंठा भी भर दी। मैं दो वर्ष तक इसे लिखना चाहकर भी आज से कल पर टालता रहा।

इसके बाद सन् साठ और इकसठ में यह नाटक दो बार अधूरा लिखा गया। पहली बार रायसन (कुल्लू) में और दूसरी बार गुलमर्ग में। दोनों बार अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों के दबाव के कारण मैं इसे पूरा नहीं कर पाया। मेरे साथ यह एक निजी कठिनाई है कि किसी भी रचना को एक बार अधूरा छोड़कर मैं बाद में उसे वहाँ से आगे नहीं लिख पाता—यदि समय का अन्तराल दो-चार दिन से अधिक का हो, तो अगली बार मुझे फिर से नए सिरे से शुरू करना पड़ता है। और भी कई रचनाओं के साथ ऐसा हुआ है, इस नाटक के साथ तो विशेष रूप से होता रहा है। सन् बासठ के आरम्भ में यदि **सारिका** का सम्पादन-कार्य हाथ में न लेता, तो एक बार फिर इसे पूरा करने का प्रयत्न करता। परन्तु वह पूरा साल नौकरी में निकल गया और इसे फिर से उठाया सन् तिरसठ के अप्रैल महीने में—नौकरी छोड़ने के कुछ दिन बाद।

जिस रूप में नाटक प्रकाशित हुआ, उस रूप में यह दो अप्रैल से बारह अप्रैल के बीच कुल ग्यारह दिनों में लिखा गया था। कुफ़्री में। लिखने के साथ-साथ दस-दस पन्ने मुद्रण के लिए दिल्ली भेजता जा रहा था। यह प्रक्रिया इसलिए अपनाई थी कि एक बार लिख लेने के बाद अपने को फिर से सोचने का मौका नहीं देना चाहता था। तेरह तारीख़ को मुझे वापस दिल्ली पहुँचना था, क्योंकि उस दिन से कमलेश्वर को **नई कहानियाँ** का सम्पादन-कार्य सँभालना था और उसका आग्रह था कि लिंक हाउस में होनेवाले उस दिन के आयोजन में मैं अवश्य उपस्थित रहूँ। कमलेश्वर के **नई कहानियाँ** का कार्य सँभालने का निर्णय मेरे शिमला पहुँचने के बाद वहीं ओमप्रकाश और कमलेश्वर के साथ-साथ आने पर हुआ था—एक रेस्तराँ में दोपहर का खाना खाते हुए अचानक। उससे पहले दिल्ली में कमलेश्वर इनकार कर चुका था, इसलिए चलते समय यह स्थिति सामने नहीं थी। उसके बाद ही मैं कुफ़्री गया था हालाँकि शिमला में पन्द्रह रोज़ पहले से था। मुझे विश्वास था कि मैं ग्यारह-बारह दिनों में नाटक का काम पूरा कर लूँगा—छः-सात दिन चाहिए थे पहले के लिखे अढ़ाई अंकों को फिर से लिखने के लिए और चार-पाँच दिन शेष अंश पूरा करने के लिए।

हिमाचल गवर्नमेंट विंटर स्पोर्ट्स क्लब, कुफ़्री। एक बैरा, एक ख़ानसामा, एक जमादार और मैं। मैं क्लब के तीन नम्बर कमरे में था, शेष दोनों कमरे ख़ाली थे। बर्फ़ काफ़ी पिघल चुकी थी, इसलिए शीइंग का सीज़न कुछ जल्दी समाप्त हो गया था। इक्का-दुक्का लोग सिर्फ़ घूमने के लिए शिमला से आते थे और बाहर रेस्तराँ में कॉफ़ी या बियर पीकर लौट जाते थे। सारे क्लब में सिर्फ़ एक ही इनडोर गेम उस समय चल रहा था और खेलनेवाला था अकेला मैं। सुबह उठते ही काग़ज़ों की बिसात बिछ जाती थी और मैं नन्द तथा सुन्दरी को उनकी कल की स्थिति से आगे

बढ़ाने की चिन्ता में डूब जाता था। इन दोनों के अलावा एक ही गोट और थी जो मुझे परेशान करती थी—श्यामांग। नन्द और सुन्दरी की दिशा और परिधि तो कम-से-कम स्पष्ट थी, इस गोट के लिए तो जैसे खेल के नियम ही अभी निर्धारित होने रहते थे। पहले अंक से उसे हटाने का प्रयत्न किया, तो हटा नहीं सका। दूसरे अंक में उसके लिए स्थान बनाना चाहा, तो वह भी नहीं बना सका। एक दोपहर अपने प्रत्यन से थककर तिब्बत रोड पर दूर तक घूमने निकल गया। कचर-कचर कच्ची बरफ़ और उसे काटते ट्रकों और बसों के पहिए। कभी एकाध जीप। गाँव के लोग—चलते हुए भी स्थिर से नज़र आते। कभी किसी की आँखों में हल्की उत्सुकता, अन्यथा वह भी नहीं। रास्ते की मैली बरफ़ में धूप के झिलमिल रंग और ठंडी हवा। घाटी और पहाड़ी की उजली बरफ़ पर कई दिन पहले की शीइंग के फैले-फैले निशान। छतनार देवदार और बरफ़ में से झाँकती एक स्याह ठूँठ टहनी। आसपास की सारी हरी-भूरी सफ़ेद व्यवस्था से अलग, उस सारे परिदृश्य में बाधा डालती, फिर भी उस परिदृश्य की सम्पूर्णता के लिए अनिवार्य। एक हल्की सी चेष्टा से उसे वहाँ से उखाड़ा जा सकता था, परन्तु...।

मैं क्लब की तरफ़ लौटा, तो भी दिन अभी काफ़ी बाक़ी था। लौटते हुए कई जगह रुककर उस पीछे छूटी टहनी को अलग-अलग कोणों से देखा। हर कोण से वह उतनी ही असंगत लगी फिर भी उतनी ही अनिवार्य। सड़क का वह मोड़ मुड़ आने पर भी, जहाँ से कि वह दिखाई नहीं दे सकती थी, उसका आभास मन में बना रहा। लगता रहा कि आगे का वह सारा परिदृश्य भी, जिसमें कि वह नहीं है, उस आभास के कारण ही पूरा है। क्लब में लौटकर मैं सीधा अपनी लिखने की चौकी पर नहीं गया। काफ़ी देर बाहर रेस्तराँ में बैठा रहा। शिमला से आए कुछ अजनबियों के साथ बात करता रहा। उन लोगों के चले जाने पर भी वहाँ से नहीं उठा। सात-आठ बजे तक बियर पीता रहा। उसके बाद जाकर दूसरा अंक फिर से लिखना शुरू किया।

श्यामांग अब एक व्यक्ति नहीं रहा। एक आभास में बदल गया।

नौ तारीख़ हो गई थी। पहले के लिखे अढ़ाई अंक तब तक फिर से लिख लिये थे। परिवर्तन इतना हो गया था कि पहले के लिखे के साथ उसका बहुत कम मिलान रह गया था।

नन्द भिक्षु-वेश में सुन्दरी के कक्ष में लौट आया था। भिक्षु आनन्द उसे हतप्रभ करके वहाँ से चला गया था। नन्द बौखलाकर पीछे से कह रहा था, "कौन है वह दूसरा व्यक्ति?...कौन है वह जिसे मैंने रोक रखा है?"

रात हो गई थी। मैं बहुत थक गया था।

कक्ष में अँधेरा था। सुन्दरी को अभी जागना था।

मैंने बिसात उठा दी। सुन्दरी को झूले में सोये और नन्द को द्वार पर खड़े छोड़कर मैं बिस्तर में जा लेटा।

अब?

मैं फिर उस स्थल पर पहुँच गया था जहाँ पहले दो बार नाटक को छोड़ चुका था।

रात को देर तक सिगरेट फूँकता जागता रहा। दस, ग्यारह, बारह। बारह तारीख़ को हर हालत में वहाँ से चल देना होगा। तभी तेरह को दिल्ली पहुँचा जा सकेगा।

परन्तु सुबह बिसात की गोटें कैसे चलेंगी? नन्द द्वार के पास से लौटकर क्या करेगा? सुन्दरी कब जागेगी? उसके जागने के बाद क्या होगा?

आख़िर नींद आ गई। सुबह उठने पर मन इतना अस्थिर था कि बिसात बिछाकर नहीं बैठा। जो पहली बस मिली, उसमें शिमला चला गया।

शिमला में एक परिचित के यहाँ चाय पीते हुए काग़ज़ पर कुछ नोट्स लिखे। मगर खाना खाया जा सके, इससे पहले ही वहाँ से उठ खड़ा हुआ। बहुत अनुरोध किए जाने पर भी एक घंटा और नहीं रुका। मगर मोटर-स्टैंड पर आकर सवा तीन बजे तक वापसी की बस नहीं मिली। उस बस से कुफ़्री पहुँचा लगभग साढ़े चार बजे। ख़याल था पहुँचते ही रात तक तीसरा अंक पूरा कर दूँगा। मन में नन्द को लेकर जो संशय और प्रश्न था, उसे नन्द पर ही लाद देने का निश्चय कर लिया था। आगे की दिशा सोचने का दायित्व अब मुझ पर नहीं, नन्द पर था। हाथ के काग़ज़ पर लिखी एक पंक्ति को बार-बार पढ़ रहा था, "अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न...केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।" सोच रहा था कि बस यही नन्द है...एक प्रश्नचिह्न...और यही उसकी परिणति। इस परिणति के आगे...केवल तीन बिन्दु।

कमरे में पहुँचा, तो पलंग पर एक इनलैंड रखा था जो पीछे डाक से आया था। जल्दी से खोलकर उसे पढ़ गया। 'बस इतना ही तो समझ पाते हैं आप लोग!'

पत्र में और भी कुछ था जिसे पढ़कर मन बहुत उदास हो गया। उस रात लिखना नहीं हो सका। लौटने के वक़्त से ही बारिश शुरू हो गई थी। सारी रात बारिश होती रही। मैं देर तक बुखारी की आग तापता बारिश की आवाज़ों को सुनता रहा।

फिर सुबह। फिर वही बिसात। नन्द गवाक्ष के पास से हट आया। "जानता हूँ तुम्हारा क्या उत्तर होता...।"

तेरह की सुबह दिल्ली पहुँच गया। तीसरा अंक पूरा कर लिया था। परन्तु पूरा करने के बाद एक बार पढ़ने का भी अवसर नहीं मिला था। तेरह से सोलह तक दिल्ली में रुककर सत्रह को ग्वालियर चला गया। वहाँ से इलाहाबाद होता हुआ जब तक लौटकर दिल्ली आया, अब तक नाटक छप चुका था।

आषाढ़ का एक दिन के बाद दूसरा नाटक—**लहरों के राजहंस।**

नाटक की प्रतियाँ?

मई, जून, जुलाई। किसी को नाटक की प्रति नहीं दी।

"नाटक छप तो गया है न?" मित्र संशय के साथ पूछते।

"हाँ।"

"तो उसकी प्रति...?"

"वह अभी नहीं दूँगा।"

"क्यों?"

"मुझे कवर पसन्द नहीं है। ओमप्रकाश से कवर बदलने के लिए कहा है। नया कवर तैयार होते ही...।" आँखों के गम्भीर विनिमय। मुस्कुराहटें। "तो क्या सिर्फ़ कवर के लिए ही...?"

"मैं बम्बई जा रहा हूँ। वहाँ किसी आर्टिस्ट से अच्छा सा कवर बनवाकर लाऊँगा।"

"तो कब तक?"

"देखो। शायद अगले महीने तक।"

दो महीने बाद ओमप्रकाश से एक झड़प।

"तुमने नाटक रिलीज़ कर दिया?"

"हाँ।"

"बिना कवर बदले ही?"

"हाँ।"

"लेकिन मैंने तुम्हें मना किया था।"

"अभी थोड़ी सी कापियाँ भेजी हैं। माँग आ रही थी।...कवर तो उसका बदलना ही है। पहली हज़ार प्रतियाँ निकल जाने दो। दूसरी हज़ार प्रतियों में बदल देंगे।"

"लेकिन मैंने तुमसे कहा था...।"

"मैं तुमसे कह रहा हूँ न! तुम बता दो, तुम्हें कितनी प्रतियाँ चाहिए?"

"मुझे एक भी प्रति नहीं चाहिए।"

"तुम्हें किसी को प्रति देनी नहीं है?"

"नहीं।"

"क्यों बच्चों की तरह ज़िद करते हो? मैंने तुमसे कहा है न कि...?"

"मैंने भी तुमसे कहा है न कि...मुझे एक भी प्रति नहीं चाहिए।"

एक साल, दो साल, तीन साल। पहली आवृत्ति, दूसरी, तीसरी। सब उसी कवर में। इलाहाबाद में 'प्रयाग रंगमंच' की ओर से नाटक पहले साल ही खेल दिया गया था। उसके बाद दो-एक जगह और। दूसरे साल से श्यामानन्द जालान 'अनामिका' की ओर से कलकत्ते में प्रस्तुत करने की सोच रहे थे। उनके कई पत्र आए थे। पत्रों के उत्तर लिख दिए थे।

लगता था मैं एक अपराधी हूँ। हर आलोचना या आलोचनात्मक पत्र मेरे ऊपर लगाया गया अभियोग है। मुझे जैसे भी हो, उस अभियोग का उत्तर देना है।

मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं जो कुछ कहूँगा, सच कहूँगा, पूरा सच कहूँगा, और सच के अतिरिक्त कुछ नहीं कहूँगा...।

दूसरों के हर प्रश्न का उत्तर मेरे पास है। नहीं है तो अपने ही कुछ प्रश्नों का उत्तर।

नन्द वापस आकर सुन्दरी का सामना क्यों नहीं कर पाता?

वह अपने को दुर्बल महसूस करता है, तो क्यों?

नन्द और श्यामांग में क्या तादात्म्य है?

क्या यह तादात्म्य नाटक में स्पष्ट हो सका है?

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष, भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययो न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः।– क्या नाटक व्यक्ति की इस परिणति को रेखांकित करता है?

●●

समीक्षाएँ–दो छोर।

श्यामांग नाटक में क्यों है?

श्यामांग के होने का महत्त्व इस बात में है कि...।

क्या सुन्दरी ने केवल केश कटे होने के कारण ही नन्द का तिरस्कार कर दिया?

नाटक में नन्द के केश कटने का अर्थ यह है कि...।

नाटक के अन्त पर **आषाढ़ का एक दिन** के अन्त की छाया नहीं है...?

नाटककार ने नाटक का अन्त इस रूप में इसलिए किया है कि...।

मैं केवल इतना जानता हूँ कि कुछ ऐसा है जो इस नाटक में होना चाहिए था और नहीं है। वह क्या है, यह मेरे मन में स्पष्ट नहीं है। मुझे इसके लिए समय चाहिए– अपने और नाटक के बीच थोड़ा अन्तराल।

भिक्षु आनन्द चला गया है। नन्द गवाक्ष के पास खड़ा है...।

इसके बाद?

इसके बाद ही तो समय चाहिए।

कितना समय?

पता नहीं। और भी तो बहुत से काम हैं। और भी तो बहुत-कुछ लिखना है। एक मित्र को भिक्षु आनन्द के नन्द के साथ आने पर भी आपत्ति है। नन्द को लेकर तो आपत्ति है ही कि वह क्यों ऐसे ही वापस चला जाता है–बिना सुन्दरी से अपनी बात कहे या उसे अपने से कुछ कहने का अवसर दिए।

मेरे मन में भिक्षु आनन्द को लेकर कोई उलझन नहीं है। उसे इसी तरह आना है और नन्द को उत्तेजना के एक बिन्दु तक लाकर चले जाना है।

परन्तु नन्द को लेकर...?

●●

श्यामानन्द सितम्बर सन् पैंसठ में नाटक प्रस्तुत करने को थे। परन्तु हिन्द-पाक युद्ध के कारण बात टल गई।

अप्रैल सन् छियासठ। एक साहित्य-गोष्ठी के अवसर पर कलकत्ते में। गोष्ठी में पन्द्रह मिनट का भाषण। शेष समय मित्रों की उप-गोष्ठियों में या श्यामानन्द के साथ।

श्यामानन्द का विचार अब इस जुलाई में नाटक प्रस्तुत करने का था। रिहर्सल चल रहे थे। शिक्षायतन के एक कमरे में सेट का मॉडल हाथ में लिये हुए श्यामानन्द ने बताना शुरू किया कि उसमें वे क्या-क्या परिवर्तन करने की सोचते हैं...कि वेशभूषा की उनकी परिकल्पना क्या है...कि संगीत का एक-एक टुकड़ा किस दृष्टि से रिकॉर्ड किया गया है...।

यह सुन्दरी है...विनीता रेलिन। अलका है...चेतना तिवारी।...उसकी परीक्षा है, अभी ख़ाली नहीं है। यह विमल लाठ...श्वेतांग। रणजीत मेहता...श्यामांग।

पहले अंक का रिहर्सल। अभिनेता कांशस हैं कि आज उन्हें नाटककार के सामने अभिनय करना है। सिवाय चेतना तिवारी के सब की आज परीक्षा है। परीक्षक है नाटककार।

परन्तु नाटककार को लग रहा है कि परीक्षा उसी की है। परीक्षक हैं वे सब लोग।

"रेडी!"

रिहर्सल शुरू होता है।

"तुम्हारी उलझन अभी समाप्त नहीं हुई?"

"मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है।"

"नो! नो! नो!" श्यामानन्द के हाथ हताश भाव से हिलते हैं। "ऐसे रिहर्सल करते रहे हो आज तक तुम लोग? क्या हुआ है आज तुम्हें?" और दोनों भूमिकाओं में श्यामानन्द स्वयं उतर आते हैं।

"तुम्हारी उलझन अभी समाप्त नहीं हुई?"

"मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है।"

"ऐसे...समझे?...मने बिल्कुल ऐसे नहीं...कुछ-कुछ ऐसे...तुमने कल और परसों किया तो था...।...सो कम ऑन नाउ...।"

●●

विश्वम्भर सुरेका के यहाँ नीचे का कमरा। होटल से श्यामानन्द वहाँ लिवा ले गए थे। आधी रात तक बातचीत।

श्यामानन्द हाल ही में चार महीने अमरीका और यूरोप की 'थियेटर-वर्ल्ड' में घूमकर आए थे। जो कुछ वहाँ देखा-सुना था, उस सबका अतिरिक्त उत्साह मन में था। "जाने से पहले मैं सोचता था कि थियेटर में केन्द्रीय व्यक्ति परिचालक है। परन्तु अब मेरी धारणा है कि वास्तव में नाटककार ही केन्द्रीय व्यक्ति है। मैं चाहूँगा कि नाटक के प्रस्तुतीकरण से कम से कम तीन सप्ताह पहले आप यहाँ आ जाएँ। स्वयं उन दिनों नाटक के रिहर्सल देखें और अपने सुझाव दें। हम आपके सब सुझाव मान लेंगे, ऐसा नहीं...मने जहाँ हमारा आपसे मतभेद होगा, वहाँ हम आपको कन्विंस करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु आइडिया यह है कि हम लोग इसे एक सहयोगी प्रयास का रूप देने का प्रयत्न करें। मैं लन्दन में था, तो बैकेट के एक नाटक का रिहर्सल उन दिनों वहाँ चल रहा था। एक सीन को लेकर मेरा निर्देशक से कुछ मतभेद था। मैंने उनसे बात की, तो वे बोले, "बट बैकेट वांट्स इट लाइक दैट।" मैं भी इस नाटक के प्रस्तुतीकरण में यह जानकर चलना चाहता हूँ कि नाटक के एक-एक दृश्य को लेकर आपकी अपनी परिकल्पना क्या है। हम उसे बिल्कुल स्वीकार कर लेंगे, ऐसा नहीं...मने हमारा प्रयत्न होगा कि नाटक को आपकी परिकल्पना के जितना निकट ला सकें, लायें। और कुछ नहीं, तो यह अपने में एक प्रयोग तो होगा ही। इस तरह काम करने में मुझे तो मज़ा आएगा ही...मेरा ख़याल है आपके लिए भी यह एक अनुभव होगा। क्या ख़याल है?"

●●

घर से यह कार्यक्रम बनाकर चला था कि कलकत्ता से दार्जिलिंग जाकर कुछ दिन वहाँ रहूँगा। रहने की जगह-अगह कोई ठीक नहीं की थी, हमेशा की तरह विश्वास था कि पहुँचकर कोई न कोई जगह तो मिल ही जाएगी। कलकत्ता छोड़ने के पहले श्यामानन्द

से कह दिया था कि मैं जुलाई के शुरू में तीन सप्ताह के लिए वहाँ आ जाऊँगा। सोचा था कि मई-जून दो महीने दार्जिलिंग में रहकर अपना काम करता रहूँगा, फिर तीन सप्ताह कलकत्ता में रहकर जुलाई के अन्त में वापस दिल्ली पहुँच जाऊँगा।

कलकत्ता से एक माल ढोनेवाले हवाई जहाज़ में सिलीगुड़ी की तरफ़ उड़ते हुए मन में कुछ इस तरह का ग्राफ़ बन रहा था :

दार्जिलिंग में किसी सस्ते से होटल का एक कमरा...दस-बारह रुपए रोज़ तक का (खाना-वाना सब मिलाकर)...पहले एक सप्ताह में, या पन्द्रह दिनों में **लहरों के राजहंस** का तीसरा अंक। (कलकत्ता से चलते हुए श्यामानन्द से कहा था कि वे अभी पहले दो अंकों का ही रिहर्सल करें। तीसरा अंक मुझे नए रूप में लिखना है—नन्द और सुन्दरी के कन्फ्रंटेशन के साथ। वे उसकी प्रतीक्षा करें—मैं दस या बारह दिनों में वह उन्हें भेज दूँगा।)...उसके बाद डेढ़ महीने में एक छोटा उपन्यास...उपन्यास का अग्रिम भेजने के लिए प्रकाशकों को एक पत्र...बीच में गैंग्टाक और कैलिम्पांग की यात्रा...रोज़ शाम को सत्यजित के चित्र **कंचनजंघा** में देखी 'अकेली' सड़क की सैर...शाम की सैर के लिए एक हल्की बेंत...रोज़ किसी रेस्तराँ में अकेले चाय पीते हुए दार्जिलिंग की डायरी...लौटते हुए किराए के कैमरे से कुछ स्नैप-शाट्स...वहाँ की नर्सरी से (जिसकी प्रशंसा कलकत्ते में सुनी थी) कुछ कैक्टस...(लेकिन कैक्टस जहाज़ में साथ कैसे लाए जा सकेंगे?...फिर दिल्ली पहुँचने तक उन्हें ज़िन्दा कैसे रखा जा सकेगा?)...हो सका, तो दिल्ली लौटने से पहले दो दिन के लिए शिलांग...।

●●

दार्जिलिंग पहुँचकर बहुत कोफ़्त हुई। किसी ने नहीं बताया था कि वह काफ़ी महँगा हिल-स्टेशन है और वहाँ बारह रुपए रोज़ में वैसी जगह नहीं मिल सकती जैसी कि मुझे चाहिए थी।

लेकिन मैंने पूछा किससे था?

वहाँ से दूसरे-तीसरे दिन ही चल पड़ता, लेकिन गुणाकर मुले ने ठहरने की काम-चलाऊ व्यवस्था कर दी, इसलिए बारह-चौदह दिन रुक गया।

टाइप-राइटर खोल लिया। कुफ़्रीवाली बिसात फिर सामने बिछ गई।

तीसरा अंक शुरू से लिखना शुरू किया।

सुन्दरी और अलका। श्वेतांग। भिक्षु आनन्द के साथ नन्द। भिक्षु आनन्द चला गया। नन्द उसके पीछे-पीछे गवाक्ष तक। "...कौन है वह व्यक्ति? कौन है वह दूसरा व्यक्ति जिसे मैंने रोक रखा है?" फिर नन्द का एकालाप। "...तुम्हारा विशेषक सूख गया, इसका मुझे खेद है। इसे मैं अभी गीला किए देता हूँ।" नन्द का हाथ सुन्दरी के माथे की ओर। सुन्दरी अब जाग जाएगी। "नहीं, नहीं, नहीं...।"

परन्तु सुन्दरी जाग जाए, इससे पहले ही गुणाकर मुले के साथ कैलिम्पांग चला गया। वहाँ से लौटकर अगले दिन माउंटेनियरिंग इंस्टीट्यूट और चिड़ियाघर की सैर। उससे अगले दिन सुबह उठकर स्टेशन। लौटकर मुले को बताया कि ग्यारह तारीख़ की सीट बुक करा ली है। रेल से, वाया लखनऊ। तेरह मई की सुबह दिल्ली पहुँच जाऊँगा। उसे आश्चर्य नहीं हुआ। आठ-दस दिन में इतना तो उसने जान ही लिया था।

चलने से पहले 'अभी गीला किए देता हूँ' तक का अंश श्यामानन्द को पोस्ट कर दिया। लिखा कि शेष अंश दिल्ली से भेजूँगा। आठ-दस रोज़ के अन्दर।

●●

दिल्ली में घर में मेहमान टिके हुए थे। चौबीस-पचीस जून तक कुछ काम नहीं हुआ। श्यामानन्द के पत्र और तार आ रहे थे। आख़िर तार दे दिया कि तीन जुलाई को पहुँच रहा हूँ। दो जुलाई की शाम तक नन्द और सुन्दरी को आमने-सामने खड़ा करके फिर किसी तरह तीसरा अंक पूरा कर दिया।

●●

कलकत्ता। एयरपोर्ट से फिर विश्वम्भर सुरेका के यहाँ।

रात। पहले नए नाटक के सम्बन्ध में बातचीत। "आइडिया यह है कि...।"

श्यामानन्द ने तीसरे अंक का शेष अंश माँगा, तो कहा, "अभी निकालता हूँ।"

फिर एक-दूसरे की आँखों में देखते हुए दोनों की हँसी।

"तो?"

"बेहतर यह है कि मैं एक बार पहले अढ़ाई अंकों का पूरा रिहर्सल देख लूँ। वहाँ तक पूरी चीज़ दिमाग़ में सेट हो जाएगी, तो आगे का अंश दो दिन में लिखा जाएगा।"

श्यामानन्द की वह मुस्कुराहट जो आदमी को आश्वासन भी देती है और बेचैन भी कर देती है। साथ दार्शनिक अन्दाज़ में दो शब्द, "ठीक है।"

फिर उस रात उस सम्बन्ध में कोई बात नहीं। केवल नन्द का एकालाप। "क्यों मैंने जान-बूझकर आत्म-विनाश को निमन्त्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया? आत्म-रक्षा और आत्म-विनाश, इन दो प्रवृत्तियों के बीच में एक-साथ जिया—क्यों और कैसे?...क्या उस तरह जीकर सुख मिला? और क्या वह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?"

श्यामानन्द ने न जाने कितनी बार और कितनी तरह से अभिनय किया। मैं चुपचाप देखता रहा। अपने मन में साथ-साथ मैं भी कहीं वही अभिनय कर रहा था। एक-एक स्वर को तौल रहा था। कुछ देर बाद हम दोनों आमने-सामने खड़े थे और

एक-एक पंक्ति को अलग-अलग से और साथ-साथ बोल रहे थे। "मैं तुम्हारा या किसी का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।...मैं पूछता हूँ कि जब होने-न होने में कोई अन्तर ही नहीं है, तो मेरे केश क्यों काट दिए?"

रात के दो बज गए थे। शायद तीन। हम दोनों किसी चीज़ के लिए व्याकुल थे जिसे हम ठीक से पकड़ नहीं पा रहे थे। मैं वह बात शब्दों से कहना चाहता था, श्यामानन्द स्वरों के उतार-चढ़ाव से, भाव-भंगिमाओं से। आख़िर होंठों को पानी से गीला करते हुए मैंने कहा, "रात बहुत हो गई है, श्याम!" श्याम कुछ देर असमंजस में रहा। शायद उसे लगा कि मैं सोना चाहता हूँ, इसलिए कह रहा हूँ। "बस एक-दो बार और।" उसने कहा और अभिनय नए सिरे से शुरू हो गया। "बातों को उलझाते क्यों हो, भिक्षु...?"

●●

एक नई जीवन-चर्या। रात को तीन या चार बजे सोना, सुबह ग्यारह बजे उठना। बारह बजे तक नाश्ता करके लिखने बैठ जाना। दो घंटे काग़ज़ों की बिसात पर अपने से द्वन्द्व। फिर नहाना, खाना खाना और ख़ाली समय की ऊब मिटाने के लिए ब्लू फ़ाक्स के बार में जा बैठना। भुनी हुई मूँगफली, बियर और सिगरेट की डब्बी पर लकीरें। नन्द कहाँ है? और सुन्दरी? यहाँ। उसने अभी नन्द को नहीं देखा। ज्यों ही उसकी नज़र नन्द पर पड़ती है...। क्रास, क्रास, क्रास। लकीरों को काटती लकीरें। ऐसे नहीं। ऐसे भी नहीं।...ब्लू फ़ाक्स से वापस घर। साढ़े पाँच-छः बजे श्यामानन्द के साथ शिक्षायतन। रिहर्सल। उत्तरोत्तर बढ़ता मानसिक तनाव। अलका इस तरह क्यों झुकती है? श्यामांग इस तरह क्यों बोलता है? नौ बजे लौटकर खाना। फिर दो बजे तक श्यामानन्द और मैं।

●●

रिहर्सल गौण हो गया था। उसके लिए हम लोग जाते थे क्योंकि अभिनय की तिथियाँ बहुत पास आ रही थीं। दो-तीन घंटे वहाँ बिताने के बाद फिर वही आधी रात तक का कार्यक्रम जिसकी हम लोग दिन-भर प्रतीक्षा करते थे। वह सचमुच एक साझी खोज थी—नन्द और सुन्दरी की नियति की। बल्कि उससे भी आगे स्त्री और पुरुष की सामान्य नियति की। हर रात हमारा कार्यक्रम आरम्भ होता था नन्द के एकालाप से, "...बातों को उलझाते क्यों हो, भिक्षु? कौन है वह व्यक्ति? कौन है वह दूसरा व्यक्ति जिसे मैंने रोक रखा है?" लगता था कि नन्द की उस छटपटाहट में से ही आगे के सब सूत्र खोजे जा सकेंगे। हर गुज़रते दिन के साथ नन्द की आन्तरिक व्याकुलता के साथ श्यामानन्द का तादात्म्य बढ़ता जा रहा था। उन कुछ घंटों के लिए श्यामानन्द

श्यामानन्द न रहकर अपनी नियति की खोज में छटपटाते एक व्यक्ति में बदल जाता था। मैं एक दर्शक की तरह उस व्यक्ति को देखता और उसके भविष्य का आभास पा लेने का प्रयत्न करता था। ''उन्होंने केश काट दिए, तो क्या व्यक्ति-रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जीभ काट देते, हाथ-पैर काट देते, तो क्या और अधिक सत्य हो जाता? कौन कह सकता है कि भ्रान्ति वस्तुतः किसे है—उन्हें या मुझे?'' और इसी छटपटाते व्यक्ति को सुन्दरी के समक्ष खड़ा करने के लिए मैं शब्द ढूँढ़ता रहता। रात को श्यामानन्द के चले जाने के बाद भी कुछ देर शब्दों में उलझता रहता। दिन में उठकर फिर उसी खोज में डूब जाता। अगली शाम तक पन्द्रह-पन्द्रह ड्राफ्ट रद्द करने के बाद दस या पन्द्रह पंक्तियाँ लिखकर श्यामानन्द को दे देता। सम्भव होता, तो उस दिन के रिहर्सल में वे पंक्तियाँ शामिल कर ली जातीं। अभिनेता उत्सुक होते कि शायद आज पूरा रिहर्सल हो। लेकिन श्याम उतने के बाद हाथ झाड़ देता, ''बाक़ी कल...मने कल भी अगर लिखकर आ गया तो!''

●●

नन्द और सुन्दरी अब आमने-सामने थे। अलका और श्वेतांग को सुन्दरी ने कक्ष से भेज दिया था। उन दोनों के बीच कोई नहीं था। नाटक के अन्त तक किसी के होने की सम्भावना भी नहीं थी। नन्द सुन्दरी से बहुत-कुछ कहना चाहता था। परन्तु सुन्दरी उसकी बात सुनने की मनः स्थिति में नहीं थी।

अब?

क्या किसी तरह सुन्दरी नन्द की बात सुन सकेगी? सुनकर स्वीकार कर सकेगी? या अन्त तक उसका अस्वीकार नन्द के सामने एक चट्टान की तरह अड़ा रहेगा?

नन्द एक बार अपने को उँडेल देने के बाद अब पहले की भूमि पर सुन्दरी के साथ नहीं रह सकता। तो वह किस बिन्दु पर वहाँ से जाएगा और जाने से पहले उसके शब्द क्या होंगे? ऐसे शब्द जिनसे उसकी व्याकुलता सुन्दरी के आग्रह पर भारी पड़ सके...उसे पराजित कर सके?

एक, दो, तीन, चार ड्राफ़्ट। परन्तु सुन्दरी किसी भी तरह पराजित नहीं होती। वह मर सकती है, पराजय स्वीकार नहीं कर सकती।

●●

एक दिन के लिए लगा कि हल सूझ गया है। सुन्दरी की मृत्यु से समस्या हल हो सकती है। अजन्ता-चित्र 'मरणोन्मुख राजकुमारी' ने मन को इस दिशा में बढ़ावा दिया। दोपहर को श्यामानन्द को दफ़्तर से बुलाकर यह बात उससे कही। शाम को रिहर्सल में इसकी घोषणा कर दी।

असहमत कोई नहीं हुआ, मगर देखा कि सबके चेहरे मुरझा गए हैं। सबकी आँखों में जैसे एक ही भाव था—सुन्दरी मर कैसे सकती है?

'मरें आपके नन्द। सुन्दरी हरगिज़ नहीं मर सकती।' किसी की कही यह बात दूसरे दिन मुझ तक पहुँचाई गई। तब तक मैं भी कोशिश करके देख चुका था। श्यामानन्द रात-भर स्वरों के उतार-चढ़ाव से तब तक के संवादों में वह दिशा ले आने का प्रयत्न करके देख चुका था। परन्तु यह स्पष्ट था कि सुन्दरी हमारे प्रयत्न से केवल मरने का अभिनय कर सकती है, मर नहीं सकती। नाटककार और परिचालक दोनों उस चरित्र के हाथों पराजित होने के लिए विवश थे।

तो?

रिहर्सल अब यहाँ पर रुका था, "...क्योंकि मैं यह भी हूँ और वह भी—इनमें से कोई एक नहीं जैसा कि तुम सब अलग-अलग से विश्वास करना चाहते हो कि मैं हूँ... ।"

नाटक के अभिनय में तीन दिन रह गए थे।

●●

उस दिन रिहर्सल से लौटते हुए एक बात दिमाग़ में कौंध गई। क्या स्त्री और पुरुष की यह समक्षता ही उनकी वास्तविक परिणति नहीं? उनका आमने-सामने होना और एक-दूसरे तक अपनी बात न पहुँचा पाना, यही उनकी वास्तविकता नहीं?

लगा कि नन्द और सुन्दरी को इस परिणतिहीन परिणति से आगे किसी निश्चित अन्त तक ले जाने की बात ही ग़लत है। उस तरह की परिणति नाटक को चाहे एक विराम-चिह्न तक ले जाए, परन्तु वह नन्द और सुन्दरी की वास्तविकता नहीं होगी।

मैंने कई डब्बी सिगरेट ख़रीद ली और लम्बे-लम्बे कश खींचता अपने कमरे में आ गया। कुछ देर बाद श्यामानन्द के आने पर यह बात उससे नहीं कही। सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि सुबह तक यह धारणा भी बदल जाए। उस रात श्यामानन्द के साथ लम्बी बैठक नहीं हुई। शारीरिक और मानसिक थकान के कारण उसका मन जल्दी सो जाने का था। मुझे यह अच्छा ही लगा। श्यामानन्द के चले जाने के बाद एक बार अन्त तक के संवाद लिख डाले। अन्तिम स्थिति थी अपने-अपने प्रयत्न से निढाल स्त्री और पुरुष का हताश भाव से एक-दूसरे की आँखों में देखते रहना। फिर उसी हताशा में एक शब्द कहकर नन्द का चले जाना और सुन्दरी का उसकी पीठ को सम्बोधित करते हुए अन्त के शब्द कहना।

सुबह जल्दी उठकर उस हिस्से को फिर से लिखने में लग गया। शाम तक छः-सात बार लिखकर उसे निश्चित रूप दे दिया। अब रिहर्सल हिन्दी हाई स्कूल में नाटक के वास्तविक सेट पर ही हो रहे थे। जिस समय मैं वहाँ पहुँचा, सेट में कुछ

परिवर्तन किए जा रहे थे। श्यामानन्द ने जिस तरह मेरी तरफ़ हाथ बढ़ाया, उससे लगा कि उसे आज भी शेष अंश मिल जाने की आशा नहीं है। मैंने काग़ज़ उसके हाथ पर रख दिए, तो उसने पूछा, ''कहाँ तक?''

''अन्त तक,'' मेरे मुँह से यह सुनना ही था कि वह सेट का काम बीच में छोड़कर मुझे खींचता हुआ पीछे ग्रीन रूम में ले गया।

''सच?'' काग़ज़ खोलते हुए उसने पूछा।

''देख लो, तुम्हारे हाथ में है।''

श्यामानन्द ने जल्दी-जल्दी अन्त तक पढ़ा और मुझे बाँहों में ले लिया। ''चलो अब दो दिन तो हम अन्त तक रिहर्सल कर ही सकते हैं।''

●●

पहली रात को मैंने नाटक हाल में बैठकर नहीं देखा। गहरे तनाव की स्थिति में एक पार्श्व खड़ा मंच की गतिविधियों और हाल में होनेवाली प्रतिक्रियाओं का जायज़ा लेता रहा। नाटक समाप्त होने तक माथे की नसें फड़कती रहीं। उसके बाद चौथे दिन के अन्त तक मन सहज स्थिति में नहीं आ पाया।

●●

कलकत्ते में रहते और वहाँ से लौट आने पर बहुत से लोगों की प्रतिक्रियाएँ जानने को मिलीं। नाटक में किए गए परिवर्तनों को लेकर एक नया मतभेद शुरू हो गया था। एक वर्ग की निश्चित धारणा थी कि नाटक का वास्तविक अन्तर्द्वन्द्व इस नए रूप में ठीक से उभर सका है। परन्तु दूसरे वर्ग का विचार था कि नाटक अपने पहले रूप में भी उनके सामने खेला जाए, तभी वे ठीक से निर्णय दे सकने की स्थिति में होंगे। नाटक के प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में भी दोनों तरह की दृष्टियाँ थीं। परन्तु दूसरे और चौथे दिन हाल में बैठकर नाटक देखने के बाद मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा था, वह यह था कि अपने वर्तमान रूप में नाटक के तीसरे अंक की पहले दो अंकों के साथ ठीक संगति नहीं रही। तीसरा अंक परिकल्पना और परिचालना दोनों दृष्टियों से पहले दो अंकों से काफ़ी अलग पड़ गया था। इसका कारण स्पष्ट था। अन्त के तीनों सप्ताह श्यामानन्द और मैं इस तरह तीसरे अंक के संयोजन में उलझे रहे थे कि पहले दोनों अंकों की ओर हमारा बहुत कम ध्यान गया था। तीसरे अंक के संयोजन तथा प्रस्तुतीकरण में जो कसाव था, वह पहले दो अंकों में नहीं था। इससे मैं अपने लिए इस नतीजे पर पहुँचा था कि मुझे अब तीनों अंक एक-साथ फिर से लिखने चाहिए; और श्यामानन्द इस नतीजे पर कि नए रूप में नाटक की पूरी पांडुलिपि हाथ में आ जाए, तो इसे बिल्कुल नए सिरे से प्रस्तुत करना चाहिए।

●●

कलकत्ते से लौटा, तो मन में एक ओर यह उत्साह था कि नाटक का तीसरा अंक आख़िर फिर से लिख लिया गया, पर दूसरी ओर यह उदासी भी कि मुक्त मैं अब भी इससे नहीं हो पाया—कि इसे एक बार और लिखना अभी उसी तरह शेष है जैसे कि कई वर्ष पहले था। अगस्त का महीना इस दुविधा में रहकर कि इसे फिर से अभी हाथ लगाऊँ या कुछ दिन बाद; आख़िर सितम्बर में इसे फिर से लिखने बैठ गया। इस बार जिस रूप में लिखा, उसी रूप में आज इसका प्रकाशन हो रहा है। इसी रूप में जनवरी और फरवरी सन् सड़सठ में ओम् शिवपुरी ने नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा की ओर से इसे प्रस्तुत किया था। परन्तु फिर से इसमें न उलझ जाऊँ, इसके लिए इस बार अपना एक बचाव मैंने कर लिया था। ओम् शिवपुरी के कहने और चाहने पर भी मैं नाटक का रिहर्सल देखने नहीं गया। पहली रात अन्य दर्शकों की तरह जाकर तटस्थ दृष्टि से अभिनय देख आया। यों नाटक के सम्बन्ध में मतभेद और वाद-विवाद समाप्त हो गए हों, ऐसा अब भी नहीं। परन्तु मेरे लिए इतना अन्तर अवश्य आ गया है कि मैं अब अपने को इससे बाहर पाता हूँ। कुछ लोगों का अब भी आग्रह है कि नाटक का प्रकाशन पहले रूप में भी साथ होता रहना चाहिए। मैं इससे सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इस सुझाव को स्वीकार करने का अर्थ होगा एक और सुझाव पर भी विचार करना—कि इन दो के अतिरिक्त क्या नाटक का एक तीसरा रूप भी नहीं हो सकता? उस तरह तो अगले बीस वर्षों में और भी चार बार इसे चार तरह से लिखने का लोभ मन में आ सकता है...क्योंकि कोई भी रचना क्या ऐसी होती है कि व्यक्ति जीवन में कभी भी उसके रूप को निश्चित और अन्तिम मान सके?

—मोहन राकेश

आर-५२२, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली-५

पात्र

श्वेतांग	:	कर्मचारी
श्यामांग	:	कर्मचारी
सुन्दरी	:	नन्द की पत्नी
अलका	:	दासी
शशांक	:	गृहाधिकारी
नन्द	:	बुद्ध का सौतेला भाई
मैत्रेय	:	नन्द का एक मित्र
नीहारिका	:	दासी
भिक्षु आनन्द	:	बुद्ध का शिष्य

स्थान, समय

अंक 1

कपिलवस्तु। राजकुमार नन्द के भवन में सुन्दरी का कक्ष।
रात उतरने का समय।

अंक 2

वही कक्ष। प्रत्यूष से कुछ पहले।

अंक 3

वही कक्ष। अगली रात।

अंक : एक

परदा उठने पर अँधेरे में सुनाई देता समवेत स्वर :

धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि।

प्रकाश होने पर राजकुमार नन्द के भवन में सुन्दरी का कक्ष। रात उतरने का समय।

सामने से देखने पर पीछे दाईं ओर चबूतरा, बाईं ओर झूला तथा एक मत्स्याकार आसन। आगे दाईं ओर मदिरा-कोष्ठ तथा बाईं ओर शृंगार-कोष्ठ। आगे और पीछे दो अलग-अलग भागों में दो दीपाधार। एक के शिखर पर पुरुष-मूर्ति—बाँहें फैली हुईं तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुईं। दूसरे के शिखर पर नारी-मूर्ति—बाँहें सिमटी हुईं तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुईं।

उद्यान का मार्ग बाईं ओर से। बाहर का मार्ग सामने से। सामने के द्वार से निकलकर गवाक्ष। कक्ष के अन्य भागों में जाने का मार्ग दाईं ओर से।

साज़-सज्जा में कामोत्सव का स्पर्श। कई एक कर्मचारी फूल सजाने, कोष्ठों को व्यवस्थित करने तथा मुद्राएँ अंकित करने आदि में व्यस्त। श्यामांग पत्तियों के ढेर में उलझा हुआ तथा श्वेतांग अग्निकाष्ठ से दीपक जलाता हुआ। प्रधान कर्मचारी होने के नाते श्वेतांग अन्य सबके कार्य के प्रति भी सचेत।

दो-तीन कर्मचारियों की हल्की अवज्ञात्मक हँसी का शब्द।

श्वेतांग : क्या बात है, नागदास? तुम लोगों को हँसी किस बात की आ रही है? चलो, सब एक-दूसरे से दूर खड़े होकर काम करो।...नीहारिका! तुम काम कर रही हो, या अपने हाथों की

मेहँदी उतार रही हो? आँखें नीची रखो और हाथों को देखकर काम करो।...ओह शेफ़ालिका! तुम्हें बस इतने से ही फूल मिल पाए हैं आज के लिए? आज का कामोत्सव इस भवन का सबसे बड़ा उत्सव होगा, यह बताने पर भी तुम्हें कुछ समझ नहीं आया? यह कहने पर भी कि देवी सुन्दरी आज स्वयं हर कार्य का निरीक्षण करेंगी, तुम्हारे मन में कुछ भी विशेष उत्साह नहीं जागा?...बीजगुप्त! इतनी समझ तो तुम्हें स्वयं होनी चाहिए कि प्रवेश-द्वार पर मुद्राएँ अंकित नहीं की जातीं। इससे तो जो अतिथि आएँगे, उनके वस्त्रों पर भी मुद्राएँ अंकित होती जाएँगी।...तुम एकटक मेरी ओर क्यों देख रहे हो, मन्दारक? नहीं नहीं नहीं, मुझसे कुछ पूछो नहीं। मैं इस समय तुमसे बात नहीं कर सकता।...यहाँ जिस-जिसका काम पूरा होता जाए, उसे स्वयं चाहिए कि दूसरे भाग में जाकर काम करने लगे। मैं एक-एक से कहूँ, तभी नहीं यहाँ से जाना है।

शेफ़ालिका, बीजगुप्त और नागदास एक-एक करके चले जाते हैं।

तुम फिर मेरी ओर देख रहे हो, मन्दारक? काम से बचने का यह अच्छा उपाय तुमने ढूँढ़ रखा है। आदमी जब भी तुम्हारी ओर देखे, तुम्हें अपनी ओर देखते पाएगा! जाओ-जाओ, उधर जाकर किसी और को देखो—काम तो कभी ठीक से करोगे नहीं। हाँ, हाँ, हाँ—मुझे पता है इस भवन में तुम्हारे जितना काम कोई नहीं करता—इस समय जाओ और कम से कम मुझे अपना काम करने दो।

मन्दारक असन्तुष्ट भाव से सिर हिलाकर चला जाता है।

और तुम श्यामांग? तुम्हारी उलझन अभी समाप्त नहीं हुई?

श्यामांग : *(पत्तियाँ तोड़ने-सुलझाने में व्यस्त)* मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है।

श्वेतांग : *(नीहारिका की ओर देखकर)* नीहारिका, तुम क्या बातें सुनने के लिए ही रुकी हुई हो? जाओ, उधर जाकर अपना काम करो।

नीहारिका उन दोनों की ओर देखती हुई अनमने भाव से वहाँ से चली जाती है।

(श्यामांग से) तुम्हें मुझसे ईर्ष्या होती है? क्यों?

श्यामांग : देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जाता है। न कुछ उलझता है, न कुछ बिखरता है।

श्वेतांग : इसका कारण है।

श्यामांग : क्या कारण है? मेरे हाथों में काम उलझ क्यों जाता है?

श्वेतांग : इसलिए कि तुम सोचते बहुत हो।

श्यामांग : सोचता बहुत हूँ?...परन्तु उससे क्या होता है?

श्वेतांग : सब-कुछ उसी से होता है। हाथ काम नहीं करते। आँखें चुँधिया जाती हैं।

श्यामांग : तो तुम...तुम कभी कुछ नहीं सोचते?

श्वेतांग : अब नहीं सोचता। पहले सोचा करता था।

श्यामांग : पहले सोचा करते थे!...और सोचने का परिणाम यह हुआ कि...?

श्वेतांग : सोचना छोड़ दिया। *(चारों ओर देखता हुआ कि कहीं कोई काम अधूरा तो नहीं रह गया)* आदमी काम करना चाहे, तो उपाय यही है। एक राजकर्मचारी के लिए विशेष रूप से।

श्यामांग : तो तुम कहना चाहते हो कि...मुझे भी सोचना कुछ नहीं चाहिए? *(माथे को उँगलियों से मलकर)* पर मैं कब सोचना चाहता हूँ...बिना चाहे मस्तिष्क सोचता रहे, सोचता रहे, तो आदमी क्या कर सकता है?

श्वेतांग : बिना चाहे तो मस्तिष्क सोचता ही रहता है। न सोचने के लिए वैसा चाहना पड़ता है। प्रयत्न करना पड़ता है।

श्यामांग : प्रयत्न करना पड़ता है?... *(कुछ असहाय-सा)* और प्रयत्न आदमी से न बन पड़े, तो?

श्वेतांग : तो सब-कुछ उलझता रहता है। *(पल-भर उसकी ओर देखता रहकर)* ...लाओ, पत्तियों का यह ढेर मुझे दो, मैं सुलझा देता हूँ। *(अग्निकाष्ठ उसकी ओर बढ़ाकर)* तुम दीपक जलाओ।

उसके हाथों में पत्तियाँ झट-झट सुलझने लगती हैं। श्यामांग अग्निकाष्ठ हाथ में लिये कुछ क्षण उसकी ओर देखता रहता है। फिर आँखें झपककर अपने को सहेजने का प्रयत्न करता है।

अब क्या हो रहा है तुम्हें? इस तरह खड़े क्यों हो?

श्यामांग : पता नहीं क्या हो रहा है। बार-बार आँखों के सामने...जाने कैसा अँधेरा-सा घिर आता है। समझ में नहीं आता कि...

श्वेतांग : तुमसे कुछ भी समझने को कहा किसने है? दीपक जलाओ, देवी सुन्दरी अब इधर आने ही वाली हैं। आकर देखेंगी कि दीपक

नहीं जले, तो सहसा बिगड़ उठेंगी। कितने वर्षों के बाद तो आज उन्होंने कामोत्सव का आयोजन किया है।

श्यामांग : यही बात तो मैं कल से सोच रहा हूँ, श्वेतांग!...और मुझे लगता है कि मैं ही नहीं...और सब लोग भी, यहाँ तक कि स्वयं कुमार भी, मन में यही बात सोच रहे हैं। परन्तु कोई भी मुँह से कुछ कह नहीं पाता। हम सब-के-सब...न जाने क्यों...ओह, पता नहीं मैं क्या कह रहा था...बात जैसे मस्तिष्क में उठकर वहीं छितरा जाती है...अच्छा तुम बताओ, तुम नहीं सोच रहे कि क्यों आज ही वर्षों के बाद यहाँ कामोत्सव का आयोजन किया गया है?

श्वेतांग : *(अत्यधिक गम्भीर)* तुम फिर बहक रहे हो। तुमसे कहा है न, दीपक जलाओ।

श्यामांग : वह तो कहा है तुमने। परन्तु क्या करूँ?...न जाने क्यों मेरे मस्तिष्क में...यह अँधेरा आज बढ़ता ही जा रहा है। मन होता है...मन होता है कि सब छोड़-छाड़कर कहीं चला जाऊँ, और...।

सुन्दरी अलका के साथ बात करती हुई बाईं ओर से आती है। श्वेतांग झुककर अभिवादन करता है। श्यामांग, जैसे बहुत प्रयत्न से, बाद में अभिवादन करता है।

सुन्दरी : *(आगे आती हुई)* हाँ, रात के अन्तिम पहर तक! भोज आपानक और नृत्य! वर्षों तक याद बनी रहनी चाहिए लोगों के मन में।

अलका : याद...वर्षों तक...हाँ, देवि! परन्तु न जाने क्यों मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाएँ उठ रही हैं।

सुन्दरी : रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रात-भर नगर-वधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस भवन की हवा काँपती रहेगी। हवा काँपती रहेगी और ढुलती रहेगी मदिरा...उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी। जो नहीं देखेंगे, वे तो कल्पना भी नहीं कर पाएँगे।

अलका इस बीच एक बार श्यामांग की ओर देख लेती है। फिर जैसे प्रयत्न से अपना ध्यान सुन्दरी की बात पर केन्द्रित करती है।

अलका : रात देर तक मुझे नींद नहीं आई। जब नींद आई, तो...।

सुन्दरी : ठहर, क्या सोच रही थी मैं?...हाँ, शशांक से कह दिया था न कि आज के लिए उसे कुछ विशेष मदिराएँ प्रस्तुत करनी हैं?

अलका : आपने अब तक आदेश नहीं दिया। आदेश दें, तो मैं अभी जाकर...

सुन्दरी : अब तक आदेश नहीं दिया मैंने? फिर मैंने सोच कैसे लिया कि...? सच अपने पर बहुत निर्भर करती हूँ। मन में बात आने से ही सोच लेती हूँ कि वह पूरी हो जाएगी। अभी सुगन्धियों की भी तो व्यवस्था नहीं हुई।...अच्छा जा, पहले शशांक से कह दे। समय बहुत थोड़ा है, फिर भी पुराने रस और आसव मिलाकर वह कई-कई नए सम्मिश्रण प्रस्तुत कर सकता है। और देख, उससे कहना कि भोज और पान की सारी सामग्री आज उद्यान में सजानी है।

अलका : अभी जाकर कह देती हूँ।

दाईं ओर से चली जाती है। सुन्दरी बढ़कर श्वेतांग की ओर जाती है।

सुन्दरी : यहाँ का काम अभी पूरा नहीं हुआ, श्वेतांग?

श्वेतांग : लगभग पूरा हो चुका है, देवि! केवल तोरण सजाने के लिए ये पत्तियाँ...।

सुन्दरी : पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो और तुम मेरे साथ आओ। और श्यामांग तुम...।

श्यामांग की ओर देखती है। वह जैसे अन्दर के अँधेरे से लड़ता हुआ जड़ दृष्टि से हाथ के अग्निकाष्ठ को देख रहा है।

तुम खड़े-खड़े सोच क्या रहे हो? कि आग काठ के अन्दर है या बाहर? देखो, यह चिन्तन बाद में करना, पहले दीपक जलाकर पत्तियाँ सजा दो। अतिथियों के आने में अब अधिक समय नहीं है।...तुम आओ, श्वेतांग!

दाईं ओर से चली जाती है। श्वेतांग उसके साथ जाता हुआ एक बार अन्तर्मुख भाव से श्यामांग की ओर देख लेता है। श्यामांग इस तरह अग्निकाष्ठ की ओर देखता खड़ा रहता है जैसे उसे समझ न आ रहा हो कि वह उसे क्यों हाथ में लिये है।

श्यामांग : *(उद्भ्रान्त-सा)* पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो।...श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझीं, तो क्या आज कामोत्सव नहीं होगा?...श्वेतांग कहता है कुछ सोचो नहीं। पर सोचना-न सोचना अपने बस की बात है?...पिछले वसन्त में आम कैसे बौराये थे! पेड़ों की डालियाँ अपने-आप हाथों पर झुक आती थीं। परन्तु तब यहाँ

कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा हैं।...कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी, और यहाँ...यहाँ रात-भर नृत्य होगा! आपानक चलेगा!

फिर कुछ पल ऐसे हो रहता है जैसे उसके सामने अँधेरा घिरा आ रहा हो। अग्निकाष्ठ को माथे के पास लाकर इस तरह हिलाता है जैसे उसी से अपने अन्दर प्रकाश कर लेना चाहता हो।

क्या हो रहा है मुझे?...कुछ समझ में नहीं आता कि यह आज क्या होता जा रहा है मुझे।...और अब मुझे करना क्या है? *(अग्निकाष्ठ की ओर देखकर)* इसे बाहर छोड़ देना है और आकर पत्तियाँ सुलझानी हैं—यही न?

अनिश्चित भाव से जाकर अग्निकाष्ठ बाहर छोड़ देता है, और आकर फिर से पत्तियाँ सुलझाने लगता है।

न जाने इनका सिरा कहाँ है।...एक बार हाथ से छूट जाता है, तो फिर पकड़ में ही नहीं आता।

झुँझलाकर जगह-जगह से डोरियाँ तोड़ने लगता है। दाईं ओर से सुन्दरी और अलका आती हैं।

सुन्दरी : *(हल्की हँसी के साथ)* तू सपने भी देखती है तो ऐसे-ऐसे। सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश। इसका अर्थ तो यह है कि...*(सहसा श्यामांग पर दृष्टि पड़ जाने से)* काम इस तरह से होता है, श्यामांग? उन्हें तोड़-तोड़कर देख क्या रहे हो—कि डोरियाँ पत्तियों में उलझी हैं या पत्तियाँ डोरियों में?

श्यामांग : *(अपने अन्दर के अँधेरे से लड़ता हुआ)* नहीं, मैं इन्हें तोड़ नहीं रहा। केवल चेष्टा कर रहा हूँ कि...कि किसी तरह ये सुलझ जाएँ, तो...।

सुन्दरी : हाँ, इसी चेष्टा से तो ये सुलझेंगी। जाओ, जाकर यह काम किसी और को सौंप दो, और कहीं एकान्त में बैठकर सोचो कि जब हाथों में कोई काम न रहे, तो हाथों का क्या करना चाहिए।

श्यामांग आँखें झपकाता हुआ पल-भर उसकी ओर देखता रहता है।

(कुछ आवेश के साथ) जाओ।

श्यामांग किसी तरह पत्तियाँ सँभालकर एक बार चुंधियायी-सी दृष्टि से उसकी तथा अलका की ओर देखता है, फिर बाईं ओर से बाहर चला जाता है। सुन्दरी पल-भर शृंगार-कोष्ठ के पास रुकती है, फिर मत्स्याकार आसन के पास आ जाती है। स्वर पुनः कोमल और विनोदपूर्ण हो जाता है।

हाँ, तो तू अपने सपने की बात कह रही थी न, अलका? क्या देखा था? कह रही थी—सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश? *(उसे सिर से पैर तक देखकर)* यह भरा-पूरा यौवन और हृदय में धूल-भरा आकाश! इसका कुछ उपाय करना होगा।

अलका : *(उसके पास आती हुई)* प्रभात में नींद टूटने से पहले देखा था सपना। प्रभात के सपने सच नहीं होते, देवि?

सुन्दरी : सुना है सच होते हैं। इसीलिए तो उपाय करना होगा। अन्यथा यह न हो कि कल को तू भी भिक्षुणी का वेश धारण करने की बात सोचने लगे।

अलका : मैं और भिक्षुणी का वेश? नहीं, मैं तो यह बात सोच भी नहीं सकती। मैं तो यही सोचकर सिहर जाती हूँ कि कल...सच, कल भिक्षुणी के वेश में देवी यशोधरा कैसी लगेंगी, देवि?

सुन्दरी : *(आसन से उठती हुई)* और सब भिक्षुणियाँ कैसी लगती हैं?

मदिरा-कोष्ठ के पास आकर चषक में मदिरा डालने लगती है।

सोचकर खेद होता है कि इतने वर्ष पीड़ा सहने के बाद भी देवी यशोधरा अपनी पीड़ा का मान न रख सकीं। *(एक घूँट मदिरा लेकर)* बहुत सहानुभूति भी होती है।

अलका : परन्तु देवि...!

सुन्दरी : हाँ, कह, रुक क्यों गई?

अलका : सम्भव है आज वे उन्हें पहले के सम्बन्ध से नहीं देखतीं। उनके हृदय में जो पीड़ा थी। राजकुमार सिद्धार्थ को लेकर थी। परन्तु आज जो लौटकर आए हैं, वे गौतम बुद्ध हैं—राजकुमार सिद्धार्थ नहीं।

सुन्दरी : राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए हैं, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है।

अलका : देवी यशोधरा को है?

सुन्दरी : नहीं! देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँध सकता, तो क्या आज भी वे राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते?

अलका : ऐसा न कहें, देवि...!

सुन्दरी : क्यों? क्या यह सच नहीं है? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों एक रात चुपचाप घर से निकल पड़े थे? क्यों उन्हें घर की अपेक्षा जंगल का आश्रय अधिक आकर्षक जान पड़ा था? बात बहुत साधारण-सी है, अलका! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।

एक घूँट में चषक ख़ाली करके रख देती है।

अलका : आप कहना चाहती हैं कि उन्होंने जो बोध प्राप्त किया है, वह...?

सुन्दरी : *(बात बीच में काटकर)* उन्होंने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है! परन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है?

अलका : तो फिर उन्हें लेकर प्रजा के बच्चों-बूढ़ों तक में क्यों इतना उत्साह है? क्यों सन्ध्या होते ही वे उनका उपदेश सुनने नदी-तट की ओर उमड़ पड़ते हैं।

सुन्दरी : इसलिए कि बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। तब जहाँ भी कुछ नवीनता दिखाई दे, उसी ओर वे उमड़ पड़ते हैं। यह उत्साह दूध-फेन का उबाल है। चार दिन रहेगा, फिर शान्त हो जाएगा।

बाहर उद्यान से हंसों का स्वर तथा उनके पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई देती है।

अलका : परन्तु इससे पहले क्यों नहीं कभी...?

सुन्दरी : ठहर, सुन। उतरती रात में राजहंसों का कलरव कैसे मन को खींचता है।

अलका : *(कुछ अव्यवस्थित)* आपको ऐसे नहीं लगा जैसे...?

सुन्दरी : बोल नहीं, चुपचाप सुन!...इस स्वर की कहीं तुलना है? कह नहीं सकती क्या अधिक सुन्दर है—ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या झुटपुटे अँधेरे में दूर से सुनाई देता इनका कूजन!...*(हल्के से हँसकर)* कोई गौतम बुद्ध

से कहे कि कमल-ताल के पास आकर कभी इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये चोंच-से-चोंच मिलाकर चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे—फिर काँपती लहरें जिधर ले जाएँगी, उधर को तैर जाएँगे। सोचती हूँ उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी-तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा। चाहूँगी कि उस दिन...।

इस बीच एकाध बार पानी में पत्थर फेंकने का शब्द सुनाई देता है। फिर एक साथ कई पत्थर फेंकने का शब्द, और साथ ही हंसों का आहत क्रन्दन और उनके पंखों की तेज़ फड़फड़ाहट। सुन्दरी बोलते-बोलते रुककर उद्विग्न दृष्टि से उद्यान की ओर देखती है।

किसकी धृष्टता है यह? कमल-ताल में पत्थर कौन फेंक रहा है?

अलका : मैंने पहले भी ऐसा ही शब्द सुना था। रात के समय हंस अकारण ही नहीं बोल उठे थे।

हंसों का क्रन्दन धीरे-धीरे हल्का पड़कर शान्त हो जाता है।

सुन्दरी : उद्यान में जाकर देख, किसने ऐसी चेष्टा की है। कहना मैं उसे अभी यहाँ बुला रही हूँ।

अलका सिर हिलाकर बाईं ओर से चली जाती है। सुन्दरी उसी उद्विग्न भाव से श्रृंगार-कोष्ठ की ओर जाती है, फिर चबूतरे के पास आ जाती है।

(अपनी उद्विग्नता को झटकने का प्रयत्न करती हुई) नहीं समझ पा रही। आज कामोत्सव की रात को किसी का कमल-ताल में हंसों के जोड़े पर पत्थर फेंकना, उन्हें आहत करना—यह एक आकस्मिक घटना है या जान-बूझकर किया गया प्रयत्न? परन्तु निर्भर तो इस पर करता है कि वह कौन व्यक्ति है जिसने ऐसा प्रयत्न किया है।

अलका बाईं ओर से श्यामांग को लिये हुए आती है। श्यामांग के चेहरे का भाव विक्षिप्त-सा हो रहा है। उसे देखते ही सुन्दरी की भौंहें तन जाती हैं।

...तो तुम थे जो कमल-ताल में राजहंसों पर पत्थर फेंक रहे थे?

श्यामांग : राजहंसों पर नहीं, देवि...!

अलका बढ़कर सुन्दरी की ओर जाती हुई बीच में ही रुक जाती है। उसके चेहरे पर कई तरह के भाव आते-जाते हैं।

सुन्दरी : राजहंसों पर नहीं तो किस पर? ताल में दिखाई देती अपनी छाया पर?

छाया शब्द से श्यामांग की आँखों में भय-सा लहरा जाता है।

श्यामांग : छाया पर!...हाँ...परन्तु अपनी छाया पर नहीं। वह एक और ही छाया थी...बहुत डरावनी...!

सुन्दरी : वह एक और ही छाया थी! जान सकती हूँ कैसी छाया थी वह?

श्यामांग : जाने कैसी छाया थी?...ज्यों-ज्यों अँधेरा गहरा हो रहा था, वह छाया लम्बी, और लम्बी, होती जा रही थी।

अलका कुछ कहना चाहती है, परन्तु बिना कहे चबूतरे की ओर चली जाती है।

सुन्दरी : और तुम्हें बैठकर उस छाया को देखने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था?

श्यामांग : काम?...आपने कहा था न काम न करने के लिए? इसलिए कमल-ताल के पास जो अँधेरा कोना है, कुछ देर के लिए वहाँ चला गया था। वहाँ से देखा ताल की लहरों पर वह छाया उतर रही है—कमलनाल, कमलपत्र, सब उसमें खोए जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया उन सबको लील जाएगी—ताल में तैरते राजहंसों के जोड़े को भी। मुझे डर लगा। मैं छाया पर पत्थर फेंकने लगा।

सुन्दरी : छाया को हटाने के लिए तुम उस पर पत्थर फेंकने लगे!

श्यामांग : हाँ...एक पत्थर फेंका, तो लगा कि छाया हिल रही है।...वह हिली, परन्तु हटी नहीं। तभी राजहंसों ने पंख फड़फड़ा दिए और जैसे छाया से बचने के लिए पुकार करने लगे।...तब मैंने उस छाया को लक्ष्य करके कई पत्थर लगातार फेंके।...इससे छाया कई टुकड़ों में बँट गई, परन्तु फिर ज्यों-की-त्यों हो गई।...फिर उसने राजहंसों को अपने में कस लिया जिससे वे चीत्कार कर उठे।

सुन्दरी : तुम समझते हो मैं तुम्हारी इन बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास कर लूँगी? मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि आज कामोत्सव के दिन तुमने ऐसा प्रयत्न क्यों किया है। तुम इस भवन के उन कर्मचारियों में से हो जो यहाँ रहकर भी यहाँ के नहीं हो

पाए...जो सदा इस खोज में रहते हैं कि कब और कैसे यहाँ के उल्लास को खंडित कर सकें।

अलका एक बार सुन्दरी की ओर देख लेती है, फिर बढ़कर श्यामांग के पास आ जाती है।

अलका : तुम सच क्यों नहीं कह देते कि तुमसे अनजाने में अपराध हो गया है? अपराध के लिए क्षमा माँग लो, तो...।

श्यामांग : छाया को हटाना अपराध था क्या? मैं नहीं जानता था अपराध था। यदि सचमुच अपराध था तो...।

अलका : क्यों फिर से वही बात किए जाते हो? क्यों नहीं स्पष्ट कह देते कि तुम्हारा मन कहीं और था, और तुम्हें पता ही नहीं चला कि कब तुमने पत्थर उठाए और कब फेंकने लगे?

श्यामांग : मेरा मन कहीं और था? पर मन कहीं और होता, तो मैं छाया को देखता किस तरह? और फिर...।

सुन्दरी दो-एक पग उसकी ओर बढ़ जाती है।

सुन्दरी : नहीं, तुम्हारा मन कहीं और नहीं था। तुम्हें आज सचमुच एक छाया ने घेर रखा है। जब तुम यहाँ काम कर रहे थे, तब भी वह छाया तुम्हारे सिर पर मँडरा रही थी। मुझे आश्चर्य नहीं है। आज के आयोजन में वह छाया तुममें से किसी को न घेरती, तो अवश्य मुझे आश्चर्य होता। अब तुम्हें उस छाया से बचाए रखने का उपाय यही है कि कुछ समय के लिए तुम्हें दक्षिण के अन्धकूप में उतार दिया जाए।

अलका : *(अव्यवस्थित)* नहीं, देवि...!

सुन्दरी : *(उसकी बात की ओर ध्यान न देकर)* वहाँ तुम्हें पूरा अवकाश रहेगा, और वह छाया भी तुम्हारे पास नहीं फटकने पाएगी। *(दाईं ओर देखकर)* जो भी द्वार पर हो, श्वेतांग से कह दे मैं उसे यहाँ बुला रही हूँ। *(श्यामांग से)* श्वेतांग अभी तुम्हें तुम्हारे गन्तव्य तक पहुँचा आएगा।

श्वेतांग दाईं ओर से आता है।

श्वेतांग : *(साभिवादन)* देवि!

सुन्दरी : सुगन्धियों की व्यवस्था हो गई?

श्वेतांग : हाँ, देवि!

सुन्दरी : तोरणों पर मुद्राएँ अंकित की जा चुकीं?

श्वेतांग : हाँ, देवि!

सुन्दरी : तो एक काम तुम्हें और करना है। तुम्हारा सहयोगी श्यामांग आज एक छाया से पीड़ित है। इसे उस छाया से मुक्त करने के लिए...।

श्यामांग : *(आँखें झपकता हुआ)* छाया वहाँ है, देवि—कमल-ताल पर। जब मैं वहाँ से चला, तब भी वह...।

श्वेतांग : *(ध्यान से श्यामांग को देखता हुआ)* मुझे लगता है, देवि...!

सुन्दरी : तुम्हें जो भी लगता हो, आकर कहना। पहले इसे ले जाकर दक्षिण के अन्धकूप में छोड़ आओ।...खड़े क्यों हो? जाओ और जाकर आदेश का पालन करो।

श्वेतांग पास जाकर श्यामांग की बाँह हाथ में ले लेता है।

श्वेतांग : आओ, श्यामांग।

श्यामांग : मैं तुमसे सच कहता हूँ, श्वेतांग! मैं सोच कुछ नहीं रहा था। मुझे याद था तुमने कहा था कि...

सुन्दरी : इसे ले जाओ—मैं इसकी अनर्गल बातें और नहीं सुनना चाहती।

श्वेतांग श्यामांग को बाईं ओर से बाहर ले चलता है।

श्वेतांग : *(चलते-चलते)* मैंने तुमसे कुछ नहीं कहा था, श्यामांग! तुम्हें लगता है मैंने कुछ कहा था, तो वह केवल तुम्हारे मन की भ्रान्ति है।

श्यामांग : तुमने मुझसे कुछ नहीं कहा था? सच कुछ नहीं कहा था? तो फिर मुझे क्यों लग रहा था कि...?

अन्तिम शब्द बाहर जाकर खो जाते हैं। सुन्दरी मत्स्याकार आसन की ओर जाती है। अलका, आहत-सी, अपने स्थान पर रुकी रहती है।

सुन्दरी : न जाने क्यों इस व्यक्ति को देखकर सदा उलझन होती है। जब यह ऐसा कुछ नहीं करता, तब भी जैसे मेरे हर विचार, हर कार्य के सामने यह एक प्रश्नचिह्न बनकर आ खड़ा होता है। इसकी आँखों का भाव ही ऐसा है कि...*(सहसा अलका पर दृष्टि पड़ जाने से)* तुझे क्या हुआ है, अलका? तू वहाँ इस तरह क्यों खड़ी है?

अलका : *(अपने को सहेजने का प्रयत्न करती हुई)* हुआ कुछ नहीं, देवि! ऐसे ही बस...।

सुन्दरी : ऐसे ही बस क्या? तेरे चेहरे से तो लगता है जैसे...इधर आ मेरे पास।

अलका अपनी डबडबायी आँखें झपकती हुई उसके पास आ जाती है।

बता न क्या बात है? तू क्या फिर से अपशकुन की बात सोच रही है?

अलका : *(आँखें झुकाकर)* नहीं देवि! मैं केवल यह सोच रही थी कि...उसने जो कुछ किया है, शायद जान-बूझकर नहीं किया।

सुन्दरी : तू श्यामांग के लिए कह रही है? *(कुछ तीखे स्वर में)* तो तू विश्वास करती है कि उसने सचमुच कोई छाया देखी है?

अलका : नहीं, छाया की बात में मैं विश्वास नहीं करती। परन्तु कितने दिनों से देख रही हूँ कि धीरे-धीरे उसे कुछ होता जा रहा है...अपनी मानसिक शक्तियों पर से उसका अधिकार उठता जा रहा है।

सुन्दरी : *(सोचती हुई)* तो तू कहना चाहती है कि उसने जो कुछ किया है, उन्माद में किया है?

अलका : उन्माद में नहीं, तो सोच-समझकर भी नहीं किया। मैं कब से देख रही हूँ कि वह अपने अन्दर ही अन्दर कहीं खोया जा रहा है...कि उसके मन में कुछ ग्रन्थियाँ-सी उलझ गई हैं जिनके कारण वह...उसे सहानुभूति और उपचार की आवश्यकता है, देवि! मैं कितना चाहती थी कि उसके लिए मैं...कि उसके लिए कोई ऐसा कुछ कर सके जिससे वह...।

सुन्दरी : तो तू कहना चाहती है कि...परन्तु तेरे कहने का अर्थ कहीं यह तो नहीं कि...नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। तेरे कहने का अर्थ शायद इतना ही है कि...।

उसकी ठोड़ी को छूकर उसका मुँह अपनी ओर कर लेती है।

अच्छा बता, तू उससे प्रेम तो नहीं करती?

अलका होंठ काटकर सिर झुका लेती है।

ओह! मैं नहीं सोचती थी कि तू...पर तू किसी से प्रेम करती है, तो उस तरह के सपने कैसे देखती है? और श्यामांग क्या ऐसा व्यक्ति है जिससे...? पर यह बात शायद पूछने की नहीं।...अच्छा ठहर, मुझे थोड़ा सोचना होगा। *(झूले की ओर जाती हुई)* सोचना होगा कि तेरा और उस व्यक्ति का सम्बन्ध...। *(झूले के पास रुककर)* पर सुन।

अलका उसके पास चली जाती है।

तुझे सचमुच विश्वास है कि तू उससे प्रेम करती है?

अलका, जैसे कुछ भी कह पाने में असमर्थ, आँखें दूसरी ओर हटा लेती है।

और चाहती है कि उसे इस तरह का दंड न दिया जाए? तो देख, मैं तुझे निराश नहीं करूँगी। तू जानती है मैं तुझे कितना चाहती हूँ। तेरी भावना के लिए मैं...परन्तु अलका, मुझे अब भी विश्वास नहीं होता कि उसने जो किया है, जान-बूझकर नहीं किया। मैं अब भी सोचती हूँ कि...पर शायद ठीक नहीं सोच रही। *(झूले के पास से हटती हुई)* अच्छा, तू जाकर शशांक से कह कि उद्यान में अतिथियों के आसन लगाने से पहले एक बार आकर मुझसे बात कर ले। श्वेतांग लौटकर आता है, तो मैं श्यामांग के लिए दूसरा आदेश भेजती हूँ।

हल्के से उसका कन्धा थपथपा देती है। अलका सिर झुकाए दाईं ओर से चली जाती है।

(अन्तर्मुख भाव से) सच एक ही व्यक्ति को लेकर कैसी विरोधी भावनाएँ ज़ागती हैं अलग-अलग लोगों के मन में! अलका उससे प्रेम करती है। स्वयं कुमार के मन में भी उसके लिए विशेष स्नेह और अनुराग है। जब भी अकेले होते हैं, उसे पास बुलाकर देर-देर तक उससे बात करते रहते हैं। परन्तु मुझे क्यों उससे चिढ़ होती है? क्यों लगता है कि वह एक व्यक्ति नहीं, दो आँखों का एक अनचाहा भाव है जो हर समय इस घर की हवा में घुला-मिला रहता है?

इस बीच नन्द सामने के द्वार से आता है। उसके चेहरे से थकान झलकती है। वह एक बार सुन्दरी की ओर देखकर सीधा मदिरा-कोष्ठ की ओर बढ़ जाता है। सुन्दरी उसका आना लक्ष्य नहीं करती।

और आज का उसका प्रमाद...क्या सचमुच अकारण ही था? अलका ऐसा समझती है, परन्तु मेरा मन क्यों इस पर विश्वास नहीं करना चाहता? मुझे क्यों लगता है कि...नहीं, अब अलका से कह दिया है, तो जैसे भी हो, उसे यहाँ स्वीकार करना ही होगा। हाँ, इतना अवश्य देख लेना होगा कि...

नन्द दो घूँट मदिरा पीकर चषक रखता है, तो सहसा उसका ध्यान उस ओर चला जाता है।

...आप? आप कब आए?

नन्द : अभी आया हूँ।

सुन्दरी : और मैं कब से प्रतीक्षा कर रही थी। सोच रही थी कि...।

नन्द : *(उसकी ओर आता हुआ)* नहीं आऊँगा?

सुन्दरी : ऐसा मैं सोच सकती थी? सोच रही थी कि शायद आखेट में बहुत दूर निकल गए हैं। डर रही थी कि सब लोग आ चुकेंगे, तो अन्त में आनेवाले अतिथि आप ही न हों।

नन्द : *(अन्तर्मुख भाव से)* अन्त में आनेवाला अतिथि!

विश्राम की मुद्रा में चबूतरे पर बैठ जाता है।

जानता था कि तुम प्रतीक्षा में होगी। इसीलिए मैं...तुम्हें सचमुच लगा कि लौटने में मुझे बहुत देर लग गई है?

सुन्दरी : नहीं लगी? आप सन्ध्या से पहले लौट आने को नहीं कह गए थे? *(ध्यान से उसे देखती हुई)* इस तरह थके हुए क्यों लग रहे हैं?

नन्द : इसलिए कि थककर आया हूँ। दिन-भर एक मृग का पीछा किया, परन्तु वह हाथ नहीं आया। जाने कैसा मायामृग था वह!

सुन्दरी : *(विदग्ध स्वर में)* यह तो कभी नहीं हुआ कि आपका आखेट आपके हाथ से निकल जाए।

नन्द : *(बिना उस स्वर की ओर ध्यान दिए)* हाथ से निकला भी तो नहीं। सच, थकान उतनी शरीर की नहीं, जितनी मन की है। मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इसका मन को उतना खेद नहीं जितना इसका कि जब थककर लौटने का निश्चय किया, तो वही मृग रास्ते में थोड़ी दूर आगे मरा हुआ दिखाई दे गया।

सुन्दरी : किसी और के बाण से आहत हुआ वह?

नन्द : नहीं, किसी के बाण से आहत नहीं हुआ। अपनी ही थकान से मर गया। बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती। होती भी है, तो केवल प्राप्ति की हल्की सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव अपनी ही क्लान्ति से मरे मृग को देखकर जाने कैसे लगा। उसी से अपना-आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि...।

सुन्दरी : थोड़ी मदिरा और ले लीजिए। मन स्वस्थ हो जाएगा।

नन्द : नहीं, अभी और नहीं लूँगा *(उठकर टहलता हुआ)* सच मैं कभी सोचता तक नहीं था कि एक मरा हुआ मृग भी इतना सजीव लग सकता है। लग रहा था जैसे हाथ लगाते ही वह आशंका से काँप जाएगा और उठकर भाग खड़ा होगा।...आखेटकों ने उसे उठा लाना चाहा, तो मैंने उन्हें मना कर दिया। कहा कि उसे वहीं पड़ा रहने दो, उसी रूप में, मृत और–जीवित! *(सहसा*

सुन्दरी की दृष्टि के प्रति सचेत होकर) जानता हूँ इस समय मुझे यह सब नहीं कहना चाहिए। सोचकर यही आया था कि कम से कम आज की रात ऐसी कोई बात नहीं कहूँगा जो तुम्हें अच्छी न लगे। परन्तु यह घटना इस तरह मन पर छा रही थी कि... *(चेष्टा से मुस्कुराकर)* पहले भी तो कई बार मैं समय के अनुकूल बात नहीं करता। तुम तो प्रायः यह दोष मुझ पर लगाती हो।

सुन्दरी : अच्छा है आपको इसका ध्यान तो है। *(अपने को थोड़ा सहेजकर)*...अतिथियों के आने तक शयन-कक्ष में विश्राम करना चाहेंगे?

नन्द : अतिथियों के आने तक?...नहीं। *(चेष्टा से भाव में सहजता लाकर)* तुमने कहा था न आज रात-भर विश्राम नहीं होगा?

सुन्दरी : कहा तो था, पर तब यह कहाँ सोचा था कि...?

नन्द : *(दुलारने के भाव से)* तुम्हारी कही बात तुम्हारे लिए उतना महत्त्व नहीं रखती जितना मेरे लिए। यह तुम नहीं जानतीं।

सुन्दरी : *(उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसे दृष्टि से बाँधने का प्रयत्न करती हुई)* नहीं जानती?

नन्द : जानतीं, तो ऐसा कहतीं?

सुन्दरी : *(थोड़ा उसकी ओर झुककर)* न कहती?

नन्द मुस्कुराकर उसे अपने साथ सटा लेना चाहता है। तभी बाईं ओर से शशांक आता है और द्वार के पास ठिठककर हल्के से खाँस देता है। सुन्दरी अपने को नन्द से अलग कर लेती है।

स्वर में स्वामित्व का स्पर्श लाकर।

आओ, शशांक!

शशांक : *(साभिवादन)* देवी का आदेश था कि मैं...।

सुन्दरी : हाँ, मैंने तुम्हें बुला भेजा था। बताना चाहती थी कि उद्यान में अतिथियों के बैठने की व्यवस्था कैसे करनी है। आसन इस तरह लगाने होंगे कि चार-चार, छह-छह व्यक्ति एक-एक वृक्ष के नीचे बैठ सकें। सारा जमघट एक ही स्थान पर हो, यह मैं नहीं चाहूँगी।

नन्द : *(जैसे उसे रोकने के प्रयत्न में)* सुनो...।

सुन्दरी : *(बिना उसकी ओर ध्यान दिए)* और जितने मदिरापात्र हैं, वे सब...सुनो, आज के लिए कुछ विशेष मदिराएँ प्रस्तुत की हैं?

शशांक : हाँ, देवि! कई-एक सम्मिश्रण हैं जिनका राजभवन में आज पहली बार सेवन किया जाएगा।

नन्द : *(पुनः उसी प्रयत्न में)* मैं एक बात कहना चाहता था, सुन्दरी...!

सुन्दरी : *(शशांक से अपनी बात जारी रखती हुई)* ...तो जितने मदिरापात्र हैं, वे सब कमल-ताल के चबूतरे पर रखवा देना, और कुछ आसन वहाँ भी आसपास बिछवा देना। जब सारी व्यवस्था हो जाए, तो आकर मुझे सूचित कर देना।

शशांक सिर हिलाकर दाईं ओर से चला जाता है। सुन्दरी मुड़कर नन्द की ओर देखती है।

आप कुछ कह रहे थे?

नन्द : *(अनिश्चित-से स्वर में)* हाँ-आँ...नहीं, कोई विशेष बात नहीं थी।...केवल इतना कहना चाहता था कि व्यवस्था यदि उद्यान के स्थान पर यहाँ कक्ष में ही की जाए, तो...?

सुन्दरी : यहाँ कक्ष में? कक्ष में क्या इतना स्थान है कि सारे अतिथि यहाँ आ सकें?

नन्द : *(मदिरा-कोष्ठ की ओर बढ़ता हुआ)* इतना स्थान तो नहीं है। फिर भी सोचता था कि...।

सुन्दरी : और मदिरा लेंगे? अभी मैंने कहा था, तो...।

नन्द : *(अपने को सहेजकर)* नहीं, मैं इस विचार से इधर नहीं आया।

लौटकर सुन्दरी की ओर आ जाता है।

सुन्दरी : *(ध्यान से उसे देखती हुई)* आप व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कह रहे थे।

नन्द : हाँ...कहना चाहता था कि सम्भव है उतने लोग न भी आएँ जितनों के आने की हम आशा कर रहे हैं।

सुन्दरी : यह कैसे सम्भव है? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवास्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमन्त्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रहा हो? हाँ, अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न आ सके, तो बात दूसरी है।

नन्द : मेरा अभिप्राय यही था कि सम्भव है कुछ लोगों के लिए ऐसे कारण हो जाएँ।...अभी आते हुए मैं सोमदत्त और विशाखदेव के यहाँ स्वयं होकर आया था।

सुन्दरी : *(कुछ आवेश के साथ)* आप स्वयं...उन लोगों के यहाँ होकर

आए हैं? क्यों? आपका स्वयं जाना, विशेष रूप से उनसे आने का आग्रह करने के लिए, क्या अपमान का विषय नहीं?

नन्द : मैं विशेष रूप से नहीं गया था।...गया था देवी यशोधरा से मिलने।

सुन्दरी : देवी यशोधरा से मिलने? क्यों?

नन्द : उन्होंने बुला भेजा था।

सुन्दरी : बुला भेजा था? क्यों?

नन्द : *(कुछ अव्यवस्थित)* उन्होंने कहलाया था कि कल से वे भवन में नहीं रहेंगी, बाहर भिक्षुणियों के शिविर मे चली जाएँगी, इसलिए...।

सुन्दरी : इसलिए क्या?

नन्द : चाहती हैं कि आज भवन में अन्तिम बार अपने सब बान्धवों से मिल लें।

सुन्दरी : ओह! तो उनके मन का मोह अभी छूटा नहीं!

नन्द : बात मोह की न...सम्भव है ऐसा ही हो। उन्होंने कहलाया तुम्हारे लिए भी था।

सुन्दरी : और आपने जाकर मेरी ओर से क्षमा माँग ली।

नन्द : नहीं, मैंने कह दिया कि तुमने आज़ कुछ अतिथियों को बुला रखा है, इसलिए...।

सुन्दरी : *(पास आती हुई)* अतिथियों को बुला रखा है, इतना ही? कामोत्सव की बात नहीं कह सके?

नन्द : कहने की आवश्यकता नहीं थी। वे यह बात जानती थीं।

सुन्दरी : जानती थीं न? मुझे पता था अवश्य जानती होंगी।...तो क्या कहा उन्होंने?

नन्द : कहा कि अपनी व्यस्तता के कारण तुम न भी आ सको, तो मैं तुम्हें उनका आशीर्वाद...।

सुन्दरी : *(झूले की ओर बढ़ती हुई व्यंग्यपूर्ण स्वर में)* आत्मवंचना की भी एक सीमा होती है। *(झूले पर बैठकर)* आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी, और मुझे? मन में क्या सोचती होंगी, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ।

नन्द : *(आहत स्वर में)* देखो सुन्दरी, तुम्हारे मुँह से यह सब...।

बाईं ओर से श्वेतांग आता है।

श्वेतांग : देवी के आदेश का पालन हो गया है। श्यामांग को मैं...।

सुन्दरी : *(बात काटकर)* श्यामांग का अपराध मैंने क्षमा कर दिया है। अलका को विश्वास है कि उसने जो कुछ किया है, उन्माद में

किया है। इसलिए उसके सम्बन्ध में दूसरा आदेश यह है कि इसी समय जाकर उसे वापस ले आओ और उसके उपचार की व्यवस्था करो। जब तक ठीक नहीं होता, तब तक वह यहीं रहेगा...अलका यहाँ उसकी देखभाल करती रहेगी।

श्वेतांग : *(कुछ भौंचक)* तो यहाँ उसे...?

सुन्दरी : अभ्यन्तर भाग में कर्मचारियों के जो कक्ष हैं, उन्हीं में से एक में उसे रखा जा सकता है। इस तरह अलका को उसकी देखभाल करने में सुविधा रहेगी।

श्वेतांग : परन्तु मैं कहना चाहूँगा देवि, कि यदि आज की रात...

सुन्दरी : *(अधीर स्वर में)* मैंने जो आदेश दिया है, उसका पालन करो। जाओ।

श्वेतांग सिर झुकाकर बाईं ओर से चला जाता है। नन्द गम्भीर दृष्टि से सुन्दरी की ओर देखता हुआ उसके पास आ जाता है।

नन्द : श्यामांग को क्या हुआ है?...तुम उसके अपराध की बात क्या कह रही थीं?

सुन्दरी : आप मुझे स्मरण न दिलाएँ। मैं उस बात को भूल जाना चाहती हूँ।

नन्द : परन्तु ऐसा उसने किया क्या है जिसे अलका उसका उन्माद समझती है और जिसके लिए तुमने उसे...?

सुन्दरी : *(तीखे स्वर में)* कुछ-न-कुछ तो किया ही होगा जिसके लिए मैंने उसे दंड देना उचित समझा? और अब मैंने उसे क्षमा कर दिया है, तो बात क्या समाप्त नहीं हो जाती?

नन्द : एक बात समाप्त हो जाती है। परन्तु जहाँ तक उसके उन्माद का प्रश्न है...।

सुन्दरी : उसकी भी व्यवस्था मैंने आपके सामने कर दी है। नहीं कर दी?

नन्द : श्वेतांग को तुमने आदेश दिया है, मैंने सुना है। सुनकर ही तुमसे कह रहा हूँ। तुम जानती हो श्यामांग इस भवन में अकेला ऐसा कर्मचारी है जिससे...।

सुन्दरी : *(अधीर भाव से झूले से उठती हुई)* जिससे आपको विशेष अनुराग है। जिससे बात करके आपको विशेष सुख मिलता है। जिसकी बातों में आपको अपने अन्तर्मन की छाया झलकती दिखाई देती है। जानती हूँ।

नन्द : जाने क्यों तुम सदा उस व्यक्ति को अनुदार दृष्टि से देखती हो। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं श्यामांग को...।

सुन्दरी : श्यामांग! श्यामांग! श्यामांग! क्या उस व्यक्ति को छोड़कर किसी और विषय की चर्चा नहीं की जा सकती?

नन्द पल-भर चुपचाप उसे देखता रहता है। फिर पास आकर उसके कन्धे पर हाथ रख देता है।

नन्द : बुरा मान गईं?

सुन्दरी : मैं ऐसी छोटी बातों का बुरा नहीं मानती।

नन्द : तो फिर ऐसी क्यों हो रही हो?

सुन्दरी : कैसी हो रही हूँ?

नन्द : *(उसका चेहरा हाथ में लेकर)* यह तो मैं ही बता सकता हूँ, जो तुम्हारे चेहरे का दर्पण हूँ।

सुन्दरी : *(उसका हाथ हटाती हुई)* रहने दीजिए, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।

नन्द : परन्तु यह बात मेरी नहीं, तुम्हारी कही हुई है। तुम्हें याद नहीं?

सुन्दरी : मुझे इस समय कुछ भी याद नहीं।

नन्द : यह भी याद नहीं कि तुमने आज कामोत्सव का आयोजन किया है...कि तुम्हारे कुछ अतिथि अभी आनेवाले हैं?

सुन्दरी : कुछ अतिथि? आप बार-बार यह क्यों कहना चाहते हैं कि सब अतिथि नहीं आएँगे? *(अपने को सहेजने का प्रयत्न करती हुई)* सोमदत्त और विशाखदेव इससे लज्जित नहीं हुए कि आप स्वयं उनके यहाँ कहने के लिए गए?

नन्द : *(आँखें उसकी ओर से हटाकर अपने को दूसरी तरह से व्यस्त रखने का प्रयत्न करता हुआ)* वे लज्जित थे। विशेष रूप से इसलिए कि वे नहीं आ पाएँगे।

सुन्दरी : नहीं आ पाएँगे? क्यों?

नन्द : उन्होंने क्षमा चाहते हुए दिन में ही कहला भेजा था। परन्तु मैंने उस समय तुम्हें बताना उचित नहीं समझा। सोचा कि उसकी आवश्यकता नहीं होगी। मैं उधर जाऊँगा, तो वे मेरे साथ अवश्य चले आएँगे।

सुन्दरी : परन्तु इसमें न बताने की क्या बात थी? आपने बताया होता, तो मैं कभी आपको किसी के यहाँ न जाने देती। मेरे उत्सव में लोग अनुरोध करने से आएँ, इससे उनका न आना ही अच्छा है। और दो व्यक्तियों के आने-न आने से अन्तर भी क्या पड़ता है?

बाहर से पैरों का शब्द सुनाई देता है।

शायद कुछ लोग आ रहे हैं।

घूमकर सामने के द्वार की ओर आ जाती है। द्वार से मैत्रेय अन्दर आता है।

(प्रयत्न के साथ स्वर में उत्साह लाकर) आर्य मैत्रेय! हमारे पहले अतिथि!

मैत्रेय : *(गम्भीर भाव से आगे आता हुआ)* हाँ, पहला...और शायद... *(नन्द की ओर देखकर)* एकमात्र अतिथि!

सुन्दरी सुनकर स्तब्ध-सी अपने स्थान पर खड़ी रहती है।

नन्द : *(अव्यवस्थित)* एकमात्र अतिथि? तो क्या और लोगों में से...?

मैत्रेय : जिन-जिनसे मिला हूँ, उनमें से प्रत्येक ने आने में असमर्थता प्रकट करते हुए क्षमा-याचना की है—रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईषाण, शैवाल आदि सभी ने।

नन्द : और पद्मकान्त, रुद्रदेव, लोहिताक्ष, शालिमित्र...?

मैत्रेय : लोहिताक्ष और शालिमित्र से मिलने नहीं गया। पद्मकान्त और रुद्रदेव ने भी यही कहा है कि उनकी ओर से मैं क्षमा-याचना कर लूँ...वे आज नहीं आ पाएँगे। इन सबसे मिलने के बाद फिर और किसी के यहाँ जाने को मन नहीं हुआ।

इस बीच सुन्दरी के चेहरे पर कई तरह के भाव आते हैं। अन्त में, अपने को रोक पाने में असमर्थ, वह थोड़ा आगे बाढ़ आती है।

सुन्दरी : परन्तु इन सबसे कहने जाने की आवश्यकता आपको क्यों हुई? क्या आप पहले से जानते थे कि ये लोग नहीं आएँगे?

मैत्रेय : *(एक-एक बार दोनों की ओर देखकर)* इसका उत्तर कुमार दे सकते हैं।

मदिराकोष्ठ की ओर चला जाता है और चषक में मदिरा डालने लगता है : सुन्दरी थोड़ा और बढ़कर नन्द के पास आ जाती है।

सुन्दरी : तो क्या इन सबने आपको सन्देश भेजा था कि ये नहीं आएँगे?

नन्द : *(आँखें बचाता हुआ)* सबने तो नहीं, पर इनमें से कई लोगों ने सन्देश भेजा था।

सुन्दरी : और आपने इसकी चर्चा तक मुझसे करना आवश्यक नहीं समझा?

नन्द : मैं तुम्हारे उत्साह में बाधा नहीं डालना चाहता था। सोचा था कि इनमें से अधिकांश लोग एक बार जाकर कहने से...।

सुन्दरी : कितना मान होता मेरा...कि जाकर कहने से जो लोग आते,

उनका मुझे इस घर में स्वागत करना पड़ता। आपने यह नहीं सोचा कि मैं...कि मैं...?

बाहर से फिर पैरों का शब्द सुनाई देता है। नन्द अनायास सामने के द्वार की ओर बढ़ जाता है। मैत्रेय भरा हुआ चषक होंठों के पास रोके प्रतीक्षा करता है।

नन्द : शायद कुछ लोग आ रहे हैं।

द्वार से निकलकर गवाक्ष के पास चला जाता है। सुन्दरी आँखों में अनिश्चय का भाव लिये उस ओर देखती है।

सुन्दरी : कौन लोग हैं?

नन्द सिर झुकाए गवाक्ष के पास से हट आता है।

नन्द : अतिथि नहीं हैं।

सुन्दरी : तो कौन लोग हैं?

नन्द : अपने ही कुछ कर्मचारी हैं। श्वेतांग, बीजगुप्त और नागदास।

सुन्दरी : ये लोग अपने कार्य पर नहीं हैं?

नन्द : कार्य पर ही हैं। श्यामांग को साथ के कर्मचारियों के कक्ष में ला रहे हैं। तुमने अभी श्वेतांग को आदेश दिया था न!

सुन्दरी : *(हताश भाव से)* ओह...वह आदेश!

मैत्रेय बढ़कर नन्द के पास आ जाता है।

मैत्रेय : मैं दिन-भर सोचता रहा कि आपसे कहूँ। परन्तु कह नहीं पाया। मेरा विचार था कि कामोत्सव का आयोजन यदि आज के स्थान पर कल रखा जा सकता, तो...।

सुन्दरी : *(सहसा तमककर)* कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ...क्यों? मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।

नन्द : *(उसकी ओर बढ़ता हुआ)* देखो, इस तरह अव्यवस्थित नहीं होते।

सुन्दरी : मैं अव्यवस्थित नहीं हूँ। किसी का कोई भी षड्यन्त्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता।

नन्द : षड्यन्त्र इसमें कोई नहीं है, सुन्दरी...!

सुन्दरी : षड्यन्त्र नहीं, तो क्या है? *(मैत्रेय की ओर देखकर)* और इस षड्यन्त्र की प्रेरणा कहाँ से आई है, यह भी मैं अच्छी तरह जानती हूँ।

मैत्रेय आहत दृष्टि से पहले उसकी ओर, फिर नन्द की ओर देखता है। फिर भरा हुआ चषक ज्यों-का-त्यों रख देता है। नन्द की आँखें झुक जाती हैं।

मैत्रेय : मैं आज्ञा चाहूँगा, कुमार! और रुककर मैं राजकुमारी के उद्वेग का कारण नहीं बनना चाहता।

नन्द : *(स्थिति को सँभालने की चेष्टा में)* ठहरो, मैत्रेय! तुम्हें सोचना चाहिए कि सुन्दरी के उद्वेग का वास्तविक कारण...।

सुन्दरी : *(अपने पर अधिकार खोकर)* अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ। और किसी को मैं अधिकार नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिन-जिनके यहाँ होकर आए हैं, उन सबके यहाँ एक बार और होते जाएँ। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए वे किसी कल की प्रतीक्षा में न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं...।

झटके के साथ बाईं ओर से चली जाती है।

नन्द : *(आहत स्वर में)* ठहरो, सुन्दरी! बात तो सुनो...।

दो-एक पग उसके पीछे जाकर हताश भाव से आगे के दीपाधार की ओर लौट आता है।

(बुदबुदाता हुआ) नहीं सुनोगी तुम...कभी नहीं सुनोगी।

पल-भर आँखें मूँदे रहता है। मैत्रेय धीरे से चलकर उसके पास आ जाता है।

मैत्रेय : मैं आज्ञा चाहूँगा, कुमार!

नन्द : देखो, मैत्रेय...!

मैत्रेय : मैं समझ सकता हूँ, कुमार!...अच्छा...।

अवसादपूर्ण भाव से सिर हिलाकर सामने के द्वार से चला जाता है। नन्द की आँखें दीपाधार की पुरुष-मूर्ति पर स्थिर हो रहती हैं।

नन्द : *(हल्की उसाँस के साथ)* नहीं समझ सकते, मैत्रेय...तुम कुछ भी नहीं समझ सकते। मैं स्वयं नहीं समझ सकता, तो तुम भला कैसे समझ सकते हो!

जाकर थका-सा चबूतरे पर बैठ जाता है। प्रकाश धीरे-धीरे मन्द होता है।

अंक : दो

वही कक्ष। रात का अन्तिम पहर।

सुन्दरी झूले में सोई है। नन्द अस्थिर भाव से कक्ष में टहल रहा है। अँधेरे में उसकी आकृति एक चलती-फिरती छाया-सी दिखाई देती है।

नेपथ्य से श्यामांग का ज्वर-प्रलाप सुनाई दे रहा है। नन्द बोलता है, तो नेपथ्य का स्वर धीमा पड़ जाता है। बीच-बीच में दोनों स्वर एक-दूसरे को काटते चलते हैं।

नेपथ्य (श्यामांग) : कहाँ हूँ मैं? क्यों हूँ मैं यहाँ?...मेरा स्वर, पानी की लहरों का स्वर, सब-कुछ एक आवर्त में घूम रहा है।...एक चील...एक चील सब-कुछ झपटकर लिये जा रही है। इसे रोको। इसे रोको...।

नन्द : आधी रात से अब तक यह स्वर नहीं रुका। सोचता था यह रुके, तो कुछ देर सोने का प्रयत्न करूँ। परन्तु यह स्वर जैसे रात पर ही नहीं, मेरी चेतना पर भी पहरा दे रहा है। यही मुझे भी सोने नहीं देता।

नेपथ्य (श्यामांग) : यह चील मुझे लिये जा रही है...जाने कहाँ! इसे रोको।...नहीं, चील नहीं है यह। एक छाया है। काले अँधेरे कूप में भटकती छाया। अकेली...।

नन्द : *(पल-भर के लिए सुन्दरी के पास रुककर)* अच्छा है तुम्हारी नींद नहीं खुली। तुम जाग जातीं, तो एक क्षण के लिए भी इस स्वर को सहन न कर पातीं। *(उसके पास से हटता हुआ)* चाहतीं कि जैसे भी हो, इसे रोक दिया जाए। परन्तु किस आदेश से रोकता इसे मैं?

नेपथ्य (श्यामांग) : अन्धकूप में पानी नहीं है। इसका पानी कहाँ गया? इसका पानी कौन ले गया? मुझे पानी ला दो...पानी!

नेपथ्य (अलका) : यह रहा पानी। लो, पी लो थोड़ा सा।

नेपथ्य (श्यामांग) : कहाँ है पानी?...*(मूर्च्छित होता स्वर)* नहीं, यह पानी नहीं। यह पानी नहीं...।

नन्द : *(दाईं ओर के द्वार के पास रुककर)* अलका!

नेपथ्य (अलका) : कुमार!

नन्द : देखो, यहाँ कक्ष में अँधेरा है। दीपक जलाने के लिए अग्निकाष्ठ ला दो।

नेपथ्य (अलका) : अभी ला रही हूँ।

नन्द : *(अपने से)*

स्वर रुक गया है। लगता है मूर्च्छित हो गया है वह।

अलका अग्निकाष्ठ लिये हुए आती है। दीपाधार की ओर बढ़ने लगती है, तो नन्द अग्निकाष्ठ उससे लेने के लिए हाथ बढ़ा देता है।

लाओ, मुझे दो।

अलका : मैं जला देती हूँ।

नन्द : नहीं, मुझे दे दो।*(अग्निकाष्ठ उसके हाथ से लेकर)* लगता है तुम पूरी रात नहीं सोईं। श्यामांग रात-भर प्रलाप करता रहा है।

अलका : तो इसका अर्थ है कि आप भी रात-भर...?

नन्द : मुझे नींद नहीं आई।...तुम जाओ, श्यामांग को तुम्हारी आवश्यकता होगी।

अलका : वह इस समय मूर्च्छित है। यदि देवी सुन्दरी।

नन्द : वह अभी सो रही है। नींद देर से आई थी, इसलिए शायद देर से ही जागेगी। तुम जाओ, श्यामांग को फिर भी तुम्हारी आवश्यकता पड़ सकती है।

अलका सिर हिलाकर चली जाती है। नन्द पीछे के दीपाधार के दो-एक दीपक जला देता है। फिर अग्निकाष्ठ बुझाकर दीपाधार के नीचे रख देता है। उजाला हो जाने से कक्ष की धुँधली रेखाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। झूले में बिछावन अस्त-व्यस्त है। दो-एक तकिए नीचे इधर-उधर पड़े हैं। चबूतरे पर तथा आसपास कुछ टूटी हुई फूल-मालाएँ बिखरी हैं। एक मदिरा-पात्र नीचे औंधा पड़ा है। लगता है वहाँ की कई-एक वस्तुएँ आवेश में इधर-उधर फेंकी गई हैं। नन्द एक टूटी हुई फूल-माला चबूतरे से उठा लेता है।

(माला को उँगलियों में उलझाता हुआ) बीत जाता है सब-कुछ। आशंका तभी तक रहती है जब तक कि वह अभी अनागत में होता है। *(सुन्दरी की ओर देखकर)* कितना विक्षोभ था सोने से पहले इसके मन में! कुछ भी तो नहीं देखा इसने कि क्या कहाँ गिरा, क्या कैसे टूट गया!...ओह कैसा-कैसा लगा था उस समय! मन होता था कि...परन्तु इसका विक्षोभ अस्वाभाविक भी तो नहीं था। पहले दिन-भर के उत्साह की थकान, फिर अतिथियों के न आने की निराशा। फिर भी इतना तो इसे सोचना चाहिए था कि मैंने इसे निराशा से बचाए रखने का ही तो प्रयत्न किया था।...कह नहीं सकता कौन सा उन्माद अधिक भयानक है—वह जो चेतना की ग्रन्थियों को तोड़ देता है, या वह जो उनमें एक ज्वार ले आता है? *(पल-भर पास से सुन्दरी को देखता रहकर)* सच कभी-कभी कितना अवसाद घिर आता है मन में! *(हल्की उसाँस के साथ)* परन्तु फिर तुम्हारी आँखों में देखते ही अवसाद की धुन्ध न जाने कहाँ छँट जाती है।...शायद उन्माद की एक और भी स्थिति है जो मुझमें है। कुछ है जो चेतना पर कुंडली मारे बैठा रहता है, और मुझे अपने से मुक्त नहीं होने देता। मैं उससे मुक्त होना चाहता हूँ...परन्तु क्या सचमुच मुक्त होना चाहता हूँ? क्या चाहता हूँ, यह क्यों कभी मन में स्पष्ट नहीं हो पाता? *(पुनः सुन्दरी की ओर देखकर)* उस समय तुम क्रोध में थीं, तो कितनी उग्र, कितनी कठोर, कितनी प्रखर लग रही थीं! इस समय सो रही हो, तो कितनी करुण, कितनी निर्भर, कितनी अबोध लग रही हो। बिल्कुल उस मृग की तरह जिसे कल वन में पड़ा छोड़ आया था। जब तक वह चुनौती देता दौड़ रहा था, तब तक वह भी कितना प्रखर था! परन्तु उसके बाद...।

पल-भर आँखें मूँदकर अपने को सहेजने का प्रयत्न करता है। सुन्दरी हल्की सी अँगड़ाई लेकर आँखें खोल लेती है।

सुन्दरी : आप अभी तक इस कक्ष में हैं?...अभी प्रभात नहीं हुआ?

नन्द : नहीं, तुम उठ क्यों गईं? अभी सो रहो।

सुन्दरी दो-एक तकियों के सहारे अधलेटी-सी बैठकर एक अलसाई दृष्टि चारों ओर डालती है।

सुन्दरी : ये दीपक रात-भर जलते रहे? बुझे नहीं?

नन्द : बुझ गए थे। मैंने अभी जलाए हैं।

सुन्दरी : आपने जलाए हैं? क्यों? दास-दासियाँ...?

नन्द : मैं नहीं चाहता कोई भी इस समय यहाँ की अव्यवस्था को देखे।

सुन्दरी : आप सोए नहीं?

नन्द : चेष्टा की थी। नींद नहीं आई।

उसके पास आ जाता है। सुन्दरी उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसे पास बिठा लेती है।

सुन्दरी : मेरे प्रति मन में बहुत क्रोध था?

नन्द : तुम्हारे प्रति क्रोध? मेरे मन में? ऐसा तुम सोच सकती हो?

सुन्दरी : कभी-कभी चाहती हूँ सोच सकूँ।

तकिए से हटकर उससे टेक लगा लेती है।

सच आप कभी मुझ पर क्रोध क्यों नहीं करते? *(उसके बालों से खेलती हुई)* इतनी बार इतनी तरह के कारण होते हैं, फिर भी...?

नन्द : सोचता हूँ यह सब सहेज देना ठीक होगा।

हल्के से अपने को उससे अलग करके वहाँ से उठ पड़ता है।

दास-दासियाँ सब-कुछ इस तरह पड़ा देखेंगी, तो...।

सुन्दरी : तो क्या होगा? हमारे अन्तरंग जीवन को लेकर उन्हें कुछ भी सोचने का अधिकार नहीं है।

नन्द : *(बिखरी वस्तुओं को सहेजता हुआ)* कहने का अधिकार न हो, परन्तु सोचने का अधिकार तो हर एक को रहता ही है।

सुन्दरी : *(हल्की हँसी के साथ)* कितना अच्छा लग रहा है!

नन्द : क्या?

सुन्दरी : आपका यह सब सहेजना। मन होता है कि...।

नन्द : क्या मन होता है?

सुन्दरी : कुछ नहीं *(थोड़ा झुककर औंधे मदिरापात्र को हाथ से हिलाती हुई)* यह मदिरापात्र औंधा कैसे हो गया?

नन्द : तुम नहीं जानतीं?

मदिरापात्र उठाने लगता है, तो सुन्दरी उसका हाथ पकड़कर उठ जाती है।

सुन्दरी : मुझे बहुत खेद है।

नन्द : किस बात के लिए?

सुन्दरी : *(मदिरापात्र उसके हाथ से लेकर मदिराकोष्ठ की ओर जाती हुई)* रात के अपने व्यवहार के लिए।

मदिरापात्र रखकर उसकी ओर लौट आती है। पास आकर उसके दोनों हाथ अपने हाथों में ले लेती है।

सचमुच बहुत खेद है।

नन्द : तुम व्यर्थ ही मन में खेद ला रही हो। उस समय तुम बहुत विक्षुब्ध थीं। तुम्हारी मनःस्थिति में मैं होता, तो शायद मैं भी वैसा ही करता।

सुन्दरी : आप कभी न करते। आपको मैं जानती नहीं हूँ?

नन्द : जानती हो, तो यह सब किसलिए कह रही हो?

सुन्दरी : *(उसे दृष्टि से बाँधती हुई)* ऐसे ही। कहना अच्छा लगता है। कभी-कभी सोचती हूँ कि...।

नन्द : क्या सोचती हो?

सुन्दरी : कि कभी आप मुझसे रुष्ट हो जाएँ, दो-एक रातें मेरे कक्ष में न आएँ, तो कैसा लगेगा?

नन्द : अच्छा लगेगा?

सुन्दरी : नहीं, फिर भी चाहती हूँ कि...।

नेपथ्य से प्रभात की शंखध्वनि सुनाई देती है।

...प्रभात की शंखध्वनि! तो आपने पूरी रात बिना सोये ही काट दी!

नन्द : इससे क्या होता है? सोने के लिए क्या और रातें नहीं आएँगी?

सुन्दरी : *(उठकर शृंगार-कोष्ठ की ओर जाती हुई)* आएँगी तो, परन्तु... *(पल-भर दर्पण में अपने को देखती रहकर)* सोकर उठने पर अपना चेहरा कैसा लगता है!

नन्द : कैसा लगता है?

सुन्दरी : इसमें कान्ति है ही नहीं। आपको नहीं लगता?

नन्द : ना, मुझे नहीं लगता। मुझे तो तुम...

सुन्दरी भौंहें उठाकर उसकी ओर देखती है।

...बल्कि और भी सुन्दर लगती हो।

सुन्दरी : ये सब कहने की बातें हैं। अच्छा, आप थोड़ी देर बाहर चले जाएँ। मैं अलका को बुलाकर प्रसाधन कर लूँ।

नन्द : *(प्रगल्भ भाव से)* मैं यहाँ रहकर देखता रहूँ, तो तुम्हें आपत्ति है?

सुन्दरी : हाँ, है। *(पास आकर उसे सामने के द्वार की ओर भेजने का प्रयत्न करती हुई)* जाइए आप।

नन्द उसके होंठों पर झुकना चाहता है, परन्तु वह मुँह दूसरी ओर हटा लेती है।

जाइए न!

नन्द उसी प्रगल्भ भाव से उसके बालों को सहलाकर बाहर गवाक्ष के पास चला जाता है और दोनों बाँहें गवाक्ष पर फैलाकर प्रत्यूष के हल्के उजाले को देखने लगता है। सुन्दरी पुनः दर्पण के पास जाकर अलग-अलग कोण से चेहरा उसमें देखती है।

अलका!

दाईं ओर से नीहारिका आती है।

नीहारिका : देवि!

सुन्दरी : नीहारिका!...अलका कहाँ है?

नीहारिका : अभी-अभी बाहर गई है। कह गई है कि आपका कोई आदेश हो, तो मैं...।

सुन्दरी : परन्तु गई कहाँ है?

नीहारिका : कह रही थी कविराज से कुछ पूछने जा रही है। श्यामांग रात भर...।

सुन्दरी : ओह, श्यामांग! मैं भूल गई थी कि मैंने परिचर्या के लिए उसे यहाँ बुला लिया है।...इस समय मुझे श्रृंगार-प्रसाधन के लिए अलका की आवश्यकता थी। तू जा, तुझसे वह काम नहीं होगा।

नीहारिका : आप आदेश दें, तो मैं जाकर...!

सुन्दरी : नहीं, उसे श्यामांग का उपचार करने दे। मैं अपना प्रसाधन स्वयं कर लूँगी।

नीहारिका सिर झुकाकर दाईं ओर से चली जाती है। सुन्दरी एक बार घूमकर नन्द की ओर देख लेती है। फिर मुस्कुराकर दर्पण में देखती हुई गुनगुनाने लगती है :

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः, शोकेन मोहेन च पीड्यमानः...।
(पुनः नन्द की ओर देखकर) सुनिए।

नन्द के उत्तर न देने से फिर गवाक्ष की ओर देख लेती है।

लगता है बाहर जाकर किसी का कुछ खो गया है।

नन्द गवाक्ष के पास से हट आता है।

नन्द : मैं दूर जंगल के घने वृक्षों को देख रहा था।

सुन्दरी : क्यों? प्रभात होते ही फिर आखेट का उत्साह जाग आया?

नन्द : नहीं, उस मृग की बात सोच रहा था। सोच रहा था कि घने वृक्षों की ओट में पड़ा वह...।

सुन्दरी : *(पुनः दर्पण के पास आकर)* यहाँ आइए।

नन्द : ...वहाँ पड़ा कल वह कैसा लग रहा था...! और इस समय प्रभात का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा—कोमल, अक्षत और निर्जीव।

सुन्दरी : *(अपने में व्यस्त)* देखिए, अलका नहीं है। मुझे अपना प्रसाधन स्वयं करना होगा।

नन्द : *(अपने में व्यस्त)* लगा कि घने वृक्षों की ओट में वह सदा से इसी तरह अटका है—इस आशा में कि कोई उसे वहाँ पड़ा देख लेगा और बाँहों में उठाकर ले जाएगा...।

सुन्दरी : आपने सुना है मैंने क्या कहा है?

नन्द : *(अपने को सहेजकर)* क्या कहा है?

सुन्दरी : कहा है कि अलका नहीं है, मुझे अपना प्रसाधन स्वयं करना है। इसलिए आपको यहाँ रहकर मेरी सहायता करनी है।

नन्द : परन्तु अभी तो तुमने कहा था कि...।

सुन्दरी : वह तो तब कहा था। अब कह रही हूँ कि आपको यहाँ रहना है और मेरी सहायता करनी है।

दर्पण में देखती हुई बाल खोलने लगती है।

नन्द : और अभी थोड़ी देर में फिर कह दोगी कि...।

सुन्दरी बाल कन्धे पर फैलाकर मदिर भाव से उसकी ओर देखती है।

सुन्दरी : बाधा नहीं डालते। *(पुनः दर्पण में देखती हुई)* एक बात कहूँ?

नन्द : कहो।

सुन्दरी : आपको माननी होगी।

नन्द : तुम्हारी बात मैं कब नहीं मानता?

सुन्दरी : वचन देना होगा कि कल रात जो कुछ हुआ, उसे बिल्कुल भूल जाएँगे।

नन्द : तुम्हें लगता है कि कल रात ऐसा कुछ हुआ है?

सुन्दरी : और उस विषय में सोचेंगे भी नहीं।

नन्द : यह तुम अपने से क्यों नहीं कहतीं जो अब भी उस विषय में सोच रही हो?

सुन्दरी : और मुझे कभी उसकी याद भी नहीं दिलाएँगे।

नन्द : मुझे याद रहेगी, तो न याद दिलाऊँगा?

सुन्दरी : और आज दिन-भर प्रसन्न रहेंगे।

नन्द : *(प्रयत्न के साथ)* हाँ, प्रसन्न क्यों नहीं रहूँगा?

सुन्दरी : प्रातः उठते ही मृग की बात सोचेंगे, तो कैसे प्रसन्न रहेंगे?

नन्द पास आकर दोनों हाथ उसके कन्धों पर रख देता है।

नन्द : देखो, एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुन्दरी : किस बात का?

नन्द : कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ—तुम्हारी सुन्दरता पर या चातुरी पर।

सुन्दरी कृत्रिम रोष के साथ उठ खड़ी होती है।

सुन्दरी : आप मुझे चतुर कहते हैं?

नन्द : नहीं हो तुम?

सुन्दरी : *(जैसे बहुत भोलेपन से)* नहीं तो।

नन्द उसे बाँहों में भर लेना चाहता है, परन्तु वह छिटककर उससे अलग हो जाती है।

ना ना। *(व्यस्ततापूर्वक ढूँढ़ती हुई)* चन्दनलेप कहाँ है? अलका ने न जाने...।

नन्द झुककर नीचे से गिरी हुई कटोरी उठा लेता है और सुन्दरी की ओर बढ़ा देता है।

नन्द : चन्दनलेप यहाँ है। यह लो।

सुन्दरी कटोरी निराश भाव से रख देती है।

सुन्दरी : यह तो ख़ाली है। जो थोड़ा-बहुत लेप है, वह भी सूखा है।

नन्द : याद नहीं कल रात तुम्हीं ने...?

सुन्दरी : *(आखों में रोष लाकर)* फिर कल की बात करते हैं?

नन्द : *(मुस्कुराकर)* अच्छा, अब नहीं करूँगा।

सुन्दरी : परन्तु अब जो की...इसके लिए दंड भुगतना पड़ेगा।

नन्द : क्या दंड होगा?

सुन्दरी : *(जैसे सोचती हुई)* दंड होगा...कि आपको...दर्पण लेकर...वहाँ खड़े होना होगा। यहाँ उजाला नहीं है, मैं अपने को ठीक से देख नहीं पा रही।

नन्द : बस इतना ही?

दर्पण उठाने लगता है, परन्तु सुन्दरी उसका हाथ रोक लेती है।

सुन्दरी : नहीं, इतना ही नहीं। इसके अतिरिक्त आज दिन-भर कहीं जाना नहीं होगा—आखेट के लिए भी नहीं। यहाँ मेरे पास रहना होगा।

नन्द : सारा दिन?

सुन्दरी : आपत्ति करेंगे, तो दंड और बढ़ जाएगा।

नन्द : मैंने आपत्ति कहाँ की है?

सुन्दरी : तो लीजिए दर्पण।...नहीं, ठहरिए। *(चन्दनलेप की कटोरी हाथ में लेकर)* लेप सूख गया है, विशेषक कैसे बनाऊँगी? *(प्रगल्भ दृष्टि से उसे देखकर)* इसे भिगो लाएँगे?

नन्द : *(अन्तर के अवरोध पर वश पाकर)* क्यों नहीं भिगो लाऊँगा? *(अधिक सहज भाव से)* आपत्ति करूँगा, तो...।

सुन्दरी : फिर वही बात?

नन्द : *(और अधिक सहज भाव से)* अच्छा, यह भी नहीं कहूँगा।

कटोरी लेकर दाईं ओर से चला जाता है। सुन्दरी उसे जाते देखकर पीछे से मुस्कुराती है।

सुन्दरी : *(दबी सी हँसी के साथ)* यह भी नहीं कहेंगे! और क्या-क्या नहीं कहेंगे?

नन्द लेप को तीली से हिलाता हुआ लौट आता है।

नन्द : *(पास आकर)* यह लो।

सुन्दरी : *(कटोरी उसके हाथ से लेकर)* पता है लोग क्या कहते हैं?

नन्द : क्या कहते हैं आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नन्द : इसमें झूठ क्या है?

सुन्दरी : झूठ नहीं है? सच है यह?

नन्द : यक्षिणी हो या नहीं, मैं नहीं कह सकता, परन्तु मानवी तुम नहीं हो। *(हल्के से उसकी ठोड़ी ऊपर उठाकर)* ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

सुन्दरी : नहीं होता? मानवी का रूप बहुत देखा है?

दर्पण आधार से उठाकर उसकी ओर बढ़ा देती है।

लीजिए दर्पण।...जाकर सामने खड़े हो जाइए।

नन्द दर्पण लेकर कुछ दूर जा खड़ा होता है।

इस तरह नहीं।

पास जाकर दर्पण उसके हृदय से सटा देती है।

इस तरह।

फिर लौटकर दर्पण में देखती हुई चन्दनलेप की कटोरी हाथ में ले लेती है।

अब मुझे विशेषक बनाने दीजिए।

विशेषक बनाने के लिए हाथ माथे तक ले जाती है। दूर से भिक्षु-भिक्षुणियों का समवेत स्वर सुनाई देने लगता है। उसका हाथ पल-भर रुका रहता है। स्वर क्रमशः पास आता जाता है।

नेपथ्य : *(समवेत)*

धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि

पृष्ठभूमि में यह स्वर निरन्तर चलता रहता है। नन्द का भाव अन्तर्मुख हो जाता है। उसके हाथों में दर्पण स्थिर नहीं रहता। सुन्दरी का हाथ माथे से हट आता है।

सुन्दरी : दर्पण हिल गया। आप क्या कुछ समय स्थिर नहीं रह सकते?

नन्द : *(अपने को थोड़ा सहेजकर दर्पण को स्थिर रखने का प्रयत्न करता हुआ)* अब ठीक है?

सुन्दरी : नहीं।

नन्द : *(और प्रयत्न से दर्पण को सँभालकर)*

अब?

सुन्दरी : अब भी नहीं।

नन्द : *(अपना ध्यान पूरी तरह दर्पण पर केन्द्रित करके)* अब?

सुन्दरी : अब कुछ ठीक है। देखिए, अब नहीं हिलिएगा।

पुनः विशेषक बनाने का प्रयत्न करती है। परन्तु तभी हाथ रोककर रोष-भरी दृष्टि से नन्द को देखती हुई अपने स्थान से उठ जाती है।

रख दीजिए दर्पण!

नन्द : क्यों? अब क्या हुआ? इस बार तो दर्पण नहीं हिला।

सुन्दरी : हिला नहीं, आपकी साँस से धुँधला गया है। आप जान-बूझकर...।

नन्द : मैंने जान-बूझकर कुछ नहीं किया। *(उत्तरीय से दर्पण पोंछकर)* अच्छा, अब बनाओ विशेषक।

सुन्दरी : मैंने कहा है दर्पण रख दीजिए। मुझे विशेषक नहीं बनाना है।

बढ़कर चबूतरे की ओर चली जाती है।

नन्द : *(दर्पण का मुँह उसकी ओर करके)* जब तक विशेषक नहीं बनाओगी, मैं तुम्हें दर्पण की छाया से बाहर नहीं जाने दूँगा।

सुन्दरी दर्पण के सामने से हटना चाहती है, परन्तु वह निरन्तर दर्पण का मुँह उसकी ओर किए रहता है।

अब भी दर्पण की छाया तुम्हारे ऊपर है और तुम्हारी छाया दर्पण के अन्दर है।

सुन्दरी : आप दर्पण रख दीजिए। मुझे विशेषक नहीं बनाना है, नहीं बनाना है, नहीं बनाना है।

परे चली जाती है। नन्द दर्पण ऊँचा उठाने लगता है कि एकाएक भिक्षुओं का स्वर रुक जाने से हाथों में दर्पण का सन्तुलन बना नहीं रहता और वह गिरकर टूट जाता है।

सुन्दरी : *(सहसा स्तब्ध होकर)* दर्पण...टूट गया?

नन्द भी स्तब्ध-सा एक बार सुन्दरी को, फिर टूटे हुए दर्पण को देखता है। तभी भिक्षु-भिक्षुणियों का समवेत स्वर पुनः आरम्भ हो जाता है और क्रमशः दूर हटता जाता है।

नेपथ्य : *(समवेत)*

धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि।

नन्द कुछ पल उसी भाव से अपने स्थान पर खड़ा रहता है। फिर बढ़कर सुन्दरी के पास आ जाता है।

नन्द : मुझे खेद है, सुन्दरी...।

समवेत स्वर धीमा पड़ता हुआ विलीन हो जाता है।

(उसके कन्धे पर हाथ रखकर) सुन्दरी!

सुन्दरी : *(उसका हाथ हटाकर)* आप अपने कक्ष में चले जाएँ। मैं कुछ देर एकान्त में रहना चाहूँगी।

नन्द : देखो...।

सुन्दरी : मैंने कहा है न मैं कुछ देर एकान्त में रहना चाहूँगी?

नन्द : मुझे यहाँ से जाने का अधिकार नहीं है। मैं दिन-भर तुम्हारे पास रहने का वचन दे चुका हूँ।

सुन्दरी : वचन मुझे दिया था न? अब मेरी ओर से आप वचन-मुक्त हैं।

नन्द : परन्तु मैं नहीं चाहता वचन-मुक्त होना।

सुन्दरी पल-भर आँखें मूँदे रहती है।

(जैसे स्थिति को सँभालने की चेष्टा में) सुनो...जो टूटा है, वह तो कच्चे रजत का दर्पण है। तुम कहा करती हो न कि तुम्हारा वास्तविक दर्पण तो...।

सुन्दरी : उस बात को जाने दीजिए।

नन्द : *(उसकी पीठ पर हाथ रखकर)* अच्छा आओ, वहाँ चलकर बैठो।

सुन्दरी : *(उसका हाथ हटाती हुई)* मैं एक बात जानना चाहती हूँ।

नन्द : वहाँ आ जाओ। वहीं बात करेंगे।

उसकी पीठ पर हाथ रखे उसे मत्स्याकार आसन पर ले आता है।

बताओ, क्या जानना चाहती हो?

सुन्दरी : जानना चाहती हूँ कि दर्पण का टूटना क्या अकारण ही था या आप उस समय कोई और बात सोच रहे थे?

नन्द : क्रोध मन से निकाल दो। मैं अभी अपने हाथ से तुम्हारे माथे पर विशेषक बना देता हूँ।

चन्दन लेप की कटोरी लाने शृंगार-कोष्ठ की ओर जाता है।

सुन्दरी : आपने मेरी बात का उत्तर नहीं दिया।

नन्द : तुम कैसे कहती हो कि मैं उस समय कोई और बात सोच रहा था?

सुन्दरी : आप उस समय उनकी बात नहीं सोच रहे थे?

नन्द : किनकी?

सुन्दरी : जिन्होंने आज भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण की है?

नन्द : केवल इसलिए कि भिक्षुओं की टोली उस समय भवन के बाहर रुकी थी?

सुन्दरी : और इसलिए कि ज्योंही भिक्षुओं का स्वर रुका, त्योंही...।

नन्द : यह तुम्हारे मन का भ्रम है, और कुछ नहीं। बात केवल इतनी है कि मैंने दर्पण अधिक ऊँचा उठा दिया था जिससे उसका सन्तुलन बना न रह सका।

सुन्दरी : सच कह रहे हैं?

नन्द : *(थोड़ा अव्यवस्थित)* तुमसे झूठ क्यों कहूँगा?

सुन्दरी खोजती-सी दृष्टि से उसकी ओर देखती हुई आसन से उठ पड़ती है।

सुन्दरी : आप यह नहीं सोच रहे थे कि भिक्षुओं की टोली में भिक्षुणी यशोधरा भी होंगी...कि आपसे भिक्षा लेने के लिए वे ही इस द्वार पर रुकी होंगी?

नन्द : मैं तो नहीं, पर शायद तुम यह बात सोच रही थीं। इसीलिए तुम्हें लगा कि मैं भी...।

सुन्दरी : आप मुझसे कहते हैं कि मैं यह बात सोच रही थी? मुझे यही बात तो सोचनी थी उस समय!

टूटे दर्पण के पास आ जाती है।

इधर आइए।

नन्द अपने पर वश पाने का प्रयत्न करता हुआ चन्दनलेप की कटोरी लिये उसके पास आ जाता है।

इसमें मुझे देखिए। कैसा लगता है मेरा टूटा प्रतिबिम्ब?

नन्द : मैं उसमें तुम्हें क्यों देखूँ? बाहर जो देख रहा हूँ।

सुन्दरी : बाहर भी ऐसे ही अपरूप लगती हूँ?

नन्द : टूटे दर्पण में अपने को देखना बहुत अच्छा लग रहा है?

सुन्दरी : अच्छा लग रहा है! यह दो भागों में बँटा चेहरा—खंडित मस्तक, खंडित सीमान्त...।

नन्द : *(उसके सिर पर हाथ रखकर चेहरा अपनी ओर उठाने के प्रयत्न में)* केवल यदि यह अखंड रूप तुम अपनी आँखों से देख पातीं...।

सुन्दरी पल-भर उसकी ओर देखती रहती है।

सुन्दरी : आप कह रहे थे न अपने हाथों से मेरा प्रसाधन करेंगे?

नन्द : तुम ऐसे ही रुकी रहो। मैं अभी क्षण-भर में तुम्हारे माथे पर पूरा आकाश चित्रित कर दूँगा।

बीच में सूर्य और दोनों ओर सोम और बृहस्पति। ऊपर-नीचे शेष चारों ग्रह तथा कर्णफूलों के पास राहु और केतु...।

सुन्दरी : आप मेरा सारा प्रसाधन करेंगे? बाल बाँधेंगे? बाँहों पर गोरोचन लगाएँगे? शरीर पर सुरभि-मर्दन करेंगे?

नन्द : *(स्थिर दृष्टि से उसे देखता हुआ)* क्यों नहीं करूँगा?

सुन्दरी अपना माथा उसकी ओर बढ़ा देती है।

सुन्दरी : अच्छा तो पहले विशेषक बना दीजिए।

नन्द थोड़ा लेप उँगली पर लेकर उसके माथे पर विशेषक बनाने लगता है। तभी हवा से सामने का द्वार खुल जाता है।

नन्द : *(चौंककर) कोई आया है?*

बाहर से केवल हवा का शब्द सुनाई देता है।

सुन्दरी : आया कोई नहीं है। केवल हवा है।

नन्द : ऐसी हवा?...ठहरो, मैं किवाड़ बन्द कर दूँ।

लेप रखकर द्वार की ओर जाता है। बाहर से हवा के साथ ऐसा शब्द सुनाई देता है जैसे कई कबूतर एक-साथ गुटर-गूँ गुटर-गूँ कर रहे हों। वह किवाड़ बन्द करता है, तो शब्द रुक जाता है।

जाने ऐसी हवा एकाएक कैसे चलने लगी!

सुन्दरी : हवा भी किसी से पूछकर चलती है क्या?

नन्द : तुमने सुना हवा के अतिरिक्त और कैसा स्वर सुनाई दिया?

सुन्दरी : हवा से डरे हुए कबूतर हैं। पहले नहीं बोलते क्या?

नन्द : परन्तु यह स्वर बहुत असाधारण था। ठहरो, फिर से सुनो...।

पुनः किवाड़ खोलता है, तो वैसा शब्द सुनाई नहीं देता। केवल लगता है जैसे एक खुटकबढ़ैया सन्नाटे में लगातार चोंच से लकड़ी पर प्रहार कर रही हो।

यह क्या? जितने आकस्मिक ढंग से वह स्वर सुनाई दिया, उतने ही आकस्मिक ढंग से विलीन भी हो गया! और उसके स्थान पर कुट्-कुट् का यह शब्द...।

सुन्दरी : आपका मन इतना कच्चा है, मैं नहीं जानती थी।

नन्द : *(उसकी ओर आता हुआ)* तुम्हें इसमें सचमुच कुछ भी असाधारण नहीं लगा।

सुन्दरी : मेरा मन साधारण बातों में असाधारण अर्थ नहीं ढूँढ़ता।

नन्द : परन्तु तुमने सुना तो था कि कैसे...

दूर से किसी के दौड़ते हुए आने का शब्द सुनाई देता है।

...कोई दौड़ता हुआ आ रहा है। इस समय कौन हो सकता है यह?

सुन्दरी : कोई भी हो सकता है। *(आँखों में हल्की वितृष्णा का भाव लिये स्थिर दृष्टि से उसे देखती हुई)* आप तो बस...।

प्रतीक्षा का हल्का विराम। अलका दौड़ती हुई अव्यवस्थित भाव से सामने के द्वार से आती है।

अलका : देवि!...कुमार!

सुन्दरी : क्या हुआ है तुझे, अलका? इस तरह घबराई हुई क्यों है? श्यामांग ठीक तो है?

अलका : *(हाँफती हुई)* वह...वह तो...अभी मूर्च्छित है। मैं आपसे...आपसे एक और बात कहने आई थी।

सुन्दरी : ऐसी बात है जो इसी समय कहनी आवश्यक थी?

अलका : हाँ, देवि! मैं बाहर से आ रही थी...तो देखा...देखा कि आँगन के द्वार पर एक भिक्षु-मूर्ति भिक्षा के लिए खड़ी है। उसने दो बार भिक्षा-याचना की, फिर सहसा लौट पड़ी। तभी मैंने उसे उजाले में देखा। देखा कि वह और कोई नहीं...स्वयं गौतम बुद्ध हैं। देखते ही...मैं सूचना देने के लिए...यहाँ चली आई।

पल-भर तीनों में से कोई नहीं बोलता। सुन्दरी एक बार नन्द की ओर देखकर आगे के दीपाधार की ओर बढ़ जाती है।

सुन्दरी : जा, अलका! अच्छा किया जो तूने आकर सूचना दे दी।

नन्द : *(अलका से)* तुमनें ठीक से देखा है कि स्वयं भाई...कि स्वयं गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए आए थे?

अलका : और किसी को पहचानने में भूल कर सकती हूँ, उन्हें पहचानने में नहीं। दो बार याचना करने पर भी कोई उनके पात्र में भिक्षा डालने नहीं आया, तो वे आँखें उठाकर पल-भर इस गवाक्ष की ओर देखते रहे। फिर सहसा लौट पड़े। मेरा मन हुआ कि पीछे से जाकर उन्हें रोकूँ, परन्तु आपसे आदेश पाए बिना...।

सुन्दरी : तू जा, अलका! कोई द्वार तक आकर लौट गया है, तो उसके पीछे जाने की आवश्यकता नहीं। जाकर विश्राम कर, मैंने सुना है तू रात-भर सोई नहीं है।

अलका : *(असमंजस में नन्द की ओर देखकर)* तो क्या...?

सुन्दरी : *(आवेश में उसकी ओर मुड़कर)* इसके बाद और भी कुछ पूछना शेष है क्या?

अलका आहत भाव से दोनों की ओर देखकर सिर झुका लेती है और चुपचाप दाईं ओर से चली जाती है। सुन्दरी पल-भर अपने स्थान पर खड़ी रहती है। फिर गहरी दृष्टि से एक बार नन्द की ओर देख लेती है।

क्या सोच रहे हैं?

नन्द : *(अव्यवस्थित)* ...नहीं, सोच कुछ नहीं रहा।

सुन्दरी चन्दनलेप की कटोरी हाथ में लिये उसके पास आ जाती है।

सुन्दरी : *(कटोरी उसकी ओर बढ़ाकर)* मेरे माथे पर विशेषक नहीं बनाएँगे?

नन्द : *(अपने में खोया-सा)* विशेषक?...अ...हाँ...! *(हाथ बढ़ाकर)* लाओ, दो मुझे।

सुन्दरी : *(कटोरी हटाकर)* नहीं, इस मन से नहीं। पहले बताएँ क्या सोच रहे हैं?

नन्द : सोच रहा था कि...।

सुन्दरी : उन्हें कैसा लगा होगा...उन्होंने मन में क्या सोचा होगा। यही न?

नन्द : हाँ...और साथ यह भी कि...।

सुन्दरी : मैंने अलका को उनके पीछे जाने से रोककर अच्छा नहीं किया।...और?

नन्द पल-भर उसे देखता रहता है। फिर दो-एक पग उसकी ओर बढ़ आता है।

नन्द : तुम्हें नहीं लगता कि मुझे एक बार जाकर उनसे इस प्रमाद के लिए क्षमा माँगनी चाहिए?

सुन्दरी : सचमुच ऐसा सोचते हैं?

आँखें उसके चेहरे से हटाकर शृंगार-कोष्ठ की ओर बढ़ जाती है।

तो चले क्यों नहीं जाते?

नन्द : *(उसकी ओर बढ़ता हुआ)* सोचता हूँ कि यदि जाना हो, तो...।

सुन्दरी : इसी समय जाना चाहिए...यही न? तो चले जाइए।

घूमकर उसकी ओर देखती है। नन्द की आँखों से गहरा असमंजस झलक रहा है।

मुझे दिए वचन के कारण विवशता का अनुभव करते हैं? वह विवशता नहीं रहेगी।

नन्द फिर भी चुपचाप उसकी ओर देखता रहता है।

मैं अपनी ओर से आपको वचन-मुक्त कर रही हूँ।...अब भी मन में दुविधा है?

नन्द : *(जैसे अपने से संघर्ष करता हुआ)* नहीं, दुविधा नहीं है...तुम मन से कह रही हो न, चला जाऊँ?

सुन्दरी : मन से नहीं, तो कैसे?

नन्द : मैं अधिक समय नहीं लूँगा। नदी-तट तक आने-जाने में जितना समय लगता है, उसके अतिरिक्त घड़ी-भर समय और।

सुन्दरी : *(उसे आँखों से तौलती हुई)* मैं प्रतीक्षा करूँगी।

नन्द और पल-भर अनिश्चित भाव से खड़ा रहता है। फिर चलने लगता है।

नन्द : अच्छा...।

सुन्दरी कटोरी लिये दो-एक पग उस ओर बढ़ आती है।

सुन्दरी : सुनिए।

नन्द रुककर उसकी ओर देखता है। सुन्दरी पास आ जाती है।

पूरा आकाश नहीं....पर एक ग्रह तो माथे पर अंकित कर ही दीजिए।

नन्द : *(कटोरी उससे लेता हुआ)* देखो, तुम्हें मेरा जाना अच्छा नहीं लग रहा, तो मैं...।

सुन्दरी : मैंने कहा है मुझे अच्छा नहीं लग रहा? मैंने तो एक ग्रह माथे पर अंकित कर देने को कहा है।

नन्द अनिश्चित भाव से उसे देखता हुआ उसके माथे पर एक बिन्दु अंकित कर देता है।

कौन सा ग्रह है यह?

नन्द : सूर्य...!

सुन्दरी : तो सूर्य का शेष परिवार आप लौटकर अंकित करेंगे। आपके लौटने तक मैं इस बिन्दु को सूखने नहीं दूँगी।

नन्द : परन्तु यह कैसे होगा? यह बिन्दु तो कुछ ही क्षणों में सूख जाएगा, और मुझे लौटकर आने में...।

सुन्दरी : मैंने कहा है न मैं इसे सूखने नहीं दूँगी। निरन्तर भिगोकर गीला रखूँगी।

नन्द धीरे से आँखें हिलाता है।

और शेष प्रसाधन भी आपके आने पर ही करूँगी। तभी बाल भी बाँधूँगी।

नन्द : *(हल्की मुस्कुराहट के साथ)* और सब कह दोगी, यही नहीं कहोगी कि मुझे जल्दी-से-जल्दी लौट आना है।

सुन्दरी : *(उसके हाथ हाथों में लेकर उसे आँखों से बाँधती हुई)* कल आप...रात-भर सो नहीं सके न?

नन्द : तो?

सुन्दरी : तो कुछ नहीं।...देर से आएँगे, तो आज भी रात- भर जागने का दंड दूँगी। सोना चाहेंगे, तो फूलों से कान सहलाकर जगा दूँगी। फिर भी नींद आएगी, तो...।

मुस्कुराकर उसके हाथ छोड़ देती है।

सोने नहीं दूँगी।

नन्द : *(उस भाव से प्रभावित)* देखो...अच्छा होगा यदि मैं इस समय न जाकर...।

सुन्दरी : नहीं। जाने की बात मन में आई है, तो इस समय आपको जाना ही है। रुकना चाहेंगे, तो अब रुकने भी नहीं दूँगी।

नन्द : मुझे सदा वही करना है जो तुम चाहोगी, और वैसे ही करना है जैसे तुम चाहोगी। नहीं?

उसके कन्धे को हल्के से छूकर द्वार की ओर बढ़ जाता है। वहाँ रुककर एक बार उसकी ओर देख लेता है, फिर बाहर चला जाता है।

सुन्दरी : *(सामने देखती हुई, गम्भीर अन्तर्मुख भाव से)* हाँ...क्योंकि बहुत-कुछ है जो अपने विषय में आप नहीं जानते, केवल मैं जानती हूँ।

सामने के द्वार से गवाक्ष के पास चली जाती है। बाहर का प्रकाश बढ़ने और अन्दर का प्रकाश धीमा पड़ने से उसकी आकृति एक छायाकृति में बदलने लगती है।

अंक : तीन

वही कक्ष। अगली रात। बीच का पहर। कक्ष में सब-कुछ व्यवस्थित है। फिर भी एक सूनेपन का आभास होता है। व्यक्ति वहाँ कोई नहीं है। सामने का द्वार बन्द है। उद्यान की ओर सुन्दरी और अलका बात करती हुई आती हैं। सुन्दरी के बाल अब भी खुले हैं। वेश वही है जो दूसरे अंक के अन्त में था। भाव में कठोरता है।

सुन्दरी : किसी ने भी नहीं देखा यह कब हुआ?

अलका : नहीं, देवि!

सुन्दरी : यह भी पता नहीं कि घटना दिन की है या रात की?

अलका : नहीं...इससे पहले मुझे इधर आने का समय ही नहीं मिला।

सुन्दरी : न जाने क्यों आँखों से देखकर भी मुझे विश्वास नहीं आ रहा। मुझे तो यह सम्भव ही नहीं लगता कि...।

अलका : पहली बार देखा, तो मुझे भी विश्वास नहीं आया। सोचा कहीं किसी और दिशा में तो नहीं चली आई। परन्तु आसपास देखकर निश्चय कर लिया कि कमल-ताल के पास ही खड़ी हूँ, तो ताल का सूनापन मन में भी घिर आया। पहले सोचा कि आपको सूचना न दूँ, पर फिर मुझसे रहा नहीं गया।

सुन्दरी : सूचना न देने से वे लौट तो न आते। परन्तु अलका, मैं अब भी नहीं सोच पा रही कि यह हुआ कैसे। राजहंस स्वयं उड़कर चले गए, इस पर विश्वास नहीं आता। परन्तु मन यह भी नहीं मानता कि कोई उन्हें ताल से चुरा ले गया है।

अलका : नहीं, यहाँ ऐसा साहस किसी का नहीं हो सकता कि उन्हें ताल से चुरा ले जाता।

सुन्दरी : *(गम्भीर दृष्टि से सामने देखती हुई)* साहस की बात आज नहीं

कह सकती।...परन्तु नहीं सोच पा रही कि यदि सचमुच किसी ने ऐसा साहस किया है तो वह हो कौन सकता है।

अलका : *(कुछ अव्यवस्थित)* देखिए, जिस पर सन्देह हो सकता था, वह तो कल सारी रात और आज सारा दिन साथ के कक्ष से बाहर ही नहीं आया। इस बीच अधिकांश समय मैं स्वयं उसके पास रही हूँ।

सुन्दरी : उस पर मुझे सन्देह नहीं है। इसीलिए तय नहीं कर पा रही कि यह हुआ कैसे। परन्तु राजहंस आहत थे...कम से कम एक उनमें अवश्य आहत था। क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि वे अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते? फिर जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण, क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?

अलका : सम्भव है आहत होना ही उनके उड़कर चले जाने का कारण हो।

सुन्दरी : होने को कुछ भी कारण हो सकता है। सम्भव है यही कारण हो।

सोचती-सी चबूतरे की ओर बढ़ जाती है।

अलका : रात आधी बीत चुकी है। अब क्या कुछ देर विश्राम नहीं करेंगी?

सुन्दरी : अब तक और किया ही क्या है...विश्राम के सिवा?

अलका : चुपचाप बैठे रहना विश्राम नहीं होता। आप दिन-भर जिस मनःस्थिति में रही हैं, उससे तो इतनी थकान हो गई होगी कि...।

सुन्दरी : देख, मैं फिर से इस विषय की चर्चा नहीं सुनना चाहती।

अलका : फिर से...यह कैसे कह रही हैं? अब तक आपने एक बार भी तो इस विषय में बात नहीं करने दी।

सुन्दरी : बात करने के लिए और भी विषय हैं। तू अपने विषय में बात कर सकती है।

अलका : अच्छा, इतनी अनुमति दें कि सुगन्धि-जल से आपके पैरों को थोड़ा मल दूँ।

सुन्दरी : नहीं...उसकी आवश्यकता नहीं।

अलका : आवश्यकता न सही, पर मेरे कहने से ही आप...।

सुन्दरी : कह दिया है न, नहीं। तू एक-एक बात को लेकर इतना हठ क्यों करती है?

अलका : हठ मैं कर सकती हूँ? कर सकती, तो दिन-भर आपको बिना प्रसाधन रहने देती? बिना प्रसाधन आपका रूप...।

सुन्दरी : मेरा यही रूप क्या स्वाभाविक नहीं?

अलका : कुमार लौट आए होते, तो क्या आप ऐसे रहतीं? इसलिए कह रही हूँ कि सम्भव है कुमार को लौटने में अभी और समय लग जाए जिससे...।

सुन्दरी : *(आगे के दीपाधार की ओर आती हुई कुछ तीखे स्वर में)* तू समझती है मैं अब तक उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूँ? प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का बिन्दु सूख जाने न देती। मुझे खेद है तो यही कि जितना समय इसे गीला रखना चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा।

शृंगार-कोष्ठ के पास जाकर वहाँ से एक कटोरी उठा लेती है।

यह कटोरी है जिसमें पानी भरा था। पानी इसमें अब भी है, परन्तु...*(कटोरी को उँडेलकर ख़ाली करती हुई)* अब मुझे प्रतीक्षा नहीं है। वे जब भी आएँ, मुझे उनसे कुछ नहीं कहना है। और आने में कोई बाधा है, तो...।

अलका : बाधा की बात आप सोच भी सकती हैं?

सुन्दरी : सोचने की स्थितियाँ होती हैं, अलका! जो बात इस क्षण नहीं सोची जा सकती, वह अगले क्षण सोची जा सकती है। मैंने उन्हें भेजा था, तो एक विश्वास के साथ भेजा था। चाहती, तो रोक भी सकती थी। परन्तु रोकना मैंने नहीं चाहा, क्योंकि वैसा करना दुर्बलता होती। अब इतना सन्तोष तो है कि दुर्बलता कहीं थी, तो मुझमें नहीं थी।

अलका सुगन्धि-जल की कटोरी लिये हुए उसके पास आ जाती है।

अलका : मेरी एक बात मानेंगी?

सुन्दरी : यही न कि बात न करके चुपचाप लेट रहूँ?

अलका : उससे मन थोड़ा शान्त हो जाएगा। मैं इस बीच किसी को नदी-तट पर भेजती हूँ कि...।

सुन्दरी : नहीं, अलका! किसी को वहाँ भेजना नहीं है। उन्हें लौटकर आना है, तो अपने घर में आएँगे। और नहीं आना है, तो...।

अलका : ऐसा नहीं हो सकता कि वे न आएँ—यह आप भी जानती हैं। अब तक न आने का एक कारण यह भी तो हो सकता है कि समय पर न आ पाने का संकोच ही उन्हें रोके हो, या उधर से ही आर्य मैत्रेय के साथ आखेट पर निकल गए हों।

सुन्दरी : आखेट पर!...हाँ, यही तो एक दिन था उनके आखेट पर जाने के लिए!

अलका : ऐसा नहीं, तो भाई से विदा लेने में उन्हें संकोच हो रहा होगा। आप जानती ही हैं भाई के प्रति कितना आदर और स्नेह उनके मन में है।

सुन्दरी : जानती हूँ।

अलका : तो मेरी बात मानें और कुछ देर विश्राम कर लें। मैं सुगन्धि-जल से माथा सहलाऊँगी, तो सम्भव है घड़ी-दो घड़ी नींद भी आ जाए।

सुन्दरी : समय पर क्या नींद अपने आप ही नहीं आ जाएगी?

अलका : इस तरह खड़े-खड़े नहीं, लेट रहने से आएगी। आप मेरी बात कभी नहीं टालतीं न? तो इस समय भी मेरी बात रखने के लिए ही थोड़ी देर लेट जाएँ।

सुन्दरी : *(झूले की ओर बढ़ती हुई जैसे अपने से)* हाँ...तेरी बात रखने के लिए, या अपनी बात भूल जाने के लिए!

झूले पर बैठ जाती है। अलका झूले के तकिए ठीक करके सहारे से उसे लिटा देती है।

अलका : सब-कुछ भूल जाने के लिए। बीता कल, आज और आनेवाला कल—सब-कुछ।

घुटनों के बल झूले के पास बैठकर सुगन्धि-जल से धीरे-धीरे उसका माथा सहलाने लगती है। सुन्दरी धीरे से अपना हाथ उसके हाथ पर रख देती है।

सुन्दरी : कई बार एक बात सोचती हूँ, अलका!

अलका : अब कोई बात मत करें। चुपचाप आँखें मूँद लें।

सुन्दरी एक बार उसकी ओर देखकर आत्म-समर्पण के भाव से आँखें मूँद लेती है।

सुन्दरी : सच यदि आँखें मूँद लेने से ही...।

अलका : कहा है न, बात मत करें।

माथा सहलाना छोड़कर धीरे-धीरे झूले को हिलाने लगती है। कुछ देर बाद झुककर सुन्दरी को देख लेती है, और झूले को हिलता छोड़कर दबे पैरों सामने के द्वार के पास आ जाती है।

(दबे स्वर में) नीहा!...नीहा!

नीहारिका उस ओर से आती है। लगता है जैसे अभी-अभी नींद से जागी हो।

तू सो गई थी?

नीहारिका : नहीं, थोड़ा ऊँघ गई थी।

अलका : धीमे बात कर।...श्वेतांग लौटकर नहीं आया?

नीहारिका : आया होगा, तो बाहर प्रतीक्षा कर रहा होगा। उससे कहा था न कि देवी के सामने आकर बात न करे?

अलका : देख, आया हो तो उससे कह दे...*(एक बार झूले की ओर देखकर)* कि यहीं चला आए। मेरा इस समय इन्हें अकेली छोड़कर बाहर जाना ठीक नहीं।

नीहारिका चली जाती है। अलका झूले के पास जाकर सुन्दरी को देखती है और धीरे से उसे वस्त्र ओढ़ा देती है। सामने के द्वार से श्वेतांग आता है। अलका हल्के पाँव उसके पास चली जाती है और उसे धीमे स्वर में बात करने का संकेत करती है।

अलका : उनसे भेंट हुई?

श्वेतांग : नहीं।

अलका : उन्हें देखा भी नहीं?

श्वेतांग : नहीं।

अलका : वे वहाँ नहीं हैं?

श्वेतांग : वहाँ से कब के जा चुके हैं।

अलका : कुछ पता चला कि वहाँ से अकेले ही चले हैं या...?

श्वेतांग : अकेले ही चले हैं।

अलका : वहाँ से किस ओर गए हैं?

श्वेतांग : यह ठीक से पता नहीं चला।

अलका : यह तो पता चला होगा कि वहाँ उन्हें इतना समय कैसे लग गया?

श्वेतांग : हाँ, जिस समय वहाँ पहुँचे, तथागत इतने लोगों से घिरे थे कि कितनी ही देर वे उनके पास नहीं जा पाए। इस बीच कितनी ही बार वहाँ से उठ आने को हुए, परन्तु उठने का साहस नहीं कर सके।

अलका : फिर?

श्वेतांग : अन्त में पास आने का अवसर मिला, तो उन्होंने तथागत को

प्रणाम किया और उनसे एक बार अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा।

अलका : यहाँ आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा? और तथागत ने स्वीकार कर लिया?

श्वेतांग : नहीं। उन्होंने इसका उत्तर नहीं दिया। कुमार इतने अव्यवस्थित थे कि दूसरी बार उनसे कहे बिना ही चुपचाप वहाँ से लौटकर आने लगे।

सुन्दरी कुनमुनाकर करवट बदलती है। अलका और श्वेतांग पल-भर चुप हो रहते हैं।

अलका : *(यह निश्चय करके कि सुन्दरी की नींद नहीं खुली)* आने लगे परन्तु आ नहीं पाए? तो क्या तथागत ने उन्हें रोका?

श्वेतांग : कहकर नहीं रोका। कुछ क्षण स्थिर दृष्टि से वे कुमार की ओर देखते रहे। फिर उनसे अपने पीछे आने को कहकर विहार में चले गए।

अलका : ओह! कैसे अन्तर्द्वन्द्व के क्षण रहे होंगे कुमार के लिए!...विहार में कितना समय रहे वे उनके साथ?

श्वेतांग : कितना ही समय। सुना है वहाँ उन्हें धर्म का उपदेश देकर तथागत ने भिक्षु आनन्द से कहा कि वे कुमार को दीक्षित कर दें।

अलका : *(स्तब्ध होकर)* दीक्षित कर दें?

श्वेतांग : हाँ...और उन्हें दीक्षित कर दिया गया।

अलका : कर दिया गया।...और कुमार ने चुपचाप दीक्षित होना स्वीकार कर लिया?

श्वेतांग : नहीं। पहले उन्होंने विरोध किया। परन्तु जब आरोप लगाया गया कि वे कामासक्त होने के कारण ऐसा कर रहे हैं, तो वे स्थिर दृष्टि से तथागत की ओर देखते हुए चुप खड़े रहे। जब तक उनके केश कटते रहे, तथागत उन्हें भोग और अभोग, कामना और अकामना के सम्बन्ध में कितना कुछ बतलाते रहे। परन्तु कुमार न जाने क्या सोच रहे थे कि उन्होंने न तो केश काटने का विरोध किया, और न तथागत की बातों की ओर ध्यान ही दिया।

अलका : और इस तरह कुमार दीक्षित हो गए!

श्वेतांग : परन्तु दीक्षा के बाद तथागत ने अपना भिक्षा-पात्र उनके हाथ में देना चाहा, तो कुमार ने वह पात्र अस्वीकार कर दिया।

अलका : अस्वीकार कर दिया?

श्वेतांग : हाँ...और बिना तथागत को प्रणाम किए विहार से निकल आए। कहते हैं उस समय उनकी आँखों का भाव विचित्र-सा हो रहा था। वे स्थिर दृष्टि से सामने देखते चल रहे थे। जैसे उन्हें अपने से...और अपने से ही नहीं, हर-एक से...गहरी वितृष्णा हो।

अलका : *(आशंकित स्वर में)* और उसके बाद?

श्वेतांग : उसके बाद का ही तो ठीक पता नहीं चला। कुछ लोगों का कहना है कि उसके बाद उन्हें घने जंगल की ओर जाते देखा गया था।

अलका : घने जंगल की ओर? परन्तु अपने शस्त्रास्त्र उनके पास नहीं थे। फिर कैसे वे...?

श्वेतांग : इसीलिए तो निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। निहत्थे वे जंगली पशुओं के बीच क्यों गए होंगे, यह समझ नहीं आता। परन्तु लौटकर यहाँ नहीं आए, इसलिए सन्देह भी होता है कि कहीं...।

अलका : अमंगल की बात मत सोचो। जंगली पशुओं के बीच निहत्थे जाकर भी कुमार का अनिष्ट नहीं हो सकता।

श्वेतांग : मैंने सोचा था आर्य मैत्रेय से बात करूँ जिससे कुमार को खोजने का कुछ प्रयत्न किया जा सके। परन्तु...।

अलका : परन्तु क्या?

श्वेतांग : आर्य मैत्रेय भी आज दीक्षित हो गए हैं।

अलका : आर्य मैत्रेय भी?

श्वेतांग : हाँ, वे भी। अब यदि देवी से आदेश प्राप्त हो जाए, तो मैं ही कुछ सैनिकों को साथ लेकर...।

अलका : नहीं। इन्हें अभी इस सम्बन्ध में बताना ठीक नहीं।

श्वेतांग : परन्तु तुम यह नहीं सोचतीं कि इन्हें न बताना भी अहितकर सिद्ध हो सकता है?

अलका : ठहरो...शायद तुम्हारा कहना ही ठीक है। घने जंगल में...रात के समय...कुछ भी तो असम्भव नहीं। अच्छा, तुम कुछ देर बाहर ठहरो। मैं अभी इन्हें जगाकर इनसे बात करती हूँ।

श्वेतांग गम्भीर भाव से सिर हिलाकर बाईं ओर से चला जाता है। अलका झूले के पास आकर पल-भर सुन्दरी को देखती रहती है।

नींद अभी ठीक से गहरी भी तो नहीं हुई। मन नहीं होता इन्हें इस नींद से जगा देने को।...सच कितना कुछ गर्भ में लिये रहता है कोई-कोई दिन! मन जितने को सँभाल सकता है, उससे कितना-कितना अधिक! अब कितना अकुलाएँगी ये उस वास्तविकता को जानकर! साथ कितना चाहेंगी कि इनकी अकुलाहट बाहर किसी पर भी प्रकट न हो—मुझ पर भी नहीं। *(झूले पर झुककर)* देवि! *(फिर सुन्दरी की बाँह को हल्के से छूकर)*...देवि!

तभी सामने के द्वार से नन्द अन्दर आता है। उसका वेश वही है जो पहले था, परन्तु सिर मुँड़ा है तथा शरीर क्षत-विक्षत है।

नन्द : उसे जगाओ नहीं, सोई रहने दो।

अलका चौंककर उसकी ओर देखती है।

अलका : आ-आ-आप!

नन्द : हाँ, मैं। तुम जाओ। उसे सोई रहने दो।

अलका : परन्तु...परन्तु...।

नन्द : जाओ, एक अभ्यागत मेरे साथ है।

अलका सिर झुकाए दाईं ओर को चल देती है।

(पीछे देखकर) आ जाओ, भिक्षु!

अलका एक दृष्टि अन्दर आते भिक्षु पर डालकर बाहर चली जाती है। भिक्षु आनन्द अन्दर आकर द्वार के पास रुक जाता है।

बैठने के लिए आसन मँगवा दूँ?

भिक्षु आनन्द : नहीं, मुझे बैठना नहीं है।

नन्द : यह है मेरा घर, मेरी पत्नी का कक्ष। वह है मेरी पत्नी, सुन्दरी।

भिक्षु आनन्द : देख रहा हूँ। स्थान सुन्दर है। कक्ष बहुत ही सुन्दर है।

नन्द : बस इतना ही? स्थान के अतिरिक्त भी कुछ है यहाँ, यह नहीं देख पा रहे? सम्भवतः उसे देखने के लिए जो दृष्टि चाहिए, वह दृष्टि तुम्हारे पास नहीं है।

भिक्षु आनन्द : तुम्हें यह कहने में सुख मिल रहा है, तो मैं तुम्हें उससे वंचित नहीं करना चाहूँगा। तुम बहुत उद्विग्न हो। वन में व्याघ्र के साथ हुए युद्ध में क्षत-विक्षत होकर...।

नन्द : मैं जानता हूँ सारा समय तुम छाया की तरह मेरे साथ रहे हो–विहार से लेकर यहाँ तक। शायद तुम्हारे मन में आशा रही है कि मैं और कहीं भी जाऊँ, लौटकर अपने घर नहीं आऊँगा। घर देखने की इच्छा भी शायद तुमने इसीलिए प्रकट की थी कि सोचते थे तुम्हें लेकर यहाँ आने में मुझे संकोच होगा। परन्तु देख रहे हो मेरे मन में कहीं संकोच नहीं है। विहार से सीधा यहाँ नहीं आया, यह मेरी अपनी इच्छा थी। वन में जाकर व्याघ्र से युद्ध किया, वह भी आकस्मिक घटना नहीं, मेरी एक और अपनी इच्छा थी...।

भिक्षु आनन्द : निःसन्देह तुम्हारी अपनी इच्छा थी। परन्तु ऐसी इच्छा तुम्हारी हो सकती है, इसका अनुमान तथागत को था। वे देख रहे थे कि तुम्हारा मन अशान्त है, इसलिए तुम कुछ भी कर सकते हो, कहीं भी जा सकते हो। मैं तब से छाया की तरह तुम्हारे साथ हूँ क्योंकि तथागत का आदेश था कि...

नन्द : तथागत के आदेश के विषय में और नहीं सुनना चाहता, भिक्षु! उनके आदेश से तुमने मेरे केश काट दिए। भाई के सम्मान के कारण मैंने बलपूर्वक विरोध नहीं किया...आशा थी वे मेरी आँखों में देखकर जान जाएँगे कि उस अनचाही दीक्षा के विषय में मैं क्या सोच रहा हूँ। परन्तु उन्होंने जानकर भी नहीं जानना चाहा, तो उनका दिया भिक्षा-पात्र हाथ में न लेकर मैं अपना उत्तर दे आया था।

भिक्षु आनन्द : उत्तर दे नहीं आए थे, अब तक दे रहे हो। भिक्षा-पात्र हाथ में न लेना तुम्हारे उत्तर का एक अंश था। दूसरा अंश था तुम्हारा यहाँ न आकर जंगल में चले जाना और व्याघ्र से युद्ध करना। तीसरा अंश है...।

नन्द : तुम जब तक चाहो, अंश गिनते रहो भिक्षु! परन्तु तथागत यह अवश्य जानते हैं कि मैं उन्हें अपना पूरा उत्तर दे आया था।

भिक्षु आनन्द : वे इससे अधिक जानते हैं, नन्द! जानते हैं कि तुम्हारा कोई भी उत्तर तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक...।

नन्द : जब तक?

भिक्षु आनन्द : मन की व्याकुलता शान्त नहीं हो जाती।

नन्द : और वह शान्त होगी तुम्हारी दीक्षा स्वीकार कर लेने से?

भिक्षु आनन्द : नहीं। दीक्षा स्वीकार कर लेने से ही वह शान्त न होगी।

नन्द : *(व्यंग्य के साथ)* तो कैसे शान्त होगी वह?

भिक्षु आनन्द : यह तुम मुझसे नहीं, अपने से पूछ रहे हो।

नन्द : नहीं, भिक्षु! बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा। स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्यसत्य और स्मृत—जानता हूँ वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। परन्तु वह दिशा मेरी नहीं है। कदापि नहीं है।

भिक्षु आनन्द : निःसन्देह नहीं है। तुम अपनी दिशा खोज रहे हो, यह व्याकुलता ही वास्तविक आरम्भ है।

नन्द : बातें रहने दो, भिक्षु! घर देखना चाहते थे, सो तुमने देख लिया है।...उस ओर मेरा कक्ष है, इस ओर उद्यान है।

भिक्षु आनन्द : मैं घर देखना चाहता था, नन्द...घर...कक्ष या उद्यान नहीं। तुम्हारे पास कक्ष और उद्यान सब-कुछ है, घर नहीं है...घर जिसमें तुम्हारी आत्मा को विश्राम मिल सके। मुझे विलम्ब हो रहा है। मैं अब यहाँ से चलना चाहूँगा।

पल-भर स्थिर दृष्टि से नन्द की ओर देखता रहकर वापस सामने के द्वार की ओर चल देता है।

(द्वार के पास रुककर) चलते हुए कामना यही है कि कभी-न-कभी तुम्हें वह आश्रय मिल सके जो तुम्हारा वास्तविक घर होगा।

नन्द : ठहरो, भिक्षु! जाने से पहले तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।

भिक्षु आनन्द : मुझसे पूछना चाहते हो? परन्तु जो व्यक्ति तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता है, वह मैं नहीं हूँ। उत्तर किसी भी प्रश्न का तुम्हें केवल एक ही व्यक्ति से मिल सकता है, और उस व्यक्ति का नाम है—नन्द।

नन्द : जाओ, भिक्षु! फिर से वही खेल खेलने के लिए तुम्हें नहीं रोकना चाहूँगा।

उसकी ओर से मुँह फेरकर आगे के दीपाधार के पास आ जाता है।

भिक्षु आनन्द : मुझे रोकने का तो प्रश्न ही नहीं है, नन्द! जिसे तुमने रोक रखा है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।

नन्द के मुड़कर उस ओर देखने तक वह बाहर चला जाता है। नन्द जैसे अपनी बात उसे सुनाने के लिए द्वार तक बढ़ जाता है।

नन्द : बातों को उलझाते क्यों हो, भिक्षु?...कौन है वह व्यक्ति?

भिक्षु आनन्द की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलता। नन्द द्वार से निकलकर गवाक्ष के पास चला जाता है।

कौन है वह दूसरा व्यक्ति जिसे मैंने रोक रखा है?

फिर भी कोई उत्तर नहीं मिलता, तो हताश सा कक्ष में लौट आता है।

अच्छा है तुम नहीं रुके। रुकते, तो जानता हूँ तुम क्या उत्तर देते। कहते, 'तुम उस व्यक्ति को नहीं जानते, नन्द? मुझे आश्चर्य है।' परन्तु तुम्हारी मुस्कुराती हुई आँखें कहतीं तुम्हें आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य की बात केवल उपहास है, व्यंग्य है।

मदिरा-कोष्ठ के पास जाकर मदिरा-पात्र उठाता है, फिर रख देता है।

नहीं, अभी मदिरा नहीं लूँगा, भिक्षु! तुम्हारी मुस्कुराती हुई भौंहें जिससे यह न कह सकें, 'स्मृति से इतना डर क्यों लगता है, नन्द? अपनी स्मृति को मदिरा की विस्मृति में डुबो क्यों देना चाहते हो?' *(मदिरा-कोष्ठ के पास से हटता हुआ)* यद्यपि इसका उत्तर मैं तुम्हें दे सकता था। कह सकता था कि स्मृति से बचने के लिए तुमने जो स्वाँग रचा है, वह मैंने नहीं रचा, इसलिए।

झूले के पास रुककर पल-भर सुन्दरी की ओर देखता रहता है।

अच्छा है लौटकर आते ही तुम्हारे प्रश्नों का सामना नहीं करना पड़ा। मैंने कहा था कि शीघ्र ही लौट आऊँगा, परन्तु आ नहीं सका। इसे लेकर तुम्हारी आँखों में जो व्यंग्य उभरता, उसका उत्तर शायद मैं न दे पाता। क्या कहता तुमसे—कि तथागत के पास से उठ आने के बाद कल के मरे मृग को देखने की कामना क्यों इतनी प्रबल हो आई थी कि किसी भी तरह अपने को वहाँ जाने से नहीं रोक सका? क्या बताता तुम्हें कि मृग के स्थान पर एक नोच-खाई ठठरी को देखकर मुझे कैसा लगा? और कि फिर क्यों गुरगुराकर सामने से आते व्याघ्र से मैं सहसा उलझ पड़ा? क्यों मैंने जान-बूझकर आत्म-विनाश को निमन्त्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया? आत्म-रक्षा और आत्म-विनाश—इन दो प्रवृत्तियों के बीच में एक साथ जिया—कैसे और क्यों?...और क्या उस तरह जीकर सुख

मिला? वह क्या सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया? *(आगे के दीपाधार की ओर जाता हुआ)* या यह केवल मन का विद्रोह था—बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या इसलिए कि उस समय मैं इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका, 'नहीं, यह विश्वास मेरा नहीं है—मैं तुम्हारा या किसी का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।'

अपनी छटपटाहट में कक्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहलता है।

इतना समझ में आता है कि जिए जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में उन्मेष और निमेष दोनों अस्थायी हैं। कि सुख-सुख नहीं, काई पर फिसलते पाँव का स्पन्दन-मात्र है, मात्र रेत में डूबती बूँद की अकुलाहट। परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? आकाश में लटकते नीले- काले बिन्दु—कोरे सिद्धान्तों के—वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य, कैसे हैं?

टूटे दर्पण के सामने रुककर क्षण-भर अपना प्रतिबिम्ब उसमें देखता रहता है।

उन्होंने केश काट दिए, तो क्या व्यक्ति-रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जीभ काट देते, हाथ-पैर काट देते, तो क्या और अधिक सत्य हो जाता? कौन कह सकता है कि भ्रान्ति वस्तुतः किसे है—उन्हें या मुझे? *(दर्पण के पास से हटकर)* उन्होंने कहा, "मैं मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है—सब किसी उँगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनने के साथ-साथ मिटते जाते हैं—कि उनका होना न होने से भिन्न नहीं है।" परन्तु मैं पूछता हूँ जब होने-न होने में कोई अन्तर ही नहीं है, तो मेरे केश क्यों काट दिए? *(झूले और पीछे के दीपाधार के बीच आकर)* और काट ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है? कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएँगे? अन्तर पड़ता, यदि मेरा हृदय बदल देते—आँखें बदल देते। *(झूले पर झुककर)* मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है। आँखों में तुम्हारे रूप की

अब भी वही छाया है। तुम्हारा विशेषक सूख गया, इसका मुझे खेद है। इसे मैं अभी गीला किए देता हूँ।

झूले के पास से सुगन्धि-जल की कटोरी उठाकर सुन्दरी का विशेषक गीला करने लगता है। उँगली माथे से छूते ही सुन्दरी अधखुली नींद में कुनमुना उठती है, 'नहीं, नहीं, नहीं...।' नन्द अचकचाकर थोड़ा पीछे हट जाता है। सुन्दरी हड़बड़ाकर उठ जाती है।

सुन्दरी : *(उद्भ्रान्त स्वर में)* कौन?...कौन है?...कौन है यहाँ?

दाईं ओर से अलका तथा बाईं ओर से श्वेतांग घबराए से आते हैं। नन्द सिर झुकाए पीछे के दीपाधार के पास चला जाता है।

श्वेतांग : देवि!

अलका : क्या बात है, देवि? क्या हुआ है? ऐसे क्यों हो रही हैं?

हाथ उसके कन्धे पर रखने लगती है, परन्तु सुन्दरी उसका हाथ बीच में ही रोक लेती है।

सुन्दरी : ठहर...यहाँ कक्ष में कौन-कौन हैं इस समय?

अलका : कौन-कौन हैं?...आप हैं, मैं हूँ, श्वेतांग है...।

फिर नन्द की ओर देखकर चुप कर जाती है।

सुन्दरी : और कोई नहीं है? कोई बाहर का व्यक्ति।

अलका : बाहर का व्यक्ति?...*(नन्द की ओर से आँखें हटाकर)* बाहर का व्यक्ति इस कक्ष में आ भी सकता है?

सुन्दरी : *(झूले से उठती हुई)* तो फिर मुझे क्यों लगा जैसे...जैसे अभी-अभी एक हाथ मेरे माथे से छुआ हो, और एक आकृति, आँख खुलते-खुलते, मेरे सामने से हट गई हो? सच कितनी विचित्र थी वह आकृति! कितनी असंगत, कितनी अस्वाभाविक! सिर एक भिक्षु का, और शेष शरीर–शेष शरीर एक आहत योद्धा का!...सोने से पहले मन स्वस्थ नहीं था, शायद इसीलिए ऐसा भ्रम हुआ हो...!

अलका : मन तो आपका कल से ही स्वस्थ नहीं है। *(पुनः नन्द की ओर देखकर)* कल जिस समय से...।

सुन्दरी : देख, कल की बात तुझे मुझसे नहीं करनी है। न आज, और न आज के बाद ही कभी। जो व्यक्ति कल जाने के बाद लौटकर नहीं आया, उसकी बात भी नहीं।

अब श्वेतांग की दृष्टि नन्द की ओर चली जाती है, और अपने उद्वेग को दबाने की चेष्टा में वह थोड़ा एक ओर को हट जाता है।

अलका : परन्तु देवि...!

सुन्दरी : वह बीता कल मन से जितना दूर रहे, उतना ही अच्छा है। मैं अपने को फिर से उसकी छाया में लौटने देना नहीं चाहती।

अलका : परन्तु मैं कहना चाहती थी, देवि!...कहना चाहती थी कि...।

नन्द की ओर देखकर शब्द गले में अटक जाते हैं। सुन्दरी कुछ असमंजस में पल-भर उसकी ओर देखती रहती है।

सुन्दरी : क्या बात है? तेरे होंठ इस तरह काँप क्यों रहे हैं? आँखें इस तरह पथराई-सी क्यों हो रही हैं? *(पल-भर प्रतीक्षा करने के बाद)* तू कुछ कहना चाहती थी न? बता क्या कहना चाहती थी?

अलका के मुँह से बात नहीं निकलती, तो उसकी आँखें एक अस्वाभाविक परिस्थिति के प्रति सचेत होने लगती हैं।

तुझे हुआ क्या है? तू इस तरह गुमसुम क्यों हो रही है?

अलका से हटकर उसकी आँखें श्वेतांग की ओर चली जाती हैं।

और तुम श्वेतांग...तुम भी वहाँ जड़-से क्यों खड़े हो? *(सहसा अधीर होकर)* क्या हुआ है तुम दोनों को? तुम लोग मुँह से एक शब्द भी नहीं बोल सकते क्या?

बारी-बारी से उन दोनों की ओर देखती हुई पल-भर स्वयं भी स्तब्ध-सी हो रहती है। फिर जैसे स्थिति उस पर स्पष्ट होने लगती है और उसकी आँखों का भाव अन्तर्मुख होने लगता है।

इसका अर्थ कहीं यह तो नहीं...कि कक्ष में इस समय सचमुच कोई और भी है?...कि उस समय आँख खुलने पर मैंने जो देखा...

कहते-कहते आँखें पीछे नन्द की ओर घूम जाती हैं।

...वह मेरे मन का भ्रम नहीं था...

नन्द : *(स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ)* ...यथार्थ था!

सुन्दरी : *(सहसा आहत)* यथार्थ! ओह!

आँखें मुँद जाती हैं और चबूतरे का सहारा लिये वह वहीं बैठ जाती है। अलका पास जाकर धीरे से उसकी बाँह पर हाथ रखती है।

अलका : देवि!

सुन्दरी : *(प्रयत्न से आँखें खोलकर धीमे, अन्तर्मुख, परन्तु आदेशात्मक स्वर में)*
तू जा यहाँ से।...तुम भी जाओ, श्वेतांग!

श्वेतांग अन्तर्मुख भाव से सिर हिलाकर जाने लगता है।

अलका : *(जैसे परिस्थिति को सँभालने की चेष्टा में)* सुनो, श्वेतांग!... कुमार थके हुए हैं, इसलिए शायद...शायद अपने कक्ष में जाकर स्नान और विश्राम करना चाहेंगे। तुम चलकर स्नान-सामग्री ठीक करो और मैं...मैं अभी जाकर वस्त्रों का नया जोड़ा निकाल देती हूँ।

श्वेतांग दाईं ओर से चला जाता है। अलका फिर सुन्दरी के पास आ जाती है।

(उसके कन्धे पर हाथ रखकर)...और आप...आप भी कुछ देर अभ्यन्तर कक्ष में नहीं चलेंगी? मैं प्रसाधन सामग्री लेकर वहीं आ जाती हूँ और...।

सुन्दरी : मैंने तुझसे कहा था न यहाँ से जाने के लिए?

अलका : मैं जा रही हूँ। जाते हुए केवल इतना कहना चाहती थी कि...।

सुन्दरी : *(अधीर स्वर में)* केवल कितना कहना चाहती थी? बिना कहे नहीं जा सकती क्या?

अलका : मैं जानती हूँ आपको कैसा लग रहा है। परन्तु...अब जबकि कुमार लौट आए हैं...।

सुन्दरी : लौट आए हैं? *(चबूतरे से उठती हुई)* नहीं। लौटकर वे नहीं आए। जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।

नन्द : दूसरा?...*(बढ़कर उसकी ओर आता हुआ)* तो तुम भी कह रही हो कि मैं कोई दूसरा व्यक्ति हूँ। केवल इसलिए कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए हैं? मुझे पहले से थोड़ा अपरूप कर दिया है? क्या इतने से ही व्यक्ति एक से दूसरा हो जाता है?

अलका इस बीच शृंगार-कोष्ठ के पास जाकर टूटा दर्पण हटाने लगती है।

सुन्दरी : तू अब भी यहाँ क्या कर रही है, अलका?

अलका : टूटा दर्पण हटा रही हूँ। पहले इस ओर ध्यान नहीं गया, इसलिए...

सुन्दरी : इसे रहने दे और तू जा।

अलका फिर भी पल-भर दुविधा में रहती है।

कहा है न जा। मैं इस समय अपने कक्ष में बिल्कुल अकेली रहना चाहती हूँ।

अलका, उस स्वर से प्रभावित, दर्पण छोड़कर अनिश्चित भाव से दाईं ओर से चली जाती है।

नन्द : *(पल-भर अन्तर्मुख भाव से उसकी ओर देखता रहकर)* मुझसे भी अकेली—यही अर्थ है न तुम्हारा?

सुन्दरी : *(स्वर को यथासम्भव संयत रखने का प्रयत्न करती हुई)* आपसे अकेली क्या मैं इस समय भी नहीं हूँ?

नन्द : इस समय भी तुम मुझसे अकेली हो?...तुम्हें सचमुच लग रहा है कि तुम मुझसे अकेली हो?

सुन्दरी : *(सीधे उसकी आँखों में देखती हुई)* आपको नहीं लग रहा?

नन्द : *(उससे आँखें हटाकर)* मुझे क्या लग रहा है, यह तुम कैसे कह सकती हो?

सुन्दरी : नहीं कह सकती न? व्यक्ति अकेला और किस तरह से होता है।

धीरे से मत्स्याकार आसन की ओर बढ़ जाती है।

नन्द : तो तुम कहना चाहती हो कि....

सुन्दरी : नहीं...कहना मैं कुछ नहीं चाहती।

आसन पर बैठ जाती है। नन्द अपने स्थान पर खड़ा पल-भर उसकी ओर देखता रहता है। फिर बढ़कर उसके पास आ जाता है।

नन्द : परन्तु मैं कहना चाहता हूँ। यहाँ से जाने से अब तक के बीच जो कुछ हुआ है, वह सब तुम्हें बताना चाहता हूँ। इस बीच क्या-क्या अनुभव किया है मैंने, किन-किन मनःस्थितियों में जिया हूँ मैं...उस सबका अनुमान तुम मेरे बाहर के रूप को देखकर नहीं लगा सकतीं।

सुन्दरी : बाहर और अन्दर में अन्तर है, देख रही हूँ।

नन्द : फिर भी बहुत-कुछ है जो तुम नहीं देख रहीं। मेरे घावों को देखकर इतना अनुमान तुम्हें हो गया होगा कि तथागत के पास

से मैं सीधा यहाँ नहीं आया। इस बीच वन में जाकर मैंने एक व्याघ्र से युद्ध किया, परन्तु उसके बाद भी सीधा यहाँ नहीं आया। चाहता था कुछ समय बिल्कुल अकेला रहूँ—इतना कि किसी का आभास तक मेरे पास न हो। परन्तु वह इच्छा पूरी नहीं हुई, क्योंकि एक व्यक्ति निरन्तर छाया की तरह मेरे साथ रहा। इस छाया से मैं बच भी जाता, परन्तु उसके अतिरिक्त और भी कितनी ही छायाएँ मेरे साथ थीं। जो छाया सबसे निकट थी; वह थी तुम...तुम!...देखो, मुझे तुमसे बहुत-कुछ कहना है जो मैं आज तक नहीं कह पाया। लौटकर इसीलिए आया था कि...।

सुन्दरी : *(स्थिर दृष्टि से उसे देखती हुई)* अन्यथा न आते न?...मैं जानती हूँ।

नन्द : *(व्याकुल भाव से)* नहीं, जानती नहीं हो...केवल विश्वास करना चाहती हो कि जानती हो। अपनी जिस वास्तविकता को तुमसे बाँटने की बात मैं आज सोचकर आया हूँ, उसके सम्बन्ध में तुम बिल्कुल कुछ नहीं जानतीं।

सुन्दरी : कैसी वास्तविकता होगी वह जिसके सम्बन्ध में मैं बिल्कुल कुछ नहीं जानती!

नन्द : *(मदिरा-कोष्ठ की ओर जाता हुआ)* तुम्हारा यह भाव मुझे अच्छा नहीं लग रहा। तुम्हें ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिए जिससे मैं सदा के लिए अपने को तुमसे...*(मदिरापात्र हाथ में लेकर)* देखो, इस समय मेरा शब्दों पर वश नहीं है। कहना कुछ चाहता हूँ, बात मुँह से कुछ निकल पड़ती है।

सुन्दरी : *(आसन से उठती हुई)* शब्दों से अन्तर नहीं पड़ता। अर्थ आपका मेरे लिए अस्पष्ट नहीं है।

नन्द : *(चषक में मदिरा डालता हुआ)* तुम न जाने किस अर्थ की बात कर रही हो।...जान सकता हूँ वह कौन सा अर्थ है जो तुम्हारे लिए अस्पष्ट नहीं है?

सुन्दरी : वह जिसे छिपाने के लिए चषक में मदिरा डाल रहे हैं। *(उसकी ओर आती हुई)* परन्तु इस प्रयत्न से वह अर्थ छिप नहीं जाएगा।

नन्द : *(चषक हाथ में लिये अत्यधिक गम्भीर भाव से)* देखो...तुम्हें यदि यही लग रहा है कि मैं किसी अर्थ को छिपाने का प्रयत्न कर रहा हूँ, तो मुझे इतना ही कहना है कि...।

सुन्दरी : कह दीजिए न!...बात पूरी नहीं कर पा रहे?

नन्द जैसे हारकर हाथ का भरा हुआ चषक वहीं उँडेल देता है।

नन्द : ठीक कहती हो तुम। मुझे स्वीकार कर ही लेना चाहिए...

सुन्दरी आगे सुनने की प्रतीक्षा में एकटक उसकी ओर देखती रहती है।

...कि अब सचमुच मैं अपना वास्तविक अर्थ तुमसे छिपाकर नहीं रख सकता। और अब जबकि तुम वह अर्थ जान ही गई हो, तो...।

सुन्दरी : जान अब नहीं गई हूँ, सदा से जानती रही हूँ।

अब नन्द आगे सुनने की प्रतीक्षा में उसकी ओर देखता रहता है।

...जानती रही हूँ कि जितने साधारण और लोग हैं, उतने ही साधारण आप भी हैं। कि जितनी आसानी से वे सब प्रभावित हो सकते हैं, उतनी ही आसानी से आप भी हो सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि लोग कभी एक बार प्रभावित होते हैं, आप बार-बार प्रभावित हो सकते हैं, जिस किसी से प्रभावित हो सकते हैं। आशंका मेरे मन में तब भी थी जब मैंने आपको यहाँ से भेजा था। परन्तु तब कहीं यह विश्वास भी था कि...

अपनी उत्तेजना से निढाल, पल-भर रुकी रहती है।

...कि पहले के प्रभाव से आप इतनी जल्दी मुक्त नहीं हो पाएँगे!

नन्द, उसके शब्दों से आहत, पल-भर स्तब्ध खड़ा रहता है। फिर मुड़कर उसकी ओर देखता है।

नन्द : बस इतना ही जाना है तुमने?...और मैंने समझा था कि तुम वास्तविक अर्थ ही जान गई हो।

सुन्दरी जैसे झटका खाकर उसकी ओर बढ़ती है।

सुन्दरी : बहुत गहरा है वह वास्तविक अर्थ?...नहीं, उतना गहरा नहीं है। मैंने जितना जाना है, उससे अधिक नहीं है उसमें जानने को।

नन्द भी, अपने को संयत रख पाने में असमर्थ, उसकी ओर बढ़ता है।

नन्द : *(उसके ऊपर घिर आकर)* है, है, है। उससे थोड़ा, थोड़ा, थोड़ा अधिक है। और आज तुम जानने की ही बात कर रही हो तो अच्छा है उतना और जान लो।

सुन्दरी आँखें सामने की ओर स्थिर किए उसकी बात सुनती रहती है।

(जैसे निरन्तर आघात करता हुआ) मैं इस समय यहाँ क्यों हूँ? कल यहाँ क्यों था? वर्षों से यहाँ क्यों रहा हूँ?...किसी प्रभाव के कारण नहीं...अपनी एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण। और कल और आज के बीच जो बाहर रहा हूँ, वह भी किसी प्रभाव के कारण नहीं...अपनी एक और आन्तरिक आवश्यकता के कारण।

उत्तेजना में अपने हाथों को उलझाए उसके पास से हट जाता है।

मैं कब से जानता हूँ कि मैं पूरा यहाँ जीने के लिए नहीं हूँ। यह भी कि पूरा यहाँ से कटकर जीने के लिए भी नहीं हूँ। कहाँ, कितना, किस बिन्दु पर जीने के लिए हूँ, इसका उत्तर मैं आज तक अपने को नहीं दे पाता। *(फिर उसके पास आकर)* मैं जानता हूँ तुम्हें यह सब सुनना सह्य नहीं है। इसलिए सह्य नहीं है कि तुम समझती हो तुम्हीं वह केन्द्र हो जिसके वृत्त में मैं एक नक्षत्र की तरह घूमता हूँ। परन्तु मैं अपने को एक ऐसे टूटे हुए नक्षत्र की तरह पाता हूँ जिसका कहीं वृत्त नहीं है, जिसका कोई धुरा नहीं है।

सुन्दरी से हटकर उसकी आँखें अब स्थिर भाव से सामने देखने लगती हैं।

मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं, और अपने को ढकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की ओर पैर बढ़ाता हूँ, लगता है वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है, और मैं पीछे हट जाता हूँ।

स्वर और आँखों में व्याकुलता तथा हताशा उत्तरोत्तर गहरी होती जाती है।

उनके पास था, तो मन यहाँ के लिए व्याकुल था। अब तुम्हारे सामने हूँ, तो मन कहीं और के लिए व्याकुल है। क्योंकि यहाँ हो या वहाँ, सब जगह मैं अपने को एक-सा अधूरा अनुभव करता हूँ। क्योंकि तुम हो या वे, कोई भी मेरी इस वास्तविकता को स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि इस रूप में हो या उस

रूप में, अब किसी भी रूप में मैं अपने को झुठलाकर नहीं जी सकता। क्योंकि मैं यह भी हूँ और वह भी...इनमें से कोई एक नहीं, जैसा कि तुम सब अलग-अलग से विश्वास करना चाहते हो कि मैं हूँ...!

हाँफता-सा चुप कर जाता है। पल-भर दोनों एक-दूसरे से बात करने की प्रतीक्षा करते हैं। फिर सुन्दरी धीरे से मुड़कर उसकी ओर देखती है।

सुन्दरी : और?...बस और कुछ नहीं है आपके पास कहने को?

नन्द हताश दृष्टि से उसे देखता हुआ सिर हिला देता है।

नन्द : नहीं, और कुछ नहीं है। सचमुच और कुछ नहीं है मेरे पास कहने को।

सुन्दरी : और मैंने सोचा था कि वह थोड़ा अधिक अर्थ जो मुझे बताना चाहते थे, वह इससे थोड़ा और अधिक होगा। परन्तु जितना यह है, उतना सचमुच बहुत-बहुत थोड़ा है...।

नन्द : *(अन्दर के आवेग से रुँधकर)* कहाँ, क्या, कितना थोड़ा है, यह कितनी अच्छी तरह तौल सकती हो तुम!

सुन्दरी : और कुछ न सही, आपकी बात का अर्थ अवश्य तौल सकती हूँ। और वह अर्थ केवल इतना-सा ही है कि...।

नन्द : *(और भी रुँधकर)* हाँ, हाँ, हाँ! अर्थ केवल इतना-सा ही है। मैं स्वयं?...कुछ नहीं हूँ। मेरा अन्तर्द्वन्द्व?...कुछ नहीं है। मैं केवल...।

सुन्दरी : आप विश्वास न करना चाहें, तो भी वास्तविकता यही है कि...

नन्द : *(असह्यता की स्थिति पर पहुँचकर)* मुझे विश्वास है। विश्वास है कि जब तक यहाँ हूँ, तब तक इसका केवल इतना-सा ही अर्थ रहेगा। क्योंकि यहाँ रहते मैं केवल उतना-सा ही हूँ जितना-सा कि तुम्हारी दृष्टि मुझे देखना चाहती है। और उतने से आकार का व्यक्ति यदि जीवन में कोई बिन्दु खोजना चाहे, तो कितनी दूर जा सकता है? *(उँगली पर अँगूठा रखे हुए)* केवल इतनी-सी, इतनी-सी, इतनी-सी...

सुन्दरी : *(अपने पर अधिकार खोकर)* अन्यथा?...इतनी-सी भी तो नही...!

नन्द : *(असह्यता के चरम पर आकर)* तुम...!

उसकी बाँह हाथ में कस लेता है। सुन्दरी झटके से उसका हाथ अपनी बाँह से अलग कर देती है।

सुन्दरी : तुम...! कितने-कितने बिन्दु खोजे हैं आज तक तुमने?...जाओ, एक और बिन्दु खोजो! कितने- कितने शब्दों में ढाँपा है उन बिन्दुओं को?...जाओ, कुछ और शब्द ढूँढो! परन्तु अन्त में कहाँ रह जाते हैं तुम्हारे वे सब बिन्दु? कहाँ चले जाते हैं तुम्हारे वे सब शब्द? फिर भी क्यों वही के वही बने रहते हो तुम? वही...*(अपने टूटते भाव को सँभालने का भरसक प्रयत्न करती हुई)* वही...वही!

नन्द कुछ पल स्तब्ध-सा खड़ा उसे देखता रहता है। फिर आहत भाव से सामने के द्वार से चला जाता है। सुन्दरी उसके जाने तक किसी तरह अपने को सँभाले रहती है, परन्तु उसके जाते ही सिसकती हुई हथेलियों पर औंधी हो जाती है।

आधे अधूरे

पात्र

का.सू.वा. (काले सूटवाला आदमी) जो कि पुरुष-एक, पुरुष-दो, पुरुष-तीन तथा पुरुष-चार की भूमिकाओं में भी है। उम्र लगभग उनचास-पचास। चेहरे की शिष्टता में एक व्यंग्य। **पुरुष-एक** के रूप में वेशान्तर : पतलून-कमीज़। ज़िन्दगी से अपनी लड़ाई हार चुकने की छटपटाहट लिए। **पुरुष-दो** के रूप में : पतलून और बन्द गले का कोट। अपने आपसे सन्तुष्ट, फिर भी आशंकित। **पुरुष-तीन** के रूप में : पतलून-टीशर्ट। हाथ में सिगरेट का डिब्बा। लगातार सिगरेट पीता। अपनी सुविधा के लिए जीने का दर्शन पूरे हाव-भाव में। **पुरुष-चार** के रूप में : पतलून के साथ पुरानी काट का लम्बा कोट। चेहरे पर बुज़ुर्ग होने का ख़ासा अहसास। काइयाँपन।

स्त्री। उम्र चालीस को छूती। चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष। ब्लाउज़ और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण। दूसरी साड़ी विशेष अवसर की।

बड़ी लड़की। उम्र बीस से ऊपर नहीं। भाव में परिस्थितियों से संघर्ष का अवसाद और उतावलापन। कभी-कभी उम्र से बढ़कर बड़प्पन। साड़ी : माँ से साधारण। पूरे व्यक्तित्व में एक बिखराव।

छोटी लड़की। उम्र बारह और तेरह के बीच। भाव, स्वर, चाल—हर चीज़ में विद्रोह। फ्रॉक चुस्त, पर एक मोज़े में सूराख़।

लड़का। उम्र इक्कीस के आसपास। पतलून के अन्दर दबी भड़कीली बुश्शर्ट धुल-धुलकर घिसी हुई। चेहरे से, यहाँ तक कि हँसी से भी, झलकती ख़ास तरह की कड़वाहट।

स्थान : मध्य-वित्तीय स्तर से ढहकर निम्न-मध्य-वित्तीय स्तर पर आया एक घर।

सब रूपों में इस्तेमाल होनेवाला वह कमरा जिसमें उस घर के व्यतीत स्तर के कई एक टूटते अवशेष—सोफा-सेट, डाइनिंग टेबल, कबर्ड और

ड्रेसिंग टेबल आदि—किसी-न-किसी तरह अपने लिए जगह बनाए हैं। जो कुछ भी है, वह अपनी अपेक्षाओं के अनुसार न होकर कमरे की सीमाओं के अनुसार एक और ही अनुपात से है। एक चीज़ का दूसरी चीज़ से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की माँग के कारण लगभग टूट चुका है। फिर भी लगता है कि वह सुविधा कई तरह की असुविधाओं से समझौता करके की गई है—बल्कि कुछ असुविधाओं में ही सुविधा खोजने की कोशिश की गई है। सामान में कहीं एक तिपाई, कहीं दो-एक मोढ़े, कहीं फटी-पुरानी किताबों का एक शेल्फ़ और कहीं पढ़ने की एक मेज़-कुर्सी भी है। गद्‌दे, परदे, मेज़पोश और पलँगपोश अगर हैं, तो इस तरह घिसे, फटे या सिले हुए कि समझ में नहीं आता कि उनका न होना क्या होने से बेहतर नहीं था?

तीन दरवाज़े तीन तरफ़ से कमरे में झाँकते हैं। एक दरवाज़ा कमरे को पिछले अहाते से जोड़ता है, एक अन्दर के कमरे से और एक बाहर की दुनिया से। बाहर का एक रास्ता अहाते से होकर भी है। रसोई में भी अहाते से होकर जाना होता है। परदा उठने पर सबसे पहले चाय पीने के बाद डाइनिंग टेबल पर छोड़ा गया अधटूटा टी-सेट आलोकित होता है। फिर फटी किताबों और टूटी कुर्सियों आदि में से एक-एक। कुछ सेकंड बाद प्रकाश सोफ़े के उस भाग पर केन्द्रित हो जाता है जहाँ बैठा काले सूटवाला आदमी सिगार के कश खींच रहा है। उसके सामने रहते प्रकाश उसी तरह सीमित रहता है, पर बीच-बीच में कभी यह कोना और कभी वह कोना साथ आलोकित हो उठता है।

पूर्वार्द्ध

का.सू.वा. : *(कुछ अन्तर्मुख से सिगार की राख झाड़ता)* फिर एक बार, फिर से वही शुरुआत...।

जैसे कोशिश से अपने को एक दायित्व के लिए तैयार करके सोफ़े से उठ पड़ता है।

मैं नहीं जानता, आप क्या समझ रहे हैं, मैं कौन हूँ, और क्या आशा कर रहे हैं, मैं क्या कहने जा रहा हूँ। आप शायद सोचते हों कि मैं इस नाटक में कोई एक निश्चित इकाई हूँ—अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता, व्यवस्थापक या कुछ और; परन्तु मैं अपने सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकता—उसी तरह जैसे इस नाटक के सम्बन्ध में नहीं कह सकता। क्योंकि यह नाटक भी अपने में मेरी ही तरह अनिश्चित है। अनिश्चित होने का कारण यह है कि...परन्तु कारण की बात करना बेकार है। कारण हर चीज़ का कुछ-न-कुछ होता है, हालाँकि यह आवश्यक नहीं कि जो कारण दिया जाए, वास्तविक कारण वही हो। और जब मैं अपने ही सम्बन्ध में निश्चित नहीं हूँ, तो और किसी चीज़ के कारण-अकारण के सम्बन्ध में निश्चित कैसे हो सकता हूँ?

सिगार के कश खींचता पल-भर सोचता-सा खड़ा रहता है।

मैं वास्तव में कौन हूँ?—यह एक ऐसा सवाल है जिसका सामना करना इधर आकर मैंने छोड़ दिया है जो मैं इस मंच पर हूँ, वह यहाँ से बाहर नहीं हूँ, और जो बाहर हूँ...ख़ैर, इसमें आपकी क्या दिलचस्पी हो सकती है कि मैं यहाँ से बाहर क्या हूँ? शायद अपने बारे में इतना कह देना ही काफ़ी है कि सड़क के फुटपाथ पर चलते आप अचानक जिस आदमी से टकरा जाते हैं, वह

आदमी मैं हूँ। आप सिर्फ़ घूरकर मुझे देख लेते हैं—इसके अलावा मुझसे कोई मतलब नहीं रखते कि मैं कहाँ रहता हूँ, क्या काम करता हूँ, किस-किससे मिलता हूँ और किन-किन परिस्थितियों में जीता हूँ। आप मतलब नहीं रखते क्योंकि मैं भी आपसे मतलब नहीं रखता, और टकराने के क्षण में आप मेरे लिए वही होते हैं जो मैं आपके लिए होता हूँ। इसलिए जहाँ इस समय मैं खड़ा हूँ, वहाँ मेरी जगह आप भी हो सकते थे। दो टकरानेवाले व्यक्ति होने के नाते आपमें और मुझमें, बहुत बड़ी समानता है। यही समानता आपमें और उसमें, उसमें और उस दूसरे में, उस दूसरे में और मुझमें...बहरहाल इस गणित की पहेली में कुछ नहीं रखा है। बात इतनी है कि विभाजित होकर मैं किसी-न-किसी अंश में आपमें से हर-एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।

कमरे के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में टहलने लगता है।
मैंने कहा था, यह नाटक भी मेरी ही तरह अनिश्चित है। उसका कारण भी यही है कि मैं इसमें हूँ और मेरे होने से ही सबकुछ इसमें निर्धारित या अनिर्धारित है एक विशेष परिवार, उसकी विशेष परिस्थितियाँ! परिवार दूसरा होने से परिस्थितियाँ बदल जातीं, मैं वही रहता। इसी तरह सब कुछ निर्धारित करता। इस परिवार की स्त्री के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री किसी दूसरी तरह से मुझे झेलती—या वह स्त्री मेरी भूमिका ले लेती और मैं उसकी भूमिका लेकर उसे झेलता। नाटक अन्त तक फिर भी इतना ही अनिश्चित बना रहता और यह निर्णय करना इतना ही कठिन होता कि इसमें मुख्य भूमिका किसकी थी—मेरी, उस स्त्री की, परिस्थितियों की, या तीनों के बीच से उठते कुछ सवालों की।

फिर दर्शकों के सामने आकर खड़ा हो जाता है। सिगार मुँह में लिए पल-भर ऊपर की तरफ़ देखता रहता है। फिर 'हँह' के स्वर के साथ सिगार मुँह से निकालकर उसकी राख झाड़ता है।

पर हो सकता है, मैं एक अनिश्चित नाटक में एक अनिश्चित पात्र होने की सफ़ाई-भर पेश कर रहा हूँ। हो सकता है, यह

नाटक एक निश्चित रूप ले सकता हो—किन्हीं पात्रों को निकाल देने से, दो-एक पात्र और जोड़ देने से, कुछ भूमिकाएँ बदल देने से, कुछ पंक्तियाँ हटा देने से, कुछ पंक्तियाँ बढ़ा देने से, या परिस्थितियों में थोड़ा हेर-फेर कर देने से। हो सकता है, आप पूरा देखने के बाद, या उससे पहले ही, कुछ सुझाव दे सकें इस सम्बन्ध में। इस अनिश्चित पात्र से आपकी भेंट इस बीच कई बार होगी...।

हलके अभिवादन के रूप में सिर हिलाता है जिसके साथ ही उसकी आकृति धीरे-धीरे धुँधलाकर अँधेरे में गुम हो जाती है। उसके बाद कमरे के अलग-अलग कोने एक-एक करके आलोकित होते हैं और एक आलोक व्यवस्था में मिल जाते हैं। कमरा ख़ाली है। तिपाई पर खुला हुआ हाई स्कूल का बैग पड़ा है जिसमें आधी कापियाँ और किताबें बाहर बिखरी हैं। सोफ़े पर दो-एक पुराने मैगज़ीन, एक कैंची और कुछ कटी-अधकटी तस्वीरें रखी हैं। एक कुर्सी की पीठ पर उतरा हुआ पाजामा झूल रहा है। स्त्री कई-कुछ सँभाले बाहर से आती हैं कई-कुछ में कुछ घर का है, कुछ दफ़्तर का, कुछ अपना। चेहरे पर दिन-भर के काम की थकान है और इतनी चीज़ों के साथ चलकर आने की उलझन। आकर सामान कुर्सी पर रखती हुई वह पूरे कमरे पर एक नज़र डाल लेती है।

स्त्री : *(थकान निकालने के स्वर में)* ओहहोहहोहहोहहोह! *(कुछ हताश भाव से)* फिर घर में कोई नहीं। *(अन्दर के दरवाज़े की तरफ़ देखकर)* किन्नी!...होगी ही नहीं, जवाब कहाँ से दे? *(तिपाई पर पड़े बैग को देखकर)* यह हाल है इसका! *(बैग की एक किताब उठाकर)* फिर फाड़ लाई एक और किताब! ज़रा शरम नहीं कि रोज़-रोज़ कहाँ से पैसे आ सकते हैं नई किताबों के लिए! *(सोफे के पास आकर)* और अशोक बाबू यह कमाई करते रहे हैं दिन-भर! *(तस्वीर उठाकर देखती)* एलिज़ाबेथ टेलर... आड्रेहेबर्न...शर्ले मैक्लेन! ज़िन्दगी काट रहे हैं इन तस्वीरों के साथ!

तस्वीरें वापस रखकर बैठने लगती है कि नज़र झूलते पाजामे पर जा पड़ती है।

(उस तरफ़ जाती) बड़े साहब वहाँ अपनी कारगुज़ारी कर गए हैं।

पाजामे को मरे जानवर की तरह उठाकर देखती है और कोने में फेंकने को होकर फिर एक झटके के साथ उसे तहाने लगती है।

दिन-भर घर पर रहकर आदमी और कुछ नहीं, तो अपने कपड़े तो ठिकाने पर रख ही सकता है।

पाजामे कबर्ड में रखने से पहले डाइनिंग टेबल पर पड़े चाय के सामान को देखकर और खीज जाती है, पाजामे को कुर्सी पर पटक देती है और प्यालियाँ वगैरह ट्रे में रखने लगती है।

इतना तक नहीं कि चाय पी है, तो बर्तन रसोईघर में छोड़ आएँ। मैं ही आकर उठाऊँ, तो उठाऊँ...।

ट्रे उठाकर अहाते के दरवाज़े की तरफ़ बढ़ती ही है कि पुरुष-एक उधर से आ जाता है। स्त्री ठिठककर सीधे उसकी आँखों में देखती है, पर वह उससे आँखें बचाता पास से निकलकर थोड़ा आगे आ जाता है।

पुरुष-एक : आ गई दफ़्तर से? लगता है, आज बस जल्दी मिल गई।

स्त्री : *(ट्रे वापस मेज़ पर रखती)* यह अच्छा है कि दफ़्तर से आओ, तो कोई घर पर दिखे ही नहीं। कहाँ चले गए थे तुम?

पुरुष-एक : कहीं नहीं। यहीं बाहर था। मार्केट में।

स्त्री : *(उसका पाजामा हाथ में लेकर)* पता नहीं यह क्या तरीका है इस घर का? रोज़ आने पर पचास चीज़ें यहाँ-वहाँ बिखरी मिलती हैं।

पुरुष-एक : *(हाथ बढ़ाकर)* लाओ, मुझे दे दो।

स्त्री : *(पाजामे को झाड़कर फिर से तहाती हुई)* अब क्या दे दूँ! पहले खुद भी तो देख सकते थे।

गुस्से में कबर्ड खोलकर पाजामे को जैसे उसमें कैद कर देती है। पुरुष-एक फालतू-सा इधर-उधर देखता है, फिर एक कुर्सी की पीठ पर हाथ रख लेता है।

(कबर्ड के पास आकर ट्रे उठाती) चाय किस-किसने पी थी?

पुरुष-एक : *(अपराधी स्वर में)* अकेले मैंने।

स्त्री : तो अकेले के लिए क्या ज़रूरी था कि पूरी ट्रे की ट्रे...किन्नी को दूध दे दिया था?

पुरुष-एक : वह मुझे दिखी ही नहीं अब तक।

स्त्री : *(ट्रे लेकर चलती है)* दिखे तब न जो घर पर रहे कोई।

अहाते के दरवाज़े से होकर पीछे रसोईघर में चली जाती है। पुरुष-एक लम्बी 'हूँ' के साथ कुर्सी को झुलाने लगता है। स्त्री पल्ले से हाथ पोंछती रसोईघर से वापस आती है।

पुरुष-एक : मैं बस थोड़ी देर के लिए ही निकला था बाहर।

स्त्री : *(और चीज़ों को समेटने में व्यस्त)* मुझे क्या पता कितनी देर के लिए निकले थे।...वह आज फिर आएगा अभी थोड़ी देर में। तब तो घर पर रहोगे तुम?

पुरुष-एक : *(हाथ रोककर)* कौन आएगा? सिंघानिया?

स्त्री : उसे किसी के यहाँ खाना खाने आना है इधर। पाँच मिनट के लिए यहाँ भी आएगा।

पुरुष-एक फिर उसी तरह 'हूँ' के साथ कुर्सी को झुलाने लगता है।

मुझे यह आदत अच्छी नहीं लगती तुम्हारी। कितनी बार कह चुकी हूँ।

पुरुष-एक कुर्सी से हाथ हटा लेता है।

पुरुष-एक : तुम्हीं ने कहा होगा उससे आने के लिए।

स्त्री : कहना फर्ज़ नहीं बनता मेरा? आख़िर मेरा बॉस है।

पुरुष-एक : बॉस का मतलब यह थोड़े ही है न कि...?

स्त्री : तुम ज़्यादा जानते हो? काम तो मैं ही करती हूँ उसके मातहत।

पुरुष-एक फिर से कुर्सी को झुलाने को होकर एकाएक हाथ हटा लेता है।

पुरुष-एक : किस वक़्त आएगा?

स्त्री : पता नहीं। जब भी गुज़रेगा इधर से।

पुरुष-एक : *(छिले हुए स्वर में)* यह अच्छा है...।

स्त्री : लोगों को तो ईर्ष्या है मुझसे, कि दो बार मेरे यहाँ आ चुका है। आज तीसरी बार आएगा।

कैंची, मैगज़ीन और तस्वीरें समेटकर पढ़ने की मेज़ की दराज़ में रख देती है। किताबें बैग में बन्द करके उसे एक तरफ़ सीधा खड़ा कर देती है।

पुरुष-एक : तो लोगों को भी पता है वह आता है यहाँ?

स्त्री : *(एक तीखी नज़र उस पर डालकर)* क्यों, बुरी बात है?

पुरुष-एक : मैंने कहा है बुरी बात है? मैं तो बल्कि कहता हूँ, अच्छी बात है।

स्त्री : तुम जो कहते हो, उसका सब मतलब समझ में आता है मेरी।

पुरुष-एक : तो अच्छा यही है कि मैं कुछ न कहकर चुप रहा करूँ। अगर चुप रहता हूँ, तो...।

स्त्री : तुम चुप रहते हो। और न कोई।

अपनी चीज़ें कुर्सी से उठाकर उन्हें यथास्थान रखने लगती है।

पुरुष-एक : पहले जब-जब आया है वह, मैंने कुछ कहा है तुमसे?

स्त्री : अपनी शरम के मारे! कि दोनों बार तुम घर पर नहीं रहे।

पुरुष-एक : उसमें क्या है! आदमी को काम नहीं हो सकता बाहर?

स्त्री : *(व्यस्त)* वह तो आज भी हो जाएगा तुम्हें।

पुरुष-एक : *(ओछा पड़कर)* जाना तो है आज भी मुझे...पर तुम ज़रूरी समझो मेरा यहाँ रहना, तो...।

स्त्री : मेरे लिए रुकने की ज़रूरत नहीं। *(यह देखती कि कमरे में और कुछ तो करने को शेष नहीं)* तुम्हें और प्याली चाहिए चाय की? मैं बना रही हूँ अपने लिए।

पुरुष-एक : बना रही हो तो बना लेना एक मेरे लिए भी।

स्त्री अहाते के दरवाज़े की तरफ़ जाने लगती है।

सुनो।

स्त्री रुककर उसकी तरफ़ देखती है।

उसका क्या हुआ...वह जो हड़ताल होनेवाली थी तुम्हारे दफ़्तर में?

स्त्री : जब होगी पता चल ही जाएगा तुम्हें।

पुरुष-एक : पर होगी भी?

स्त्री : तुम उसी के इन्तज़ार में हो क्या?

चली जाती है। पुरुष-एक सिर हिलाकर इधर-उधर देखता है कि अब वह अपने को कैसे व्यस्त रख सकता है। फिर जैसे याद हो आने से शाम का अख़बार ज़ेब से निकालकर खोल लेता है। हर सुर्खी पढ़ने के साथ उसके चेहरे का भाव और तरह का हो जाता है– उत्साहपूर्ण, व्यंग्यपूर्ण, तनाव-भरा या पस्त। साथ मुँह से 'बहुत अच्छे!', 'मार दिया', 'लो' और 'अब?' जैसे शब्द निकल पड़ते हैं। स्त्री रसोईघर से लौटकर आती है।

पुरुष-एक : *(अख़बार हटाकर स्त्री को देखता)* हड़तालें तो आजकल सभी जगह हो रही हैं। इसमें देखो...।

स्त्री : *(उस ओर से विरक्त)* तुम्हें सचमुच कहीं जाना है क्या? कहाँ जाने की बात कर रहे थे तुम?

पुरुष-एक : सोच रहा था, जुनेजा के यहाँ हो आता।

स्त्री : ओऽऽ जुनेजा के यहाँ!...हो आओ।

पुरुष-एक : फिलहाल उसे देने के लिए पैसा नहीं है, तो कम-से-कम मुँह तो उसे दिखाते रहना चाहिए।

स्त्री : हाँऽऽ, दिखा आओ मुँह जाकर।

पुरुष-एक : वह छह महीने बाहर रहकर आया है। हो सकता है, कोई नया कारोबार चलाने की सोच रहा हो जिसमें मेरे लिए...

स्त्री : तुम्हारे लिए तो पता नहीं क्या-क्या करेगा वह ज़िन्दगी में! पहले ही कुछ कम नहीं किया है।

झाड़न लेकर कुर्सियों वगैरह को झाड़ना शुरू कर देती है।

इतनी गर्द भरी रहती है हर वक़्त इस घर में! पता नहीं कहाँ से चली आती है!

पुरुष-एक : तुम नाहक कोसती रहती हो उस आदमी को। उसने तो अपनी तरफ़ से हमेशा मेरी मदद ही की है।

स्त्री : न करता मदद, तो उतना नुकसान तो न होता जितना उसके मदद करने से हुआ है।

पुरुष-एक : *(कुढ़कर सोफे पर बैठता)* तो नहीं जाता मैं! अपने अकेले के लिए जाना है मुझे! अब तक तकदीर ने साथ नहीं दिया तो इसका यह मतलब तो नहीं कि...

स्त्री : यहाँ से उठ जाओ। मुझे झाड़ लेने दो ज़रा।

पुरुष-एक उठकर फिर बैठने की प्रतीक्षा में खड़ा रहता है।

उस कुर्सी पर चले जाओ। वह साफ़ हो गई है।

पुरुष-एक गाली देती नज़र से उसे देखकर उस कुर्सी पर जा बैठता है।

(बड़बड़ाती) पहली बार प्रेस में जो हुआ सो हुआ। दूसरी बार फिर क्या हो गया? वही पैसा जुनेजा ने लगाया, वही तुमने लगाया। एक ही फैक्टरी लगी, एक ही जगह जमा-ख़र्च हुआ। फिर भी तक़दीर ने उसका साथ दे दिया, तुम्हारा नहीं दिया।

पुरुष-एक : *(गुस्से से उठता है)* तुम तो ऐसी बात करती हो जैसे...

स्त्री : खड़े क्यों हो गए?

पुरुष-एक : क्यों, मैं खड़ा नहीं हो सकता?

स्त्री : *(हलका वक्फ़ा लेकर तिरस्कारपूर्ण स्वर में)* हो तो सकते हो, पर घर के अन्दर ही।

पुरुष-एक : *(किसी तरह गुस्सा निगलता)* मेरी जगह तुम हिस्सेदार होतीं न फैक्टरी की, तो तुम्हें पता चल जाता कि...

स्त्री : पता तो मुझे अब भी चल रहा है। नहीं चल रहा?

पुरुष-एक : *(बड़बड़ाता)* उन दिनों पैसा लिया कितना था फैक्टरी से! जो कुछ लगाया था, यह सारा तो शुरू में ही निकाल-निकालकर खा लिया और...

स्त्री : किसने खा लिया? मैंने?

पुरुष-एक : नहीं, मैंने! पता है कितना ख़र्च था उन दिनों इस घर का? चार सौ रुपये महीने का मकान था। टैक्सियों में आना-जाना होता था। किस्तों पर फ्रिज ख़रीदा गया था। लड़के-लड़की की कान्वेंट की फीसें जाती थीं...।

स्त्री : शराब आती थी। दावतें उड़ती थीं। उन सब पर पैसा तो ख़र्च होता ही था।

पुरुष-एक : तुम लड़ना चाहती हो?

स्त्री : तुम लड़ भी सकते हो इस वक़्त, ताकि उसी बहाने चले जाओ घर से।...वह आदमी आएगा, तो जाने क्या सोचेगा कि क्यों हर बार इसके आदमी को कोई-न-कोई काम हो जाता है बाहर। शायद समझे कि मैं ही जान-बूझकर भेज देती हूँ।

पुरुष-एक : वह मुझसे तय करके तो आता नहीं कि मैं उसके लिए मौजूद रहा करूँ घर पर।

स्त्री : कह दूँगी, आगे से तय करके आया करे तुमसे। तुम इतने बिज़ी आदमी जो हो। पता नहीं कब किस बोर्ड की मीटिंग में जाना पड़ जाए।

पुरुष-एक : *(कुछ धीमा पड़कर, पराजित भाव से)* तुम तो बस...आमादा ही रहती हो हर वक़्त।

स्त्री : अब जुनेजा आ गया है न लौटकर, तो रहा करना फिर तीन-तीन दिन घर से ग़ायब।

पुरुष-एक : *(पूरी शक्ति समेटकर सामना करता)* तुम फिर से वही बात उठाना चाहती हो? अगर रहा भी हूँ कभी मैं तीन दिन घर से बाहर, तो आख़िर किस वजह से?

स्त्री : वजह का पता तुम्हें होगा या तुम्हारे लड़के को। वह भी तीन-तीन दिन दिखाई नहीं देता घर पर।

पुरुष-एक : तुम मेरा मुकाबला उससे करती हो?

स्त्री : नहीं, उसका मुकाबला तुमसे करती हूँ। जिस तरह तुमने ख्वार की अपनी ज़िन्दगी, उसी तरह वह भी...

पुरुष-एक : और लड़की तुम्हारी? उसने अपनी ज़िन्दगी ख्वार करने की सीख किससे ली है? *(अपने जाने भारी पड़ता)* मैंने तो कभी किसी के साथ घर से भागने की बात नहीं सोची थी।

स्त्री : *(एकटक उसकी आँखों में देखती)* तुम कहना क्या चाहते हो?

पुरुष-एक : कहना क्या है...जाकर चाय बना लो, पानी हो गया होगा।

सोफे पर बैठकर फिर अख़बार खोल लेता है, पर ध्यान पढ़ने में लगा नहीं पाता।

स्त्री : मुझे भी पता है, पानी हो गया होगा। मैं जब भी किसी को बुलाती हूँ यहाँ, मुझे पता होता है तुम यही सब बातें करोगे।

पुरुष-एक : *(जैसे अख़बार में कुछ पढ़ता हुआ)* हूँ-हूँ-हूँ-हूँ।

स्त्री : वैसे हज़ार बार कहोगे कि लड़के की नौकरी के लिए किसी से बात क्यों नहीं करतीं। और जब मैं मौका निकालती हूँ उसके लिए, तो...

पुरुष-एक : हाँऽऽ, सिंघानिया तो लगवा ही देगा ज़रूर। इसीलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर।

स्त्री : शुक्र नहीं मानते कि इतना बड़ा आदमी, सिर्फ़ एक बार केहने-भर से...

पुरुष-एक : मैं नहीं शुक्र मनाता? जब-जब किसी नए आदमी का आना-जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मानता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था। फिर मनोज आने लगा था...।

स्त्री : *(स्थिर दृष्टि से उसे देखती)* और क्या-क्या बात रह गई है कहने को बाक़ी? वह भी कह डालो जल्दी से।

पुरुष-एक : क्यों...जगमोहन का नाम मेरी ज़बान पर आया नहीं कि तुम्हारे हवास गुम होने शुरू हुए?

स्त्री : *(गहरी वितृष्णा के साथ)* जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं...

कहती हुई अहाते के दरवाज़े की तरफ़ मुड़ती ही है कि बाहर से बड़ी लड़की की आवाज़ सुनाई देती है।

बड़ी लड़की : ममा!

स्त्री रुककर उस तरफ़ देखती है। चेहरा कुछ फीका पड़ जाता है।

स्त्री : बिन्नी आई है बाहर।

पुरुष-एक न चाहते मन से अख़बार लपेटकर उठ खड़ा होता है।

पुरुष-एक : फिर उसी तरह आई होगी।

स्त्री : जाकर देख लोगे क्या चाहिए उसे?

बड़ी लड़की की आवाज़ फिर सुनाई देती है।

बड़ी लड़की : ममा, टूटे पचास पैसे देना ज़रा।

पुरुष-एक किसी अनचाही स्थिति का सामना करने की तरह बाहर के दरवाज़े की तरफ़ बढ़ता है।

स्त्री : पचास पैसे हैं न तुम्हारी ज़ेब में? होंगे तो सही दूध के पैसों में से बचे हुए।

पुरुष-एक : मैंने सिर्फ़ पाँच पैसे ख़र्च किए हैं अपने पर—इस अख़बार के।

बाहर निकल जाता है। स्त्री पल-भर उधर देखती रहकर अहाते के दरवाज़े से रसोईघर में चली जाती है। बड़ी लड़की बाहर से आती है। पुरुष-एक उसके पीछे-पीछे आकर इस तरह कमरे में नज़र दौड़ाता है जैसे स्त्री के उस समय कमरे में न होने से वह अपने को ग़लत जगह पर अकेला पा रहा हो।

पुरुष-एक : *(अपने अटपने को ढँक पाने में असमर्थ, बड़ी लड़की से)* बैठ तू।

बड़ी लड़की : ममा कहाँ है?

पुरुष-एक : उधर होगी रसोईघर में।

बड़ी लड़की : *(पुकारकर)* ममा!

स्त्री दोनों हाथों में चाय की प्यालियाँ लिए अहाते के दरवाज़े से आती है।

स्त्री : क्या हाल हैं तेरे?

बड़ी लड़की : ठीक हैं।

पुरुष-एक स्त्री को हाथों के इशारे से बतलाने की कोशिश करता है कि वह अपने साथ सामान कुछ भी नहीं लाई।

स्त्री : चाय लेगी?

बड़ी लड़की : अभी नहीं, पहले हाथ-मुँह धो लूँ गुसलखाने में जाकर। सारा जिस्म इस तरह चिपचिपा रहा है कि बस...।

स्त्री : तेरी आँखें ऐसी क्यों हो रही हैं?

बड़ी लड़की : कैसी हो रही हैं?

स्त्री : पता नहीं कैसी हो रही हैं!

बड़ी लड़की : तुम्हें ऐसे ही लग रहा है। मैं अभी आती हूँ हाथ-मुँह धोकर।

अहाते के दरवाज़े से चली जाती है। पुरुष-एक अर्थपूर्ण दृष्टि से स्त्री को देखता उसके पास जाता है।

पुरुष-एक : मुझे तो यह उसी तरह आई लगती है।

स्त्री चाय की प्याली उसकी तरफ़ बढ़ा देती है।

स्त्री : चाय ले लो।

पुरुष-एक : *(चाय लेकर)* इस बार कुछ सामान भी नहीं है साथ में।

स्त्री : हो सकता है। थोड़ी देर के लिए आई हो।

पुरुष-एक : पर्स में सिर्फ़ एक ही रुपया था। स्कूटर-रिक्शा का पूरा किराया भी नहीं।

स्त्री : क्या पता कहीं और से आ रही हो!

पुरुष-एक : तुम हमेशा बात को ढँकने की कोशिश क्यों करती हो? एक बार इससे पूछती क्यों नहीं खुलकर?

स्त्री : क्या पूछूँ?

पुरुष-एक : यह मैं बताऊँगा तुम्हें?

स्त्री चाय के घूँट भरती एक कुर्सी पर बैठ जाती है।

(पल-भर उत्तर की प्रतीक्षा करने के बाद) मेरी उस आदमी के बारे में कभी अच्छी राय नहीं थी। तुम्हीं ने हवा बाँध रखी थी कि मनोज यह है, वह है—जाने क्या है! तुम्हारी शह से उसका घर में आना-जाना न होता, तो क्या यह नौबत आती कि लड़की उसके साथ जाकर बाद में इस तरह...?

स्त्री : *(तंग पड़कर)* तो तुम खुद ही क्यों नहीं पूछ लेते उससे जो पूछना चाहते हो?

पुरुष-एक : मैं कैसे पूछ सकता हूँ?

स्त्री : क्यों नहीं पूछ सकते?

पुरुष-एक : मेरा पूछना इसलिए ग़लत है कि...

स्त्री : तुम्हारा कुछ भी करना किसी-न-किसी वजह से ग़लत होता है। मुझे पता नहीं है?

बड़े-बड़े घूँट भरकर चाय की प्याली ख़ाली कर देती है।

पुरुष-एक : तुम्हें सब पता है! अगर सब-कुछ मेरे करने से होता इस घर में...

स्त्री : *(उठती हुई)* तो पता नहीं और क्या बर्बादी हुई होती। जो दो रोटी आज मिल जाती हैं मेरी नौकरी से, वह भी न मिल पातीं। लड़की भी घर में रहकर ही बुढ़ा जाती, पर यह न सोचा होता किसी ने कि...

पुरुष-एक : *(अहाते के दरवाज़े की तरफ़ संकेत करके)* वह आ रही है।

जल्दी-जल्दी अपनी प्याली ख़ाली करके स्त्री को दे देता है। बड़ी लड़की पहले से काफ़ी सँभली हुई वापस आती है।

बड़ी लड़की : *(आती हुई)* ठंडे पानी के छींटे मुँह पर मारे, तो कुछ होश आया। आजकल के दिनों में तो बस...*(उन दोनों को स्थिर दृष्टि से अपनी ओर देखते पाकर)* क्या बात है, ममा? आप लोग इस तरह क्यों देख रहे हैं मुझे?

स्त्री : मैं प्यालियाँ रखकर आ रही हूँ अन्दर से।

अहाते के दरवाज़े से चली जाती है। पुरुष-एक भी आँखें हटाकर व्यस्त होने का बहाना खोजता है।

बड़ी लड़की : क्या बात है डैडी?

पुरुष-एक : बात?...बात कुछ भी नहीं।

बड़ी लड़की : *(कमज़ोर पड़ती)* है तो सही कुछ-न-कुछ बात।

पुरुष-एक : ऐसे ही तेरी ममा अभी कुछ कह रही थी...

बड़ी लड़की : क्या कह रही थीं?

पुरुष-एक : मतलब वह नहीं, मैं कह रहा था उससे...।

बड़ी लड़की : क्या कह रहे थे?

पुरुष-एक : तेरे बारे में बात कर रहा था।

बड़ी लड़की : क्या बात कर रहे थे?

स्त्री लौटकर आ जाती है।

पुरुष-एक : वह आ गई है, ख़ुद ही बता देगी तुझे।

जैसे अपने को स्थिति से बाहर रखने के लिए थोड़ा परे चला जाता है।

बड़ी लड़की : *(स्त्री से)* डैडी मेरे बारे में क्या बात कर रहे थे, ममा?

स्त्री : उन्हीं से क्यों नहीं पूछती?

बड़ी लड़की : वे कहते हैं तुम बतलाओगी और तुम कहती हो उन्हीं से क्यों नहीं पूछती!

स्त्री : तेरे डैडी तुमसे यह जानना चाहते हैं कि..

पुरुष-एक : *(बीच में ही)* अगर तुम अपनी तरफ़ से नहीं जानना चाहतीं तो रहने दो बात को।

बड़ी लड़की : पर बात ऐसी है क्या जानने की?

स्त्री : बात सिर्फ़ इतनी है कि जिस तरह से तू आजकल आती है वहाँ से, उससे इन्हें कहीं लगता है कि...

पुरुष-एक : तुम्हें जैसे नहीं लगता।

बड़ी लड़की : *(जैसे कठघरे में खड़ी)* क्या लगता है?

स्त्री : कि कुछ है जो तू अपने मन में छिपाए रखती है, हमें नहीं बतलाती।

बड़ी लड़की : मेरी किस बात से लगता है ऐसा?

स्त्री : *(पुरुष-एक से)* अब कहो न इसके सामने वह सब, जो मुझसे कह रहे थे।

पुरुष-एक : तुमने शुरू की है बात, तुम्हीं पूरा कर डालो अब।

स्त्री : *(बड़ी लड़की से)* मैं तुझसे एक सीधा सवाल पूछ सकती हूँ?

बड़ी लड़की : ज़रूर पूछ सकती हो।

स्त्री : तू खुश है वहाँ पर?

बड़ी लड़की : *(बचते स्वर में)* हाँऽऽ, बहुत खुश हूँ।

स्त्री : सचमुच खुश है?

बड़ी लड़की : और क्या ऐसे ही कह रही हूँ?

पुरुष-एक : *(बिलकुल दूसरी तरफ़ मुँह किए)* यह तो कोई जवाब नहीं है।

बड़ी लड़की : *(तुनककर)* तो जवाब क्या तभी होता अगर मैं कहती कि मैं खुश नहीं हूँ, बहुत दुखी हूँ?

पुरुष-एक : आदमी जो जवाब दे, वह उसके चेहरे से भी तो झलकना चाहिए।

बड़ी लड़की : मेरे चेहरे से क्या झलकता है? कि मुझे तपेदिक हो गया है? मैं घुल-घुलकर मरी जा रही हूँ?

पुरुष-एक : एक तपेदिक ही होता है बस आदमी को?

बड़ी लड़की : तो और क्या-क्या होता है? आँख से दिखाई देना बन्द हो जाता है? नाक-कान तिरछे हो जाते हैं? होंठ झड़कर गिर जाते हैं? मेरे चेहरे से ऐसा क्या नज़र आता है आपको?

पुरुष-एक : *(कुढ़कर लौटता)* तेरी माँ ने तुझसे पूछा है, तू उसी से बात कर। मैं इस मारे कभी पड़ता ही नहीं इन चीज़ों में।

सोफे पर जाकर अख़बार खोल लेता है। पर पलभर बाद ध्यान हो आने से कि वह उसने उल्टा पकड़ रखा है, उसे सीधा कर लेता है।

स्त्री : *(बड़ी लड़की से)* अच्छा, छोड़ अब इस बात को। आगे से यह सवाल मैं नहीं पूछूँगी तुझसे।

बड़ी लड़की की आँखें छलछला आती हैं।

बड़ी लड़की : पूछने में रखा भी क्या है, ममा! ज़िन्दगी किसी तरह कटती ही चलती है हर आदमी की।

पुरुष-एक : *(अख़बार का पन्ना उलटता)* यह हुआ कुछ जवाब!

स्त्री : *(पुरुष-एक से)* तुम चुप नहीं रह सकते थोड़ी देर?

पुरुष-एक : मैं क्या कह रहा हूँ? चुप ही बैठा हूँ यहाँ। *(अख़बार में पढ़ता)* नाले का बाँध पूरा करने के लिए बारह साल के लड़के की बलि *(अख़बार से बाहर)* आप चाहे जो कह लें, मेरे मुँह से एक लफ्ज़ भी न निकले। *(फिर अख़बार में से)* उदयपुर में मड्ढा गाँव में बाँध के ठेकेदार का अमानुषिक कृत्य *(अख़बार से बाहर)* हद होती है हर चीज़ की।

स्त्री, बड़ी लड़की के कन्धे पर हाथ रखे उसे पढ़ने की मेज़ के पास ले जाती है।

स्त्री : यहाँ बैठ।

बड़ी लड़की पलकें झपकती वहाँ कुर्सी पर बैठ जाती है।

सच-सच बता, तुझे वहाँ किसी चीज़ की शिकायत है?

बड़ी लड़की : शिकायत किसी चीज़ की नहीं...।

स्त्री : तो?

बड़ी लड़की : और हर चीज़ की है।

स्त्री : फिर भी कोई ख़ास बात?

बड़ी लड़की : ख़ास बात कोई भी नहीं...।

स्त्री : तो?

बड़ी लड़की : ...और सभी बातें ख़ास हैं।

स्त्री : जैसे?

बड़ी लड़की : जैसे...सभी बातें।

स्त्री : तो मेरा मतलब है कि...?

बड़ी लड़की : मेरा मतलब है...कि शादी से पहले मुझे लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। पर अब आकर....अब आकर लगने लगा है कि वह जानना बिलकुल जानना नहीं था।

स्त्री : *(बात की गहराई तक जाने की तरह)* हूँ!...तो क्या उसके चरित्र में कुछ ऐसा है जो...?

बड़ी लड़की : नहीं। उसके चरित्र में ऐसा कुछ नहीं है। इस लिहाज़ से बहुत साफ़ आदमी है वह।

स्त्री : तो फिर क्या उसके स्वभाव में कोई ऐसी बात है जिससे...?

बड़ी लड़की : नहीं स्वभाव उसका हर आदमी जैसा है, बल्कि आम आदमी से ज़्यादा खुशदिल कहना चाहिए उसे।

स्त्री : *(और भी गहराई में जाकर कारण खोजती)* तो फिर?

बड़ी लड़की : यही तो मैं भी नहीं समझ पाती। पता नहीं कहाँ पर क्या है जो ग़लत है!

स्त्री : उसकी आर्थिक स्थिति ठीक है?

बड़ी लड़की : ठीक है।

स्त्री : सेहत?

बड़ी लड़की : बहुत अच्छी है।

पुरुष-एक : *(बिना उधर देखे)* सब-कुछ अच्छा-ही-अच्छा है फिर तो...। शिकायत किस बात की है?

स्त्री : *(पुरुष-एक से)* तुम बात समझने भी दोगे? *(बड़ी लड़की से)* जब इनमें से किसी चीज़ की शिकायत नहीं है तुझे, तब या तो कोई बहुत ख़ास वजह होनी चाहिए, या...

बड़ी लड़की : या?

स्त्री : या...या...मैं अभी नहीं कह सकती।

बड़ी लड़की : वजह सिर्फ़ वह हवा है जो हम दोनों के बीच से गुज़रती है।

पुरुष-एक : *(उस ओर देखकर)* क्या कहा...हवा?

बड़ी लड़की : हाँ, हवा।

पुरुष-एक : *(निराश भाव से सिर हिलाकर, मुँह फिर दूसरी तरफ़ करता)* यह वजह बताई है इसने...हवा!

स्त्री : *(बड़ी लड़की के चेहरे को आँखों से टटोलती)* मैं तेरा मतलब नहीं समझी?

बड़ी लड़की : *(उठती हुई)* मैं शायद समझा भी नहीं सकती *(अस्थिर भाव से कुछ क़दम चलती)* किसी दूसरे को तो क्या, अपने को भी नहीं

समझा सकती। *(सहसा रुककर)* ममा, ऐसा भी होता है क्या कि...

स्त्री : कि?

बड़ी लड़की : कि दो आदमी जितना ज़्यादा साथ रहें, एक हवा में साँस लें, उतना ही ज़्यादा अपने को एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें?

स्त्री : तुम दोनों ऐसा महसूस करते हो?

बड़ी लड़की : कम-से-कम अपने लिए तो मैं कह ही सकती हूँ।

स्त्री : *(पल-भर उसे देखती रहकर)* तू बैठकर क्यों नहीं बात करती?

बड़ी लड़की : मैं ठीक हूँ इसी तरह।

स्त्री : तूने जो बात कही है, वह अगर सच है, तो उसके पीछे क्या कोई-न-कोई ऐसी अड़चन नहीं है जो...

बड़ी लड़की : पर कौन-सी अड़चन?...उसके हाथ में छलक गई चाय की प्याली, या उसके दफ़्तर से लौटने में आधा घंटे की देर—ये छोटी-छोटी बातें अड़चन नहीं होतीं, मगर अड़चन बन जाती हैं। एक गुबार-सा है जो हर वक़्त मेरे अन्दर भरा रहता है और मैं इन्तज़ार में रहती हूँ जैसे कि कब कोई बहाना मिले जिससे उसे बाहर निकाल लूँ। और आख़िर...?

स्त्री चुपचाप आगे सुनने की प्रतीक्षा करती है।

आख़िर वह सीमा आ जाती है जहाँ पहुँचकर वह निढाल हो जाता है। ऐसे में वह एक ही बात कहता है।

स्त्री : क्या?

बड़ी लड़की : कि मैं इस घर से ही अपने अन्दर कुछ ऐसी चीज़ लेकर गई हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देतीं।

स्त्री : *(जैसे किसी ने उसे तमाचा मार दिया हो)* क्या चीज़?

बड़ी लड़की : मैं पूछती हूँ क्या चीज़, तो भी उसका एक ही जवाब होता है।

स्त्री : वह क्या?

बड़ी लड़की : कि इसका पता मुझे अपने अन्दर से, या इस घर के अन्दर से चल सकता है। वह कुछ नहीं बता सकता।

पुरुष-एक : *(फिर उस तरफ़ मुड़कर)* यह सब कहता है वह? और क्या-क्या कहता है?

स्त्री : वह इस वक़्त तुमसे बात नहीं कर रहा।

पुरुष-एक : पर बात तो मेरे ही घर की हो रही है।

स्त्री : तुम्हारा घर! हँह!

पुरुष-एक : तो मेरा घर नहीं है यह? कह दो नहीं है।

स्त्री : सचमुच तुम अपना घर समझते इसे, तो...

पुरुष-एक : कह दो, कह दो, जो कहना चाहती हो।

स्त्री : दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे...जो कहना चाहती हूँ।

पुरुष-एक : कह दो अब भी...इससे पहले कि दस साल ग्यारह साल हो जाएँ।

स्त्री : नहीं होने पाएँगे ग्यारह साल...इसी तरह चलता रहा सब-कुछ तो।

पुरुष-एक : *(एकटक उसे देखता, काट के साथ)* नहीं होने पाएँगे सचमुच?...काफ़ी अच्छा आदमी है जगमोहन! और फिर से दिल्ली में उसका ट्रांसफर भी हो गया है। मिला था उस दिन कनॉट प्लेस में। कह रहा था, आएगा किसी दिन मिलने।

बड़ी लड़की : *(धीरज खोकर)* डैडी!

पुरुष-एक : ऐसी क्या बात कही है मैंने? तारीफ़ ही की है उस आदमी की।

स्त्री : खूब करो तारीफ़...और भी जिस-जिस की हो सके तुमसे। *(बड़ी लड़की से)* मनोज आज जो तुमसे कहता है यह सब, पहले जब खुद यहाँ आता रहा है, रात-दिन यहाँ रहता रहा है, तब क्या उसे नहीं पता चला कि...

बड़ी लड़की : यह मैं उससे नहीं पूछती।

स्त्री : पर क्यों नहीं पूछती?

बड़ी लड़की : क्योंकि मुझे कहीं लगता है कि...कैसे बताऊँ, क्या लगता है? वह जितने विश्वास के साथ यह बात कहता है, उससे...उससे मुझे अपने से एक अजब-सी चिढ़ होने लगती है। मन करता है...मन करता है आसपास की हर चीज़ को तोड़-फोड़ डालूँ। कुछ ऐसा कर डालूँ जिससे...

स्त्री : जिससे?

बड़ी लड़की : जिससे उसके मन को कड़ी-से-कड़ी चोट पहुँचा सकूँ। उसे मेरे लम्बे बाल अच्छे लगते हैं। इसलिए सोचती हूँ, इन्हें जाकर कटा आऊँ। वह मेरे नौकरी करने के हक में नहीं है। इसलिए चाहती हूँ कहीं भी, कोई भी छोटी-मोटी नौकरी ढूँढ़कर कर लूँ। कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह अन्दर से तिलमिला उठे। पर कर मैं कुछ भी नहीं पाती और जब नहीं कर पाती, तो खीजकर...

स्त्री : यहाँ चली आती है?

बड़ी लड़की पल-भर चुप रहकर सिर हिला देती है।

बड़ी लड़की : नहीं।

स्त्री : तो?

बड़ी लड़की : कई-कई दिनों के लिए अपने को उससे काट लेती हूँ। पर धीरे-धीरे हर चीज़ फिर उसी ढर्रे पर लौट आती है। सब-कुछ फिर उसी तरह होने लगता है जब तक कि हम...जब तक कि हम नए सिरे से उसी खोह में नहीं पहुँच जाते। मैं यहाँ आती हूँ...यहाँ आती हूँ तो सिर्फ़ इसीलिए कि...

स्त्री : तेरा अपना घर है यह।

बड़ी लड़की : मेरा अपना घर!...हाँ। और मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज़ है वह इस घर में जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है। *(लगभग टूटते स्वर में)* तुम बता सकती हो ममा, कि क्या चीज़ है वह? और कहाँ है वह? इस घर के खिड़कियों-दरवाज़ों में? छत में? दीवारों में? तुममें? डैडी में? किन्नी में? अशोक में? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज़ जो वह कहता है मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर गई हूँ? *(स्त्री की दोनों बाँहें हाथ में लेकर)* बताओ ममा, क्या है वह चीज़? कहाँ पर है वह इस घर में?

काफ़ी लम्बा वक़्फ़ा। कुछ देर बड़ी लड़की के हाथ स्त्री की बाँहों पर रुके रहते हैं और दोनों की आँखें मिली रहती हैं। धीरे-धीरे पुरुष-एक की गरदन उनकी तरफ़ मुड़ती है। तभी स्त्री आहिस्ता से बड़ी लड़की के हाथ अपनी बाँहों से हटा देती है। उसकी आँखें पुरुष-एक से मिलती हैं और वह जैसे उससे कुछ कहने के लिए कुछ क़दम उसकी तरफ़ बढ़ाती है। बड़ी लड़की जैसे अब भी अपने सवाल का जवाब चाहती, अपनी जगह पर रुकी उन दोनों को देखती रहती है। पुरुष-एक स्त्री को अपनी तरफ़ आते देख आँखें उधर से हटा लेता है और दो-एक पल असमंजस में रहने के बाद अनजाने में ही अख़बार को गोल करके दोनों हाथों से उसकी रस्सी बटने लगता है। स्त्री आधे रास्ते में ही कुछ कहने का विचार छोड़कर पल-भर अपने को सहेजती है। फिर बड़ी लड़की के पास

वापस जाकर हलके से उसके कन्धे को छूती है। बड़ी लड़की पल-भर आँखें मूँदें रहकर अपने आवेग को दबाने का प्रयत्न करती है, फिर स्त्री का हाथ कन्धे से हटाकर एक कुर्सी का सहारा लिए उस पर बैठ जाती है। स्त्री यह समझ में न आने से कि अब उसे क्या करना चाहिए, पल-भर दुविधा में हाथ उलझाए रहती है। उसकी आँखें फिर एक बार पुरुष-एक से मिल जाती हैं और वह जैसे आँखों से ही उसका तिरस्कार कर अपने को एक मोढ़े की स्थिति बदलने में व्यस्त कर लेती है। पुरुष-एक अपनी जगह से उठ पड़ता है। अख़बार की रस्सी अपने हाथों में देखकर अटपटा महसूस करता है और कुछ देर अनिश्चित खड़ा रहने के बाद फिर से बैठकर उस रस्सी के टुकड़े करने लगता है। तभी छोटी लड़की बाहर के दरवाज़े से आती है और उन तीनों को उस तरह देखकर अचानक ठिठक जाती है।

छोटी लड़की : कुछ पता ही नहीं चलता यहाँ तो।

तीनों में से केवल स्त्री उसकी तरफ़ देख लेती है।

स्त्री : क्या कह रही है तू?

छोटी लड़की : बताओ, चलता है कुछ पता? स्कूल से आई, तो घर पर कोई भी नहीं था। और अब आई हूँ, तो तुम भी हो, डैडी भी हैं, बिन्नी-दी भी हैं—पर सबलोग ऐसे चुप हैं जैसे...

स्त्री : *(उसकी तरफ़ आती)* तू अपना बता कि आते ही चली कहाँ गई थी?

छोटी लड़की : कहीं भी चली गई थी। घर पर था कोई जिसके पास बैठती यहाँ?...दूध गरम हुआ है मेरा?

स्त्री अभी हुआ जाता है।

छोटी लड़की : अभी हुआ जाता है! स्कूल में भूख लगे तो कोई पैसा नहीं होता पास में। और घर आने पर घंटा-घंटा दूध ही नहीं होता गरम।

स्त्री : कहा है न तुमसे, अभी हुआ जाता है। *(पुरुष-एक से)* तुम उठ रहे हो या मैं जाऊँ?

पुरुष-एक अख़बार के टुकड़े को दोनों हाथों में समेटे उठ खड़ा होता है?

पुरुष-एक : *(कोई कड़वी चीज़ निगलने की तरह)* जा रहा हूँ मैं ही...।

अख़बार के टुकड़े पर इस तरह नज़र डाल लेता है जैसे कि वह कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ था जिसे उसने टुकड़े-टुकड़े कर दिया है।

स्त्री : *(छोटी लड़की से)* तू फिर एक किताब फाड़ लाई है आज?

पुरुष-एक चलते-चलते रुक जाता है कि इस महत्त्वपूर्ण प्रकरण का निपटारा भी देख ही ले।

छोटी लड़की : अपने आप फट गई, तो मैं क्या करूँ? आज सिलाई की क्लास में फिर वही हुआ मेरे साथ। मिस ने कहा...

स्त्री : तू मिस की बात बाद में करना। पहले यह बता कि...

छोटी लड़की : रोज़ कहती हो, बाद में करना। आज भी मुझे रीलें लाकर न दीं, तो मैं स्कूल नहीं जाऊँगी कल से। मिस ने सारी क्लास के सामने मुझसे कहा कि...

स्त्री : तू और तेरी मिस! रोग लगा रखा है जान को!

छोटी लड़की : तो उठा लो न मुझे स्कूल से। जैसे शोकी मारा-मारा फिरता है सारा दिन, मैं भी फिरती रहा करूँगी।

बड़ी लड़की इस बीच काफ़ी अस्थिर महसूस करती छोटी लड़की को देखती है।

बड़ी लड़की : *(अपने को रोक पाने में असमर्थ)* तुझे तमीज़ से बात करना नहीं आता? बड़ा भाई है वह तेरा।

छोटी लड़की : क्यों...फिरता नहीं वह मारा-मारा सारा दिन?

बड़ी लड़की : किन्नी!

छोटी लड़की : तुम यहाँ थीं, तो क्या कुछ कहा करती थीं उसके बारे में? तुम्हारा भी तो बड़ा भाई है। चाहे एक ही साल बड़ा है, है तो बड़ा ही।

बड़ी लड़की : *(स्त्री से)* ममा, तुमने इस लड़की की ज़बान बहुत खोल दी है।

पुरुष-एक : अगर यही बात मैं कह दूँ न इससे...।

स्त्री : पहले जो-जो कहना है, वह कह लो तुम। उसके बाद देख लेना अगर...

पुरुष-एक : *(अहाते के दरवाज़े की तरफ़ चलता)* कहना क्या है? कहता ही नहीं कभी। मैं दूध गरम कर रहा हूँ इसका।

दरवाज़े से निकल जाता है।

छोटी लड़की : कल मुझे रीलों का डब्बा ज़रूर चाहिए और मिस बैनर्जी ने सब लड़कियों से कहा है आज कि फ़ाउंडर्स-डे पी.टी. के लिए तीन-तीन नए किट...

स्त्री : कितने?

छोटी लड़की : तीन-तीन। सब लड़कियों को बनवाने हैं। और तुमने कहा था क्लिप और मोज़े इस हफ़्ते ज़रूर आ जाएँगे, आ गए हैं? कितनी शरम आती है मुझे फटे मोज़े पहनकर स्कूल जाते!
पल-भर की औघड़ ख़ामोशी।

स्त्री : *(जैसे अपने को उस प्रकरण से बचाने की कोशिश में)* अच्छा, देख...स्कूल से आकर तू अपना बैग यहाँ खुला छोड़ गई थी! मैंने आकर बन्द किया है। पहले इसे अन्दर रखकर आ।

छोटी लड़की : तुमने मेरी बात सुनी है?

स्त्री : सुन ली है।

छोटी लड़की : तो जवाब क्यों नहीं दिया कुछ? *(कोने से बैग उठाकर झटके से अन्दर को चलती)* मैं कर रही हूँ क्लिप और मोज़ों की बात और कह रही हैं बैग रखकर आ अन्दर।

चली जाती है। बड़ी लड़की कुर्सी से उठ पड़ती है।

बड़ी लड़की : हम कह पाते थे कभी इतनी बात? आधी बात भी कह दें इससे, तो रासें इस तरह कस दी जाती थीं कि बस!

स्त्री पल-भर अपने में डूबी खड़ी रहती है।

स्त्री : *(चेष्टा से अपने को सहेजकर)* क्या कहा तूने?

बड़ी लड़की : मैंने कहा है कि...*(सहसा स्त्री के भाव के प्रति सचेत होकर)* तुम सोच रही थीं कुछ?

स्त्री : नहीं...सोच नहीं रही थी *(इधर-उधर नज़र डालती)* देख रही थी कि और कुछ समेटने को तो नहीं है। अभी कोई आनेवाला है बाहर से और...।

बड़ी लड़की : कौन आने वाला है?

पुरुष-एक दूध के गिलास में चीनी हिलाता अहाते के दरवाज़े से आता है।

पुरुष-एक : सिंघानिया। इसका बॉस। वह नया आना शुरू हुआ है आजकल।

गिलास डायनिंग टेबल पर छोड़कर बिना किसी की तरफ़ देखे वापस चला जाता है। स्त्री कड़ी नज़र से उसे जाते देखती है। बड़ी लड़की स्त्री के पास आ जाती है।

बड़ी लड़की : ममा!

स्त्री की आँखें घूमकर बड़ी लड़की के चेहरे पर अस्थिर होती हैं। कह वह कुछ नहीं पाती।

क्या बात है, ममा!

स्त्री : कुछ नहीं।

बड़ी लड़की : फिर भी?

स्त्री : कहा है न, कुछ नहीं।

वहाँ से हटकर कबर्ड के पास चली जाती है और उसे खोलकर अन्दर से कोई चीज़ ढूँढ़ने लगती है।

बड़ी लड़की : *(उसके पीछे जाकर)* ममा!

स्त्री कोई उत्तर न देकर कबर्ड में से एक मेज़पोश निकाल लेती और कबर्ड बन्द कर देती है।

तुम तो आदी हो रोज़-रोज़ ऐसी बातें सुनने की। कब तक इन्हें मन पर लाती रहोगी?

स्त्री उसका वाक्य पूरा होने तक रुकी रहती है फिर जाकर तिपाई का मेज़पोश बदलने लगती है।

(उसकी तरफ़ आती) एक तुम्हीं करनेवाली हो सब-कुछ इस घर में। अगर तुम्हीं...

स्त्री के बदलते भाव को देखकर बीच में ही रुक जाती है। स्त्री पुराने मेज़पोश को हाथों में लिए एक नज़र उसे देखती है, फिर उमड़ते आवेग को रोकने की कोशिश में चेहरा मेज़पोश से ढँक लेती है।

(काफ़ी धीमे स्वर में) ममा!

स्त्री आहिस्ता से मोढ़े पर बैठती हुई मेज़पोश चेहरे से हटाती है।

स्त्री : *(रुलाई लिए स्वर में)* अब मुझसे नहीं होता, बिन्नी। अब मुझसे नहीं सँभलता।

पुरुष-एक अहाते के दरवाज़े से आता है—दो जले टोस्ट एक प्लेट में लिए। स्त्री के शब्द उसके कानों में पड़ते हैं, पर वह जानबूझकर अपने चेहरे से कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं होने देता। प्लेट दूध के गिलास के पास छोड़कर वह किताबों के शेल्फ़ की तरफ़ चला जाता है और उसके निचले हिस्से में रखी फ़ाइलों में से जैसे कोई ख़ास फ़ाइल ढूँढ़ने लगता है। बड़ी लड़की बात करने से पहले पल-भर को वक़्फ़ा लेकर उसे देखती है।

बड़ी लड़की : *(विशेष रूप से उसी को सुनाती, स्त्री से)* जो तुमसे नहीं सँभलता, वह और किससे सँभल सकता है इस घर में...जान सकती हूँ?

पुरुष-एक जैसे एक फ़ाइल की धूल झाड़ने के लिए उसे दो-एक ज़ोर के हाथ लगाकर पीट देता है।

जब से बड़ी हुई हूँ तभी से देख रही हूँ। तुम सब-कुछ सहकर भी रात-दिन अपने को इस घर के लिए हलाक करती रही हो और...

पुरुष-एक अब एक और फ़ाइल को उससे भी तेज़ और ज़्यादा बार पीट देता है।

स्त्री : पर हुआ क्या है उससे?

न सह पाने की नज़र से पुरुष-एक की तरफ़ देखकर मोढ़े से उठ पड़ती है। पुरुष-एक दोनों फ़ाइलों को ज़ोर-ज़ोर से आपस में टकराता है।

(एकाएक पुरुष-एक की थप-थप से उतावली पड़कर) तुम्हें सारे घर में यह धूल इसी वक़्त फैलानी है क्या?

पुरुष-एक : जुनेजा की फ़ाइल ढूँढ़ रहा था। नहीं ढूँढ़ता।

जैसे-तैसे फ़ाइलों को उनकी जगह में वापस ठूँसने लगता है। छोटी लड़की पाँव पटकती अन्दर से आती है।

छोटी लड़की : देख लो ममा, यह मुझे फिर तंग कर रहा है।

बड़ी लड़की : *(लगभग डाँटती)* तू चिल्ला क्यों रही है इतना?

छोटी लड़की : चिल्ला रही हूँ क्योंकि शोकी अन्दर मुझे...

बड़ी लड़की : शोकी-शोकी क्या होता है? तू अशोक भापाजी नहीं कह सकती?

छोटी लड़की : अशोक भापाजी?...वह?

व्यंग्य के साथ हँसती है।

स्त्री : अशोक अन्दर क्या कर रहा है इस वक़्त? मैं तो सोचती थी कि वह...

छोटी लड़की : पड़ा सो रहा था अब तक। मैंने जाकर जगा दिया, तो लगा मेरे बाल खींचने।

लड़का अन्दर से आता है। लगता है, दो-तीन दिन से उसने शेव नहीं की।

लड़का : कौन सो रहा था? मैं? बिलकुल झूठ।

बड़ी लड़की : शेव करना छोड़ दिया है क्या तूने?

लड़का : *(अपने चेहरे को छूता)* फ्रेंचकट रखने की सोच रहा हूँ। कैसी लगेगी मेरे चेहरे पर?

छोटी लड़की : *(उतावली पड़कर)* मेरी बात सुनी नहीं किसी ने। अन्दर मेरे बाल खींच रहा था और बाहर आकर अपनी फ्रेंचकट बता रहा है।

डायनिंग टेबल से दूध का गिलास लेकर गटगट दूध पी जाती है। पुरुष-एक इस बीच शेल्फ़ और फ़ाइलों से ही उलझता रहता है। एक फ़ाइल को किसी तरह अन्दर समाता है तो कुछ और फ़ाइलें बाहर को गिर आती हैं, उन्हें सँभालता है, तो पहले की फ़ाइलें पीछे गिर जाती हैं।

स्त्री : *(लड़के के पास आती)* तुझसे एक बात पूछूँ?

लड़का : पूछो।

स्त्री : इस लड़की की क्या उम्र है?

लड़का : यही तो मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि बारह साल की उम्र में यह लड़की...?

बड़ी लड़की : तेरह साल की उम्र में।

स्त्री : तेरह साल की लड़की कितनी बड़ी होती है?

लड़का : तेरह साल की लड़की तेरह साल बड़ी होती है और तेरह साल बड़ी ही होनी चाहिए उसे, जबकि यह लड़की...

स्त्री : बच्ची नहीं है अब जो तू इसके बाल खींचता रहे।

छोटी लड़की लड़के की तरफ़ ज़बान निकालती है। पुरुष-एक फ़ाइलों को किसी तरह समेटकर उठ पड़ता है।

लड़का : तब तो सचमुच मुझे ग़लती माननी चाहिए।

स्त्री : ज़रूर माननी चाहिए...।

लड़का : कि मैंने ख़ामख़ाह इसके हाथ से वह किताब छीन ली।

पुरुष-एक : *(अपनी तटस्थता बनाए रखने में असमर्थ, आगे आता)* कौन-सी किताब?

छोटी लड़की : झूठ बोल रहा है। मैंने कोई किताब नहीं ली इसकी।

टोस्टों वाली प्लेट हाथ में लिए मेज़ पर बैठ जाती है।

पुरुष-एक : *(लड़की के पास पहुँचकर)* कौन-सी किताब?

लड़का : *(बुश्शर्ट के अन्दर से किताब निकालकर दिखाता)* यह किताब।

छोटी लड़की : झूठ, बिलकुल झूठ। मैंने देखी भी नहीं यह किताब।

लड़का : *(आँखें फाड़कर उसे देखता)* नहीं देखी?

छोटी लड़की : *(कमज़ोर पड़कर ढीठपन के साथ)* तू तकिए के नीचे रखकर सोए, तो भी कुछ नहीं। मैंने ज़रा निकालकर देख-भर ली, तो...

पुरुष-एक : *(हाथ बढ़ाकर)* मैं देख सकता हूँ?

लड़का : *(किताब वापस बुश्शर्ट में रखता)* नहीं...आपके देखने की नहीं है। *(स्त्री से)* अब फिर पूछो मुझसे कि इसकी उम्र कितने साल है?

बड़ी लड़की : क्यों अशोक...यह वही किताब है न कैसानोवा...?

पुरुष-एक : *(ऊँचे स्वर में)* ठहरो *(बारी-बारी से उन सबकी ओर देखता)* पहले मैं यह जान सकता हूँ यहाँ किसी से कि मेरी उम्र कितने साल की है?

कुछ पलों का व्यवधान, जिसमें सिर्फ़ छोटी लड़की की मुँह और टाँगें चलती रहती हैं।

स्त्री : ऐसी क्या बात कह दी है किसी ने कि...

पुरुष : *(एक-एक शब्द पर ज़ोर देता)* मैं पूछ रहा हूँ कि मेरी उम्र कितने साल है? कितने साल है मेरी उम्र?

स्त्री : *(उठ रही स्थिति के लिए तैयार होकर)* यह तुम्हें पूछकर जानना है क्या?

पुरुष-एक : हाँ, पूछकर ही जानना है आज। कितने साल हो चुके हैं मुझे ज़िन्दगी का भार ढोते? उनमें से कितने साल बीते हैं मेरे इस परिवार की देख-रेख करते? और उस सबके बाद मैं आज पहुँचा कहाँ हूँ? यहाँ कि जिसे देखो वही मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है? जिसे देखो, वही मुझसे बदतमीज़ी से पेश आता है?

लड़का : *(अपनी सफ़ाई देने की कोशिश में)* मैंने तो सिर्फ़ इसलिए कहा था, डैडी, कि...

पुरुष-एक : हर-एक के पास एक-न-एक वजह होती है। इसने इसलिए कहा था। उसने उसलिए कहा था। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे मैं चुपचाप सुन लिया करूँ? हर वक़्त की दुत्कार, हर वक़्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की?

स्त्री : *(वितृष्णा से उसे देखती)* यह सब किसे सुना रहे हो तुम?

पुरुष-एक : किसे सुना सकता हूँ? कोई है जो सुन सकता है? जिन्हें सुनना चाहिए, वे सब तो एक रबड़-स्टैंप के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे। सिर्फ़ ज़रूरत पड़ने पर इस स्टैंप का ठप्पा लगाकर...

स्त्री : यह बहुत बड़ी बात नहीं कह रहे तुम?

लड़का : *(उसे रोकने की कोशिश में)* ममा...!

स्त्री : मुझे सिर्फ़ इतना पूछ लेने दे इनसे कि रबड़-स्टैंप के माने क्या होते हैं? एक अधिकार, एक रुतबा, एक इज़्ज़त—यही न?

लड़का : *(फिर उसी कोशिश में)* सुनो तो सही, ममा...!

स्त्री : *(बिना किसी तरफ़ ध्यान दिए)* यह सब कब-कब मिला है इनसे किसी को भी इस घर में? किस माने में ये कहते हैं कि...?

पुरुष-एक : किसी माने में नहीं। मैं इस घर में एक रबड़-स्टैंप भी नहीं, सिर्फ़ एक रबड़ का टुकड़ा हूँ—बार-बार घिसा जानेवाला रबड़ का टुकड़ा। इसके बाद क्या कोई मुझे वजह बता सकता है, एक भी ऐसी वजह, कि क्यों मुझे रहना चाहिए इस घर में?

सब लोग चुप रहते हैं।

नहीं बता सकता न?

स्त्री : मैंने एक छोटी-सी बात पूछी है तुमसे...

पुरुष-एक : *(सिर हिलाता)* हाँ...छोटी-सी बात ही तो है यह। अधिकार, रुतबा, इज़्ज़त—यह सब बाहर के लोगों से मिल सकता है इस घर को। इस घर का आज तक कुछ बना है, या आगे बन सकता है, तो सिर्फ़ बाहर के लोगों के भरोसे। मेरे भरोसे तो सब-कुछ बिगड़ता आया है और आगे बिगड़-ही-बिगड़ सकता है। *(लड़के की तरफ़ इशारा करके)* यह आज तक बेकार क्यों घूम रहा है? मेरी वजह से। *(बड़ी लड़की की तरफ़ इशारा करके)* यह बिना बताए एक रात घर से क्यों भाग गई थी? मेरी वजह से। *(स्त्री के बिलकुल सामने आकर)* और तुम भी...तुम भी इतने सालों से क्यों चाहती रही हो कि...?

स्त्री : *(बौखलाकर, शेष तीनों से)* सुन रहे हो तुम लोग?

पुरुष-एक : अपनी ज़िन्दगी चौपट करने का ज़िम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी ज़िन्दगी चौपट करने का ज़िम्मेदार मैं हूँ। इन सबकी ज़िन्दगियाँ चौपट करने का ज़िम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अन्दर से मैं आराम-तलब हूँ, घरघुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में ज़ंग लगा है।

स्त्री : मैं नहीं जानती, तुम सचमुच ऐसा महसूस करते हो या...?

पुरुष : सचमुच महसूस करता हूँ। मुझे पता है, मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अन्दर-ही-अन्दर इस घर को खा लिया है *(बाहर के दरवाज़े की तरफ़ चलता)* पर अब पेट भर गया है मेरा। हमेशा के लिए भर गया है *(दरवाज़े के पास रुककर)* और बचा भी क्या है जिसे खाने के लिए और रहता रहूँ यहाँ?

चला जाता है। कुछ देर के लिए सब लोग जड़-से हो रहते हैं। फिर छोटी लड़की हाथ के टोस्ट को मुँह की ओर ले जाती है।

बड़ी लड़की : तुम्हारा ख़याल है, ममा...?

स्त्री : लौट आएँगे रात तक। हर शुक्र-शनीचर यही सब होता है यहाँ।

छोटी लड़की : *(जूठे टोस्ट को प्लेट में वापस पटकती है)* थू:-थू:।

बड़ी लड़की : *(काफ़ी गुस्से के साथ)* तुझे क्या हो रहा है वहाँ?

छोटी लड़की : मुझे क्या हो रहा है यहाँ? यह टोस्ट है, कोयला है?

स्त्री : *(दाँत भींचे)* तू इधर आएगी एक मिनट?

छोटी लड़की : नहीं आऊँगी।

बड़ी लड़की : नहीं आएगी?

छोटी लड़की : नहीं आऊँगी। *(सहसा उठकर बाहर को चलती)* अन्दर जाओ, तो बाल खींचे जाते हैं। बाहर आओ, तो किटपिट-किटपिट-किटपिट और खाने को कोयला—अब उधर आकर इनके तमाचे और खाने हैं।

चली जाती है।

लड़का : *(उसके पीछे जाने को होकर)* मैं देखता हूँ इसे। कम-से-कम इस लड़की को तो मुझे...

दरवाज़े के पास पहुँचता ही है कि पीछे से स्त्री आवाज़ देकर उसे रोक लेती है।

स्त्री : सुन।

लड़का : *(किसी तरह निकल जाने की कोशिश में)* पहले मैं जाकर इसे...।

स्त्री : *(काफ़ी सख़्त स्वर में)* पहले तू आकर यहाँ...बात सुन मेरी।

लड़का किसी ज़रूरी काम पर जाने से रोक लिए जाने की मुद्रा में लौटकर स्त्री के पास आ जाता है।

लड़का : बताओ।

स्त्री : कम-से-कम तुझे इस वक़्त कहीं नहीं जाना है। वह आज फिर आनेवाला है थोड़ी देर में और...

लड़का : *('मुझे क्या, कोई आनेवाला है तो?' की मुद्रा में)* कौन आनेवाला है?

बड़ी लड़की : ममा का बॉस...क्या नाम है उसका?

लड़का : अच्छा, वह...आदमी!

बड़ी लड़की : तू मिला है उससे?

लड़का : दो बार।

बड़ी लड़की : कहाँ?

लड़का : इसी घर में।

स्त्री : *(बड़ी लड़की से)* दोनों बार इसी के लिए बुलाया था मैंने उसे, आज भी इसी की ख़ातिर...

लड़का : *(कुछ तीखा पड़कर)* मेरी ख़ातिर? मुझे क्या लेना-देना है उससे?

बड़ी लड़की : ममा उसके जरिए तेरी नौकरी के लिए कोशिश कर रही होंगी न...।

लड़का : मुझे नहीं चाहिए नौकरी। कम-से-कम उस आदमी के जरिए हरगिज़ नहीं।

बड़ी लड़की : क्यों, उस आदमी को क्या है?

लड़का : चुकन्दर है। वह आदमी है? जिसे बैठने का शऊर है, न बात करने का।

स्त्री : पाँच हज़ार तनख़्वाह है उसकी। पूरा दफ़्तर सँभालता है।

लड़का : पाँच हज़ार तनख़्वाह है, पूरा दफ़्तर सँभालता है, पर इतना होश नहीं है कि अपनी पतलून के बटन...

स्त्री : अशोक!

लड़का : तुम्हारा बॉस न होता, तो उस दिन मैं कान से पकड़कर घर से निकाल दिया होता। सोफे पर टाँग पसारे आप सोच कुछ रहे हैं, जाँघ खुजलाते देख किसी तरफ़ रहे हैं और बात मुझसे कर रहे हैं...*(नकल उतारता)* 'अच्छा, यह बतलाइए कि आपके राजनीतिक विचार क्या हैं?' राजनीतिक विचार हैं मेरी खुजली और उसकी मरहम!

स्त्री : *(अपना माथा सहलाकर बड़ी लड़की से)* ये लोग हैं जिनके लिए मैं जानमारी करती हूँ रात-दिन।

लड़का : पहले पाँच सेकंड आदमी की आँखों में देखता रहेगा। फिर होंठों के दाहिने कोने से ज़रा-सा मुस्कराएगा। फिर एक-एक लफ़्ज़ को चबाता हुआ पूछेगा...*(उसके स्वर में)* 'आप क्या सोचते हैं, आजकल युवा लोगों में इतनी अराजकता क्यों है?' ढूँढ़-ढूँढ़कर सरकारी हिन्दी के लफ्ज़ लाता है—युवा लोगों में! अराजकता!

स्त्री : तो फिर?

लड़का : तो फिर क्या?

स्त्री : तो फिर क्या मरज़ी है तेरी?

लड़का : किस चीज़ को लेकर?

स्त्री : अपने-आपको।

लड़का : मुझे क्या हुआ है?

स्त्री : ज़िन्दगी में तुझे भी कुछ करना-धरना है या बाप ही की तरह...?

लड़का : *(फिर तीखा पड़कर)* हर बात में ख़ामख़ाह उनका जिक्र क्यों बीच में लाती हो?

स्त्री : पढ़ाई थी, तो तूने पूरी नहीं की। एयर-फ्रीज में नौकरी दिलवाई थी, तो वहाँ से छह हफ्ते बाद छोड़कर चला आया। अब मैं नए सिरे से कोशिश करना चाहती हूँ तो...

लड़का : पर क्यों करना चाहती हो? मैंने कहा है तुमसे कोशिश करने के लिए?

बड़ी लड़की : तो तेरा मतलब है कि तू...ज़िन्दगी-भर कुछ भी नहीं करना चाहता?

लड़का : ऐसा कहा है मैंने?

बड़ी लड़की : तो नौकरी के सिवा ऐसा क्या है जो तू...?

लड़का : यह मैं नहीं कह सकता। सिर्फ़ इतना कह सकता हूँ कि जिस चीज़ में मेरी अन्दर से दिलचस्पी नहीं है...।

स्त्री : दिलचस्पी तो तेरी...

बड़ी लड़की : ठहरो, ममा...!

स्त्री : तू ठहर, मुझे बात करने दे। *(लड़के से)* दिलचस्पी तो तेरी सिर्फ़ तीन चीज़ों में है–दिन-भर ऊँघने में, तस्वीरें काटने में और...घर की यह चीज़ वह चीज़ ले जाकर...

लड़का : *(कड़वी नज़र से उसे देखता)* इसे घर कहती हो तुम?

स्त्री : तो तू इसे क्या समझकर रहता है यहाँ?

लड़का : मैं इसे...

बड़ी लड़की : *(उसे बोलने न देने के लिए)* देख अशोक, ममा के यह सब कहने का मतलब सिर्फ़ इतना है कि...

लड़का : मैं नहीं जानता मतलब? तू चली गई है यहाँ से, मैं तो अभी यहीं रहता हूँ।

स्त्री : *(हताश भाव से)* तो क्यों नहीं तू भी फिर...?

बड़ी लड़की : *(झिड़कने के स्वर में)* कैसी बात कर रही हो, ममा!

स्त्री : कैसी बात कर रही हूँ? यहाँ पर सब लोग समझते क्या हैं मुझे? एक मशीन, जोकि सबके लिए आटा पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है? मगर किसी के मन में ज़रा-सा भी ख़याल नहीं है इस चीज़ के लिए कि कैसे मैं...।

इस बीच ही बाहर के दरवाज़े पर पुरुष-दो की आकृति दिखाई देती है जो किवाड़ को हलके से खटखटा देता है। स्त्री चौंककर उधर देखती है और अपनी अधकही बात को बीच में ही चबा जाती है।

(स्वर को किसी तरह सँभालती) आप?...आ गए हैं आप?... आइए-आइए अन्दर।

बड़ी लड़की : *(दायित्वपूर्ण ढंग से दरवाज़े की तरफ़ बढ़ती)* आइए।

पुरुष-दो अभ्यस्त मुद्रा में उनके अभिवादन का उत्तर देता अन्दर आ जाता है।

स्त्री : यह मेरी बड़ी लड़की—बिन्नी। अशोक तो आपसे मिल ही चुका है।

पुरुष-दो : अच्छा-अच्छा...यही है वह लड़की। तुम चर्चा कर रही थीं इसकी। इसका ऑपरेशन हुआ था न पिछले साल...न-न-न न। वह तो मिसेज़ माथुर की लड़की का? नहीं शायद...पर हुआ था किसी की लड़की का।

स्त्री : यहाँ आ जाइए सोफे पर!

सोफे की तरफ़ बढते हुए पुरुष-दो की आँखें लड़के से मिल जाती हैं। लड़का चलते ढंग से उसे हाथ जोड़ देता है। पुरुष-दो फिर उसी अभ्यस्त ढंग से उत्तर दे देता है।

पुरुष-दो : *(बैठता हुआ)* इतने लोगों से मिलना-जुलना होता है कि...*(अपनी घड़ी देखकर)* पाँच मिनट हैं सात में। उनका अनुरोध था, सात तक अवश्य पहुँच जाऊँ। कई लोगों को बुला रखा है उन्होंने—विशेष रूप से मिलने के लिए *(बड़ी लड़की को ध्यान से देखता, स्त्री से)* तुमने बताया था कुछ इसके विषय में। किस कॉलेज में है यह?

स्त्री : अब कॉलेज में नहीं है...

पुरुष-दो : हाँ-हाँ-हाँ...बताया था तुमने। *(बड़ी लड़की से)* बैठो न। *(स्त्री से)* बैठो तुम भी।

स्त्री सोफे के पास कुर्सी पर बैठ जाती है। बड़ी लड़की कुछ दुविधा में खड़ी रहती है।

स्त्री : बैठ जा, खड़ी क्यों है?

बड़ी लड़की : ये जल्दी चले जाएँगे, सोच रही थी चाय का पानी... ।

पुरुष-दो : नहीं-नहीं, चाय-वाय नहीं इस समय। वैसे भी बहुत कम पीता हूँ। एक लेख था कहीं...रीडर्ज़ डाइजेस्ट में था...कि अधिक चाय पीने से *(जाँघ खुजलाता)* रीडर्ज़ डाइजेस्ट भी क्या चीज़ निकालते हैं! अपने यहाँ तो बस ये कहानियाँ वो कहानियाँ, कोई अच्छी पत्रिका मिलती ही नहीं देखने को। एक अमरीकन आया हुआ था पिछले दिनों। बता रह था कि...

लड़का जो इतनी देर परे खड़ा रहता है, अब बढ़कर उनके पास आ जाता है।

लड़का : *(स्त्री से)* ऐसा है ममा, कि...

स्त्री : रुक अभी। *(पुरुष-दो से)* एक प्याली भी नहीं लेंगे?

पुरुष-दो : ना, बिलकुल नहीं।...अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क है कम्पनी के, सो सभी देशों के लोग मिलने आते रहते हैं। जापान से तो पूरा एक प्रतिनिधि-मंडल ही आया हुआ था पिछले दिनों... । कुछ भी कहिए, जापान ने इन सबकी नाक में नकेल कर रखी है आजकल। अभी उस दिन मैं जापान की पिछले वर्ष की औद्योगिक सांख्यिकी देख रहा था...

लड़का : मैं क्षमा चाहूँगा क्योंकि..

स्त्री : तुझसे कहा है, रुक अभी थोड़ी देर। *(पुरुष-दो से)* आप कॉफी पसन्द करते हों, तो...

पुरुष-दो : न चाय, न कॉफी।...एक घटना सुनाऊँ आपको, कॉफी पीने के सम्बन्ध में। आज की बात नहीं, बहुत साल पहले की है। तब की जब मैं अपने विश्वविद्यालय की साहित्य-सभा का मन्त्री था। *(मन में उस बात का रस लेता)* हँ-हैं-हँ-हैं-हँ-हैं।...साहित्यिक गतिविधियों में रुचि आरम्भ से ही थी। सो...*(बड़ी लड़की और लड़के से)* बैठ जाओ तुम लोग।

बड़ी लड़की बैठ जाती है।

लड़का : बात यह है कि...

स्त्री : *(उठती हुई)* बैठ! मैं थोड़ा नमकीन लेकर आ रही हूँ।

लड़के को बैठने के लिए कोंचकर अहाते के दरवाज़े से चली जाती है। लड़का असन्तुष्ट भाव से उसे देखता है, फिर टहलता हुआ पढ़ने की मेज़ के पास चला जाता है। बड़ी लड़की से आँख

मिलने पर हलके से मुँह बनाता है और कुर्सी का रुख थोड़ा सोफे की तरफ़ करके बैठ जाता है।

पुरुष-दो : *(बड़ी लड़की से)* तुम्हें पहले कहीं देखा है...नहीं देखा?

बड़ी लड़की : मुझे?...आपने?

पुरुष-दो : किसी इन्टरव्यू में?

बड़ी लड़की : नहीं तो।

पुरुष-दो : फिर भी लगता है देखा है।...कोई और होगी। बिलकुल तुम्हारे जैसी थी। विचित्र बात नहीं है यह?

बड़ी लड़की : क्या?

पुरुष-दो : कि बहुत-से लोग एक-दूसरे जैसे होते हैं। हमारे अंकल हैं एक। पीठ से देखो—मोरारजी भाई लगते हैं।

लड़का इस बीच मेज़ की दराज़ खोलकर तस्वीरें निकाल लेता है और उन्हें मेज़ पर फैलाने लगता है।

लड़का : हमारी आंटी हैं एक। गरदन काटकर देखो—जीता सोलोब्रिजिदा नज़र आती हैं।

पुरुष-दो : हाँ!...कई लोग होते हैं ऐसे। जीवन की विचित्रताओं की ओर ध्यान देने लगें, तो कई बार तो लगता है कि...*(सहसा ज़ेबें टटोलता)* भूल तो नहीं आया घर पर? *(ज़ेब से चश्मा निकालकर वापस रखता)* नहीं। तो मैं कह रहा था कि...क्या कह रहा था?

बड़ी लड़की : कि जीवन की विचित्रताओं की ओर ध्यान देने लगें, तो...

लड़का : जापान की औद्योगिक...क्या थी वह?...उसकी बात नहीं कर रहे थे?

स्त्री इस बीच नमकीन की प्लेट लिए अहाते के दरवाज़े से आ जाती है।

स्त्री : कोई घटना सुना रहे थे कॉफी पीने के सम्बन्ध में।

पुरुष-दो : हाँ...तो...तो...तो वह...वह जो...।

स्त्री : लीजिए थोड़ा-सा।

पुरुष-दो : हाँ-हाँ...ज़रूर *(बड़ी लड़की से)* लो तुम भी। *(स्त्री से)* बैठ जाओ अब।

स्त्री : *(मोढ़े पर बैठती)* उस विषय में सोचा आपने कुछ?

पुरुष-दो : *(मुँह चलाता)* किस विषय में?

स्त्री : वह जो मैंने बात की थी आपसे...कि कोई ठीक-सी जगह हो आपकी नज़र में, तो...

पुरुष-दो : बहुत स्वादिष्ट है।

स्त्री : याद है न आपको?

पुरुष-दो : याद है। कुछ बात की थी तुमने एक बार। अपनी किसी कज़िन के लिए कहा था...नहीं, वह तो मिसेज़ मल्होत्रा ने कहा था। तुमने किसके लिए कहा था?

स्त्री : *(लड़के की तरफ़ देखती)* इसके लिए।

पुरुष-दो घूमकर लड़के की तरफ़ देखता है, तो लड़का एक बनावटी मुस्कराहट मुस्करा देता है।

पुरुष-दो : हूँ-हूँ...। क्या पास किया है इसने? बी. कॉम.?

स्त्री : मैंने बताया था। बी.एस-सी. कर रहा था...तीसरे साल में बीमार हो गया, इसलिए...

पुरुष-दो : अच्छा-अच्छा...हाँ...बताया था तुमने कि कुछ दिन एयर-इंडिया में...

स्त्री : एयर-फ्रीज़ में।

पुरुष-दो : हाँ, एयर-फ्रीज़ में।...हूँ-हूँ...हूँ।

फिर घूमकर लड़के की तरफ़ देख लेता है। लड़का फिर उसी तरह मुस्करा देता है।

इधर आ जाइए आप। वहाँ दूर क्यों बैठे हैं?

लड़का : *(अपनी नाक की तरफ़ इशारा करता)* जी, मुझे ज़रा...

पुरुष-दो : अच्छा-अच्छा...देश का जलवायु ही ऐसा है, क्या किया जाए? जलवायु की दृष्टि से जो देश मुझे सबसे पसन्द है, वह है इटली। पिछले वर्ष काफ़ी यात्रा पर रहना पड़ा। पूरा यूरोप घूमा, पर जो बात मुझे इटली में मिली, वह और किसी देश में नहीं। इटली की सबसे बड़ी विशेषता पता है, क्या है?...बहुत ही स्वादिष्ट है। कहाँ से लाती हो? *(घड़ी देखकर)* सात पाँच यहीं हो गए। तो...

स्त्री : यहीं कोने पर एक दुकान है।

पुरुष-दो : अच्छी दुकान है। मैं प्रायः कहा करता हूँ कि खाना और पहनना, इन दो दृष्टियों से...वह अमरीकन भी यही बात कह रहा था कि जितनी विविधता इस देश के खान-पान और पहनावे में है...और वही क्या, सभी विदेशी लोग इस बात को स्वीकार करते हैं। क्या रूसी, क्या जर्मन! मैं कहता हूँ, संसार में शीत-युद्ध को कम करने में हमारी कुछ वास्तविक देन है, तो यही कि...तुम अपनी इस साड़ी को ही लो। कितनी साधारण है, फिर भी...यह

हड़तालों-अड़तालों का चक्कर न चलता अपने यहाँ, तो हमारा वस्त्र-उद्योग अब तक...अच्छा, तुमने वह नोटिस देखा है जो यूनियन ने मैनेजमेंट को दिया है?

स्त्री 'हाँ' के लिए सिर हिला देती है।

कितनी बेतुकी बातें हैं उसमें! हमारे यहाँ डी.ए. पहले ही इतना है कि...

लड़का दराज़ से एक पैड निकालकर दराज़ बन्द करता है। पुरुष-दो फिर घूमकर उस तरफ़ देख लेता है। लड़का फिर मुस्करा देता है। पुरुष-दो के मुँह मोड़ने के साथ ही वह पैड पर पेंसिल से लकीरें खींचने लगता है।

तो मैं कह रहा था कि...क्या कह रहा था?

स्त्री : कह रहे थे...।

बड़ी लड़की : कई बातें कह रहे थे।

पुरुष-दो : पर बात शुरू कहाँ से की थी मैंने?

लड़का : इटली की सबसे बड़ी विशेषता से।

पुरुष : हाँ, पर उसके बाद...?

लड़का : खान-पान और पहनावे की विविधता...अमरीकन, जर्मन, रूसी...शीत-युद्ध, हड़तालें...वस्त्र-उद्योग...डी.ए.।

पुरुष-दो : बहुत अच्छी स्मरण-शक्ति है लड़के की। तो कहने का मतलब था कि...

स्त्री : थोड़ा और लीजिए।

पुरुष-दो : और नहीं अब।

स्त्री : थोड़ा-सा...देखिए, जैसे भी हो, इसके लिए आपको कुछ-न-कुछ ज़रूर करना है।

पुरुष-दो : ज़रूर...। किसके लिए क्या करना है?

स्त्री : *(लड़के की तरफ़ देखकर)* इसके लिए...कुछ-न-कुछ।

पुरुष-दो : हाँ-हाँ...ज़रूर। वह तो है ही। *(लड़के की तरफ़ मुड़कर)* बी.एस-सी. में कौन-सा डिविज़न था आपका?

लड़का उँगली से हाथ में सिफर खींच देता है।

कौन-सा?

लड़का : *(तीन-चार बार उँगली घुमाकर)* ओ!

पुरुष-दो : *(जैसे बात समझकर)* ओ!

स्त्री : तीसरे साल मैं बीमार हो गया था, इसलिए...

पुरुष-दो : अच्छा-अच्छा...हाँ।...ठीक है...देखूँगा मैं। *(घड़ी देखकर)* अब चलना चाहिए। बहुत समय हो गया। *(उठता हुआ)* तुम घर पर आओ किसी दिन। बहुत दिनों से नहीं आईं।

स्त्री और बड़ी लड़की साथ ही उठ खड़ी होती हैं।

स्त्री : मैं भी सोच रही थी आने के लिए। बेबी से मिलने।

पुरुष-दो : वह पूछती रहती है, आंटी इतने दिनों से क्यों नहीं आई? बहुत प्यार करती है अपनी आंटियों से। माँ के न होने से बेचारी...।

स्त्री : बहुत ही प्यारी बच्ची है। मैं पूछ लूँगी किसी दिन आपसे। इससे भी कह दूँ। आकर मिल ले आपसे एक बार।

पुरुष-दो : *(बड़ी लड़की को देखता)* किससे? इससे?

स्त्री : अशोक से।

पुरुष-दो : हाँ-हाँ...क्यों नहीं। पर तुम तो आओगी ही। तुम्हीं को बता दूँगा।

स्त्री : ये जा रहे हैं, अशोक!

लड़का : *(जैसे पहले पता न चला हो)* जा रहे हैं आप!

उठकर पास आ जाता है।

पुरुष-दो : *(घड़ी देखता)* सोचा नहीं था, इतनी देर रुकूँगा। *(बाहर से दरवाज़े की तरफ़ बढ़ता बड़ी लड़की से)* तुम नहीं करती नौकरी?

बड़ी लड़की : जी नहीं।

स्त्री : चाहती है करना, पर...*(बड़ी लड़की से)* चाहती है न?

बड़ी लड़की : हाँ...नहीं...ऐसा है कि...।

स्त्री : डरती है।

पुरुष-दो : डरती है?

स्त्री : अपने पति से।

पुरुष-दो : पति से?

स्त्री : हाँ...उसे पसन्द नहीं है।

पुरुष-दो : यह लड़की?

स्त्री : नहीं, इसका नौकरी करना।

पुरुष-दो : अच्छा-अच्छा...हाँ...।

स्त्री : तो आपको ध्यान रहेगा न इसके लिए...?

पुरुष-दो : इसके लिए?

स्त्री : मेरा मतलब है उसके लिए...।

पुरुष-दो : हाँ-हाँ-हाँ-हाँ-हाँ...तुम आओगी ही घर पर। दफ़्तर की भी कुछ बातें करनी हैं। वही जो यूनियन-ऊनियन का झगड़ा है।

स्त्री : मैं तो आऊँगी ही। यह भी अगर मिल ले...?

पुरुष-दो : *(घड़ी देखकर)* बहुत देर हो गई। *(लड़के से)* अच्छा, एक बात बताएँगे आप कि ये जो हड़तालें हो रही हैं सब क्षेत्रों में आजकल, इनके विषय में आप क्या सोचते हैं?

लड़का ऐसे उचक जाता है जैसे कोई कीड़ा पतलून के अन्दर चला आया हो।

लड़का : ओह! ओह! ओह!

जैसे बाहर से कीड़ा पकड़ने की कोशिश करने लगता है।

बड़ी लड़की : क्या हुआ?

स्त्री : *(कुछ खीज के साथ)* उन्होंने क्या पूछा है?

लड़का : *(बड़ी लड़की से)* हुआ कुछ नहीं...कीड़ा है एक।

बड़ी लड़की : कीड़ा?

पुरुष-दो : अपने देश में तो...।

लड़का : पकड़ गया।

पुरुष-दो : ...इतनी तरह का कीड़ा पाया जाता है कि...

लड़का : मसल दिया।

पुरुष-दो : मसल दिया? शिव-शिव-शिव! यह हिंसा की भावना...

स्त्री : बहुत है इसमें। कोई कीड़ा हाथ लग जाए सही।

लड़का : और कीड़ा चाहे जितनी हिंसा करता रहे?

पुरुष-दो : मूल्यों का प्रश्न है। मैं प्रायः कहा करता हूँ...बैठो तुम लोग।

स्त्री : मैं सड़क तक चल रही हूँ साथ।

पुरुष-दो : इस देश में नैतिक मूल्यों के उत्थान के लिए...तुमने भाषण सुना है...वे जो आए हुए हैं आजकल, क्या नाम उनका?

लड़का : निरोध महर्षि?

पुरुष-दो : हाँ-हाँ-हाँ...यही नाम है न? इतना अच्छा भाषण देते हैं... जन्म-कुंडली भी बनाते हैं वैसे—पर भाषण? वाह-वाह-वाह!

अन्तिम शब्दों के साथ दरवाज़ा लाँघ जाता है। स्त्री भी साथ ही बाहर चली जाती है।

लड़का : हाहा!

बड़ी लड़की : यह किस बात पर?

लड़का : एक्टिंग देखा?

बड़ी लड़की : किसका?

लड़का : मेरा।

बड़ी लड़की : तो क्या तू...?

लड़का : उल्लू बना रहा था उसे।

बड़ी लड़की : पता नहीं, असल में कौन उल्लू बना रहा था।

लड़का : क्यों?

बड़ी लड़की : उसे तो फिर भी पाँच हज़ार तनखाह मिल जाती है।

लड़का : चेहरा देखा है पाँच हज़ार तनखाह वाले का?

पैड पर बनाया गया खाका लाकर उसे दिखाता है।

बड़ी लड़की : यह उसका चेहरा है?

लड़का : नहीं है?

बड़ी लड़की : सिर पर क्या है यह?

लड़का : सींग बनाए थे, काट दिए। कहते हैं...सींग नहीं होते।

बड़ी लड़की पैड उसके हाथ से लेकर देखती है। स्त्री लौटकर आती है।

स्त्री : तू एक मिनट जाएगा बाहर।

लड़का : क्यों?

स्त्री : गाड़ी चल नहीं रही उनकी?

लड़का : क्या हुआ?

स्त्री : बैटरी डाउन हो गई है। धक्का लगाना पड़ेगा।

लड़का : अभी से? अभी तो नौकरी की बात तक नहीं की उसने...।

स्त्री : जल्दी चला जा। उन्हें पहले ही देर हो गई है।

लड़का : अगर सचमुच दिला दी उसने नौकरी, तब तो पता नहीं...।

बाहर के दरवाज़े से चला जाता है।

स्त्री : कुछ समझ में नहीं आता, क्या होने को है इस लड़के का...यह तेरे हाथ में क्या है?

बड़ी लड़की : मेरे हाथ में?...यह तो वह है...वह जो बना रहा था।

स्त्री : क्या बना रहा था?...देखूँ?

बड़ी लड़की : *(पैड उसकी तरफ़ बढ़ाती)* ऐसे ही...पता नहीं क्या बना रहा था! बैठे-बैठे इसे भी बस...?

स्त्री पल-भर ख़ाके को लेकर देखती रहती है।

स्त्री : यह चेहरा कुछ-कुछ वैसा नहीं है?

बड़ी लड़की : कैसा?

स्त्री : तेरे डैडी जैसा?

बड़ी लड़की : डैडी जैसा? नहीं तो।

स्त्री : लगता तो है कुछ-कुछ।

बड़ी लड़की : वह तो इस आदमी का चेहरा बना रहा था...यह जो अभी गया है।

स्त्री : *(त्यौरी डालकर)* यह करतूत कर रहा था?

लड़का लौटकर आ जाता है।

लड़का : *(जैसे हाथों से गर्द झाड़ता)* क्या तो अपनी सूरत है और क्या गाड़ी की!

स्त्री : इधर आ।

लड़का : *(पास आता)* गाड़ी का इंजन तो फिर भी धक्के से चल जाता है, पर जहाँ तक *(माथे की तरफ़ इशारा करके)* इस इंजन का सवाल है...

स्त्री : *(कुछ सख़्त स्वर में)* यह क्या बना रहा था तू?

लड़का : तुम्हें क्या लगता है?

स्त्री : तू क्या बना रहा था?

लड़का : एक आदिम बन-मानुस।

स्त्री : क्या?

लड़का : बन-मानुस।

स्त्री : नाटक मत कर। ठीक से बता।

लड़का : देख नहीं रहीं यह लपलपाती जीभ, ये रिसती गुफ़ाओं जैसी आँखें, ये...

स्त्री : मुझे तेरी ये हरकतें बिलकुल पसन्द नहीं हैं। सुन रहा है तू?

लड़का उत्तर न देकर पढ़ने की मेज़ की तरफ़ बढ़ जाता है और वहाँ से तस्वीरें उठाकर देखने लगता है।

सुन रहा है या नहीं?

लड़का : सुन रहा हूँ।

स्त्री : सुन रहा है, तो कुछ कहना नहीं है तुझे?

लड़का उसी तरह तस्वीरें देखता रहता है।

नहीं कहना है?

लड़का : *(तस्वीरें वापस मेज़ पर रख देता)* क्या कह सकता हूँ?

स्त्री : मत कह, नहीं कह सकता तो। पर मैं मिन्नत-खुशामद से लोगों को घर पर बुलाऊँ और तू आने पर उनका मज़ाक उड़ाए, उनके

कार्टून बनाए–ऐसी चीज़ें अब मुझे बिलकुल बरदाश्त नहीं हैं। सुन लिया? बिलकुल-बिलकुल बरदाश्त नहीं हैं।

लड़का : नहीं बरदाश्त हैं, तो बुलाती क्यों हो ऐसे लोगों को घर पर कि जिनके आने से...?

स्त्री : हाँ-हाँ...बता, क्या होता है जिनके आने से?

लड़का : रहने दो। मैं इसीलिए चला जाना चाहता था पहले ही।

स्त्री : तू बात पूरी कर अपनी।

लड़का : जिनके आने से हम जितने छोटे हैं, उससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नज़र में।

स्त्री : *(कुछ स्तब्ध होकर)* मतलब?

लड़का : मतलब वही जो मैंने कहा है। आज तक जिस किसी को बुलाया है तुमने, किस वजह से बुलाया है?

स्त्री : तू क्या समझता है, किस वजह से बुलाया है?

लड़का : उसकी किसी 'बड़ी' चीज़ की वजह से। एक को कि वह इंटेलेक्चुअल बहुत बड़ा है। दूसरे को कि उसकी तनख़्वाह पाँच हज़ार है। तीसरे को कि उसकी तख्ती चीफ कमिश्नर की है। जब भी बुलाया है, आदमी को नहीं–उसकी तनख़्वाह को, नाम को, रुतबे को बुलाया है।

स्त्री : तू कहना क्या चाहता है इससे कि ऐसे लोगों के आने से इस घर के लोग छोटे हो जाते हैं?

लड़का : बहुत-बहुत छोटे हो जाते हैं।

स्त्री : और मैं उन्हें इसलिए बुलाती हूँ कि...

लड़का : पता नहीं किसलिए बुलाती हो, पर बुलाती सिर्फ़ ऐसे ही लोगों को हो। अच्छा, तुम्हीं बताओ, किसलिए बुलाती हो?

स्त्री : इसलिए कि किसी तरह इस घर का कुछ बन सके, कि मेरे अकेली के ऊपर बहुत बोझ है इस घर का। जिसे कोई और भी मेरे साथ ढोनेवाला हो सके। अगर मैं कुछ ख़ास लोगों के साथ सम्बन्ध बनाकर रखना चाहती हूँ तो अपने लिए नहीं, तुम लोगों के लिए। पर तुम लोग इससे छोटे होते हो, तो मैं छोड़ दूँगी कोशिश। हाँ, इतना कहकर कि मैं अकेले दम इस घर की ज़िम्मेदारियाँ नहीं उठाती रह सकती और एक आदमी है जो घर का सारा पैसा डुबोकर सालों से हाथ पर हाथ धरे बैठा है। दूसरा अपनी कोशिश से कुछ करना तो दूर, मेरे सिर फोड़ने से भी

किसी ठिकाने लगना अपना अपमान समझता है। ऐसे में मुझसे भी नहीं निभ सकता। जब और किसी को यहाँ दर्द नहीं किसी चीज़ का, तो अकेली मैं ही क्यों अपने को चीथती रहूँ रात-दिन? मैं भी क्यों न सुर्खरू होकर बैठ रहूँ अपनी जगह? उससे तो तुममें से कोई छोटा नहीं होगा।

लड़का चुप रहकर मेज़ की दराज़ खोलने-बन्द करने लगता है।

चुप क्यों है अब? बता न, अपने बड़प्पन से ज़िन्दगी काटने का क्या तरीका सोच रखा है तूने?

लड़का : बात को रहने दो, ममा! नहीं चाहता, मेरे मुँह से कुछ ऐसा निकल जाए जिससे तुम...

स्त्री : जिससे मैं क्या? कह, जो भी कहना है तुझे।

लड़का : *(कुर्सी पर बैठता)* कुछ नहीं कहना है मुझे।

उड़ते मन से एक मैगज़ीन और क़ैंची दराज़ से निकालकर उसे ज़ोर से बन्द कर देता है।

स्त्री : तुछ नईं तैना है तुझे। बैथ दा तुलछी पल औल तछवीलें तात। तितनी तछवीलें ताती ऐं अब तत लाजे मुन्ने ने? अगर कुछ नहीं कहना था तुझे तो पहले ही क्यों नहीं अपनी ज़बान...?

बड़ी लड़की : *(पास आकर उसकी बाँह थामती)* रुक जाओ ममा, मैं बात करूँगी इससे *(लड़के से)* देख अशोक...।

लड़का : तेरा इस वक़्त बात करना ज़रूरी है क्या?

बड़ी लड़की : मैं तुझसे सिर्फ़ इतना पूछना चाहती हूँ कि...

लड़का : पर क्यों पूछना चाहती है? मैं इस वक़्त किसी की किसी भी बात का जवाब नहीं देना चाहता।

बड़ी लड़की : *(कुछ रुककर)* यह तू भी जानता है कि ममा ने ही आज तक...

लड़का : तू फिर भी कर रही है बात!

स्त्री : क्यों कर रही है बात तू इससे? कोई ज़रूरत नहीं किसी से भी बात करने की। आज वक़्त आ गया है जब खुद ही मुझे अपने लिए कोई-न-कोई फैसला...।

लड़का : ज़रूर कर लेना चाहिए।

बड़ी लड़की : अशोक।

लड़का : मैं कहना नहीं चाहता था, लेकिन...

स्त्री : तो कह क्यों रहा है?

लड़का : कहना पड़ रहा है क्योंकि...जब नहीं निभता इनसे यह सब, तो क्यों निभाए जाती हैं इसे?

स्त्री : मैं निभाए जाती हूँ क्योंकि...

लड़का : कोई और निभानेवाला नहीं है। यह बात बहुत बार कही जा चुकी है इस घर में।

बड़ी लड़की : तो तू सोचता है कि ममा जो कुछ भी करती हैं यहाँ...?

लड़का : मैं पूछता हूँ, क्यों करती हैं? किसके लिए करती हैं...?

बड़ी लड़की : मेरे लिए करती थीं...।

लड़का : तू घर छोड़कर चली गई।

बड़ी लड़की : किन्नी के लिए करती हैं...।

लड़का : वह दिन-ब-दिन पहले से बदतमीज़ होती जा रही है।

बड़ी लड़की : डैडी के लिए करती हैं...।

लड़का : उनकी हालत देखकर रहम नहीं आता?

बड़ी लड़की : और सबसे ज़्यादा तेरे लिए करती हैं।

लड़का : और मैं ही शायद इस घर में सबसे ज़्यादा नाकारा हूँ।...पर क्यों हूँ?

बड़ी लड़की : यह...यह मैं कैसे बता सकती हूँ?

लड़का : कम-से-कम अपनी बात तो बता ही सकती है। तू यह घर छोड़कर क्यों चली गई थी?

बड़ी लड़की : *(अप्रतिभ होकर)* मैं चली गई थी...चली गई थी...क्योंकि...

लड़का : क्योंकि तू मनोज से प्रेम करती थी।...ख़ुद तुझे ही यह गुट्टी बहुत कमज़ोर नहीं लगती?

बड़ी लड़की : *(रुँआसी पड़कर)* तो तू मुझसे...भी कह रहा है कि...?

शिथिल होती एक मोढ़े पर बैठ जाती है।

लड़का : मैंने कहा था कि तुझसे...मत कर बात।

स्त्री आहिस्ता से दो क़दम चलकर लड़के के पास आ जाती है।

स्त्री : *(अत्यधिक गम्भीर)* तुझे पता है न, तूने क्या बात कही है?

लड़का बिना कुछ कहे मैगज़ीन खोलकर उसमें से एक तस्वीर काटने लगता है।

पता है न?

लड़का उसी तरह चुपचाप तस्वीर काटता रहता है।

तो ठीक है। आज से मैं सिर्फ़ अपनी ज़िन्दगी को देखूँगी—तुम लोग अपनी-अपनी ज़िन्दगी को ख़ुद देख लेना।

बड़ी लड़की एक हाथ से दूसरे हाथ के नाख़ूनों को मसलने लगती है।

मेरे पास अब बहुत साल नहीं हैं जीने को। पर जितने हैं, उन्हें मैं इसी तरह और निभाते हुए नहीं काटूँगी। मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इस घर का, हो चुका आज तक। मेरी तरफ़ से यह अन्त है उसका—निश्चित अन्त!

एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हलका संगीत। लड़का अपनी काटी तस्वीर पल-भर हाथ में लेकर देखता है, फिर चक्-चक् उसे बड़े-बड़े टुकड़ों में कतरने लगता है जो नीचे फ़र्श पर बिखरते जाते हैं। प्रकाश आकृतियों पर धुँधलाकर कमरे के अलग-अलग कोनों में सिमटता विलीन होने लगता है। मंच पर पूरा अँधेरा होने के साथ संगीत भी रुक जाता है। पर कैंची की चक्-चक् फिर भी कुछ क्षण सुनाई देती रहती है।

[अन्तराल विकल्प]

उत्तरार्द्ध

दो अलग-अलग प्रकाश-वृत्तों में लड़का और बड़ी लड़की। लड़का सोफे पर औंधा लेटकर टाँगें हिलाता सामने 'पेशेंस' के पत्ते फैलाए। बड़ी लड़की पढ़ने की मेज़ पर प्लेट में रखे स्लाइसों पर मक्खन लगाती। पास में टिन-कटर और 'चीज़' का एक डब्बा। पूरा प्रकाश होने पर कमरे में वह बिखराव नज़र आता है जो एक दिन ठीक से देख-रेख न होने से आ सकता है। यहाँ-वहाँ चाय की ख़ाली प्यालियाँ, उतरे हुए कपड़े और ऐसी ही अस्त-व्यस्त चीज़ें।

बड़ी लड़की : यह डब्बा खोल देगा तू?

लड़का : *(पत्तों में व्यस्त)* मुझसे नहीं खुलेगा।

बड़ी लड़की : नहीं खुलेगा, तो लाया किसलिए था?

लड़का : तूने कहा था जो-जो उधार मिल सके, ले आ बनिए से। मैं उधार में एक फ़ोन भी कर आया।

बड़ी लड़की : कहाँ?

लड़का : जुनेजा अंकल के यहाँ।

बड़ी लड़की : डैडी से बात हुई?

लड़का : नहीं।

बड़ी लड़की : तो?

लड़का : जुनेजा अंकल से हुई।

बड़ी लड़की : कुछ कहा उन्होंने?

लड़का : बात हुई, इसका यह मतलब नहीं कि...

बड़ी लड़की : मतलब डैडी के घर आने के बारे में।

लड़का : कहा—नहीं आएँगे।

बड़ी लड़की : नहीं आएँगे?

लड़का : नहीं।

बड़ी लड़की : तो पहले क्यों नहीं बताया तूने? मैं ऐसे ही ये सैंडविच-ऐंडविच...?

लड़का : मैंने सोचा, चीज़-सैंडविच तुझे खुद को पसन्द है, इसलिए कह रही है।

बड़ी लड़की : मैंने कहा नहीं था कि ममा के दफ़्तर से लौटने तक डैडी भी आ जाएँ शायद? चीज़-सैंडविच दोनों को पसन्द हैं।

लड़का : जुनेजा अंकल को भी पसन्द हैं। वे आएँगे, उन्हें खिला देना।

बड़ी लड़की : कहा है, आएँगे?

लड़का : ममा से कुछ बात करना चाहते हैं। छह-साढ़े छह तक आएँ शायद।

बड़ी लड़की : ममा का मूड वैसे ही ऑफ़ है, ऊपर से वे आकर बात करेंगे। तो...चेहरा देखा था ममा का सुबह दफ़्तर जाते वक़्त?

लड़का : मैं पड़ा ही नहीं सामने।

बड़ी लड़की : रात से ही चुप थीं, सुबह तो...। इतनी चुप पहले कभी नहीं देखा।

लड़का : बात हुई थी तेरी कुछ?

बड़ी लड़की : यही चाय-वाय के बारे में।

लड़का : साड़ी तो बहुत बढ़िया बाँधकर गई हैं—जैसे किसी ब्याह का न्यौता हो।

बड़ी लड़की : देखा था तूने?

लड़का : झलक पड़ी थी जब बाहर निकल रही थीं।

बड़ी लड़की : मैंने सोचा दफ़्तर से कहीं और जाएँगी वह। कहा, साढ़े पाँच तक आ जाएँगी—रोज़ की तरह।

लड़का : तूने पूछा था?

बड़ी लड़की : इसलिए पूछा था कि मैं भी उसी हिसाब से अपना प्रोग्राम...पर सच कुछ पता नहीं चला।

लड़का : किस चीज़ का?

बड़ी लड़की : कि मन में क्या सोच रही हैं। कहा तो कि साढ़े पाँच तक लौट आएँगी, पर चेहरे पर लगता था जैसे,..

लड़का : जैसे?

बड़ी लड़की : जैसे सचमुच मन में कोई फैसला कर लिया हो और...

लड़का : अच्छा नहीं है यह?

बड़ी लड़की : अच्छा कहता इसे?

लड़का : इसलिए कि हो सकता है, कुछ-न-कुछ हो इससे।

बड़ी लड़की : क्या हो?

लड़का : कुछ भी। जो चीज़ बरसों से एक जगह रुकी है, वह रुकी ही नहीं रहनी चाहिए।

बड़ी लड़की : तो तू सचमुच चाहता है कि...

लड़का : *(अपनी बाज़ी का अन्तिम पत्ता चलता)* सचमुच चाहता हूँ कि बात किसी भी एक नतीजे तक पहुँच जाए।...तू नहीं चाहती?

पत्ते समेटता उठ खड़ा होता है।

बड़ी लड़की : मुझे तेरी बातों से डर लगता है आजकल।

लड़का : *(उसकी तरफ़ आता)* पर ग़लत तो नहीं लगती मेरी बातें?

बड़ी लड़की : पता नहीं...सही भी नहीं लगती हालाँकि...। *(डिब्बा और टिन-कटर हाथ में लेकर)* यह डब्बा...?

लड़का : इस टिन कटर से नहीं खुलेगा। इसकी नोक इतनी मर चुकी है कि...

बड़ी लड़की : तो क्या करें फिर?

लड़का : कोई और चीज़ नहीं है?

बड़ी लड़की : मैं कैसे बता सकती हूँ? मैं तो इतनी बेगानी महसूस करती हूँ अब इस घर में कि...

लड़का : पहले नहीं करती थी?

बड़ी लड़की : पहले? पहले तो...।

लड़का : महसूस करना ही महसूस नहीं होता था। और कुछ-कुछ महसूस होना शुरू हुआ जब, तो पहला मौका मिलते ही घर से चली गई।

बड़ी लड़की : *(तीखी पड़कर)* तू फिर कलवाली बात कह रहा है?

लड़का : बुरा क्यों मानती है? मैं ख़ुद अपने को बेगाना महसूस करता हूँ यहाँ...और महसूस करना शुरू किया है मैंने तेरे जाने के दिन से।

बड़ी लड़की : मेरे जाने के दिन से?

लड़का : महसूस शायद पहले भी करता था, पर सोचना तभी से शुरू किया है।

बड़ी लड़की : और सोचकर जाना है कि...

लड़का : एक ख़ास चीज़ है इस घर के अन्दर जो...

बड़ी लड़की : *(अस्थिर होकर)* तू भी यही कहता है?

लड़का : और कौन कहता है?

बड़ी लड़की : कोई भी...पर कौन-सी चीज़ है वह?

लड़का : *(स्थिर दृष्टि से उसे देखता)* तू नहीं जानती?

बड़ी लड़की : *(आँखें बचाती)* मैं? मैं कैसे?

लड़का : तुझसे तो मैंने जाना है उसे, और तू कहती है, तू कैसे?

बड़ी लड़की : तूने मुझसे जाना है उसे?—मैं नहीं समझी?

लड़का : ठीक है, ठीक है। उस चीज़ को जानकर भी न जानना ही बेहतर है शायद। पर दूसरे को धोखा दे भी ले आदमी, अपने आपको कैसे दे?

बड़ी लड़की इस तरह हो जाती है कि उसका हाथ ठीक से स्लाइस पर मक्खन नहीं लगा पाता।

बड़ी लड़की : तू तो बस हमेशा ही...देख, ऐसा है कि...मैं कह रही थी तुझसे कि...भई, यह डब्बा खुलाकर ला पहले कहीं से। यह अगर नहीं खुलेगा, तो...

लड़का : हाथ काँप क्यों रहा है तेरा? *(डिब्बा लेता)* अभी खुला जाता है यह। तेज़ औज़ार चाहिए...एक मिनट नहीं लगेगा।

बाहर के दरवाज़े से चला जाता है। बड़ी लड़की काम जारी रखने की कोशिश करती है, पर हाथ नहीं चलते, तो छोड़ देती है।

बड़ी लड़की : *(माथे पर हाथ फेरती, शिथिल स्वर में)* कैसे कहता है यह?...मैं सचमुच जानती हूँ क्या?

सिर को झटक लेती है—जैसे अन्दर एक बवंडर उठ रहा हो। कोशिश से अपने को सहेजकर उठ पड़ती है और अन्दर के दरवाज़े के पास जाकर आवाज़ देती है :

किन्नी!

जवाब नहीं मिलता, तो एक बार अन्दर झाँककर लौट आती है।

कहाँ चली जाती है? सुबह स्कूल जाने से पहले रोना कि जब तक चीज़ें नहीं आएँगी, नहीं जाएगी। और अब दिन-भर पता ही नहीं, कब घर में है, कब बाहर है।

लड़का बाहर के दरवाज़े से छोटी लड़की को अन्दर धकेलता है।

लड़का : चल अन्दर।

छोटी लड़की अपने को बचाकर बाहर भाग जाना चाहती है, पर वह उसे बाँह से पकड़ लेता है।

कहा है, अन्दर चल।

बड़ी लड़की : *(ताव से)* यह क्या हो रहा है?

छोटी लड़की : देख लो बिन्नी-दी यह मुझे...

झटके से बाँह छुड़ाने की कोशिश करती है, पर लड़का उसे सख़्ती से खींचकर अन्दर ले आता है।

लड़का : इधर आ ना, पता चलता है तुझे।

बड़ी लड़की पास आकर छोटी लड़की की बाँह छुड़ाती है।

लड़का : छोड़ दे इसे। किया क्या है इसने जो...?

लड़का : *(डिब्बा उसे देता)* यह डब्बा ले। खुल गया है *(छोटी लड़की पर तमाचा उठाकर)* इसे तो मैं अभी...।

बड़ी लड़की : *(उसका हाथ रोकती)* सिर फिर गया है तेरा?

लड़का : फिरा नहीं, फिर जाएगा।...बाई जॉव!

बड़ी लड़की : क्या बात हुई है?

लड़का : इससे पूछ, क्या बात हुई है।...माई गॉड!

बड़ी लड़की : क्या बात हुई है, किन्नी? क्या कर रही थी तू?

छोटी लड़की जवाब न देकर सुबकने लगती है।

बता न, क्या कर रही थी?

छोटी लड़की चुपचाप सुबकती रहती है।

लड़का : कर नहीं, कह रही थी किसी से कुछ।

बड़ी लड़की : क्या?

लड़का : इसी से पूछ।

बड़ी लड़की : *(छोटी लड़की से)* बोलती क्यों नहीं? ज़बान सिल गई है तेरी?

लड़का : सिल नहीं, थक गई है। बताने में कि औरतें और मर्द किस तरह आपस में...

बड़ी लड़की : क्या???

लड़का : पूछ ले इससे। अभी बता देगी तुझे सब...जो सुरेखा को बता रही थी बाहर।

छोटी लड़की : *(सुबकने के बीच)* वह बता रही थी मुझे कि मैं उसे बता रही थी?

लड़का : तू बता रही थी।

छोटी लड़की : वह बता रही थी।

लड़का : तू बता रही थी। अचानक मुझ पर नज़र पड़ी कि मैं पीछे खड़ा सुन रहा हूँ, तो...

छोटी लड़की : सुरेखा भागी थी कि मैं भागी थी?

लड़का : तू भागी थी।

छोटी लड़की : सुरेखा भागी थी।

लड़का : तू भागी थी और मैंने पकड़ लिया दौड़कर, तो लगी चिल्लाकर आसपास को सुनाने कि यह ममा से मेरी शिकायतें करता है और ममा घर पर नहीं हैं, इसलिए मैं इसे पीट रहा हूँ।

बड़ी लड़की : *(छोटी लड़की से)* यह सच कह रहा है?

छोटी लड़की : बात सुरेखा ने शुरू की थी। वह बता रही थी कि कैसे उसके मम्मी-डैडी...

बड़ी लड़की : *(सख़्त पड़कर)* और तुझे शौक है जानने का कि कैसे उसके मम्मी-डैडी आपस में...?

लड़का : आपस में नहीं। यही तो बात थी ख़ास।

बड़ी लड़की : चुप रह, अशोक!

छोटी लड़की : इससे कभी कुछ नहीं कहता कोई। रोज़ किसी-न-किसी बात पर मुझे पीट देता है।

बड़ीं लड़की : क्यों पीट देता है?

छोटी लड़की : क्योंकि मैं अपनी सब चीज़ें इसे नहीं ले जाने देती उसे देने।

बड़ी लड़की : किसे देने?

छोटी लड़की : वह जो है इसकी...कभी मेरी बर्थडे प्रेज़ेंट की चूड़ियाँ दे आता है उसे, कभी मेरा प्राइज़ का फाउंटेनपेन। मैं अगर ममा से कह देती हूँ, तो अकेले में मेरा गला दबाने लगता है।

बड़ी लड़की : *(लड़के से)* किसकी बात कर रही है यह?

लड़का : ऐसे ही बक रही है। झूठ-मूठ।

छोटी लड़की : झूठ-मूठ? मेरी फ़ाउंटेनपेन तेरी वर्णा के पास नहीं है?

बड़ी लड़की : वर्णा कौन?

छोटी लड़की : वही उद्योग सेंटरवाली, जिसके पीछे जूतियाँ चटकाता फिरता है।

लड़का : *(फिर से उसे पकड़ने को होकर)* तू ठहर जा, आज मैं तेरी जान निकालकर रहूँगा।

छोटी लड़की उससे बचने के लिए इधर-उधर भागती है। लड़का उसका पीछा करता है।

बड़ी लड़की : अशोक!

लड़का : आज मैं नहीं छोड़ने का इसे। इसकी ज़बान जिस तरह खुल गई है उससे...

छोटी लड़की रास्ता पाकर बाहर के दरवाज़े से निकल जाती है।

छोटी लड़की : *(जाती हुई)* वर्णा उद्योग सेंटरवाली...वर्णा उद्योग सेंटरवाली! ...वर्णा उद्योग सेंटरवाली!!

लड़का उसके पीछे बाहर जाने ही लगता है कि अचानक स्त्री को अन्दर आते देखकर ठिठक जाता है। स्त्री अन्दर आती है जैसे वहाँ की किसी चीज़ से उसे मतलब ही नहीं है। वातावरण के प्रति उदासीनता के अतिरिक्त चेहरे पर संकल्प और असमंजस का मिला-जुला भाव। उन लोगों की ओर न देखकर वह हाथ का सामान परे की एक कुर्सी पर रखती है। लड़का अपने को एक भोंडी स्थिति में पाता है, इस चीज़ उस चीज़ को छूकर देखने लगता है। बड़ी लड़की प्लेट, स्लाइसें और चीज़ का डिब्बा लिए अहाते के दरवाज़े की तरफ़ चल देती है।

बड़ी लड़की : *(स्त्री के पास से गुज़रती)* मैं चाय लेकर आती हूँ अभी।

स्त्री : मुझे नहीं चाहिए।

बड़ी लड़की : एक प्याली ले लेना।

चली जाती है। स्त्री कमरे के बिखराव पर एक नज़र डालती है, पर सिवाय अपने साथ लाई चीज़ों को यथास्थान रखने के और किसी चीज़ को हाथ नहीं लगाती। बड़ी लड़की लौटकर आती है।

(पत्ती का ख़ाली पैकेट दिखाती) पत्ती ख़त्म हो गई है।

स्त्री : मैं नहीं लूँगी चाय।

बड़ी लड़की : सबके लिए बना रही हूँ, एक-एक प्याली।

लड़का : मेरे लिए नहीं।

बड़ी लड़की : क्यों? पानी रख रही हूँ, सिर्फ़ पत्ती लानी है...।

लड़का : अपने लिए बनानी है, बना ले।

बड़ी लड़की : मैं अकेले पिऊँगी? इतने चाव से चीज़-सैंडविच बना रही हूँ।

लड़का : मेरा मन नहीं है।

स्त्री : मुझे चाय के लिए बाहर जाना है किसी के साथ।

बड़ी लड़की : तो तुम घर पर नहीं रहोगी इस वक़्त?

स्त्री : नहीं। जगमोहन आएगा लेने।

बड़ी लड़की : यहाँ आएँगे वे?

स्त्री : लेने आएगा। क्यों?

बड़ी लड़की : वे भी आनेवाले हैं अभी...जुनेजा अंकल।

स्त्री : उनका कैसे पता है, आनेवाले हैं?

बड़ी लड़की : अशोक ने फ़ोन किया था। कह रहे थे, कुछ बात करनी है।

स्त्री : लेकिन मुझे कोई बात नहीं करनी उनसे।

बड़ी लड़की : फिर भी जब वे आएँगे ही, तो...

स्त्री : कह देना, मैं घर नहीं हूँ। पता नहीं, कब लौटूँगी।

बड़ी लड़की : कहें, इन्तज़ार करते हैं, तो?

स्त्री : करने देना इन्तज़ार।

कबर्ड से दो-तीन पर्स निकालकर देखती है कि उनमें से कौन-सा साथ रखना चाहिए। बड़ी लड़की एक नज़र लड़के को देख लेती है जो लगता है किसी तरह वहाँ से जाने का बहाना ढूँढ़ रहा है।

बड़ी लड़की : *(एक पर्स को छूकर)* यह अच्छा है इनमें।...कब तक सोचती हो लौट आओगी?

स्त्री : *(उस पर्स को रखकर दूसरा निकालती)* पता नहीं। बात करने में देर भी हो सकती है।

बड़ी लड़की : *(उस पर्स के लिए)* यह और भी अच्छा है।...। अगर पूछें कहाँ गई हैं, किसके साथ गई हैं?

स्त्री : कहना बताया नहीं...या बता देना जगमोहन आया था लेने। *(एक नज़र फिर कमरे में डालकर)* कितना गंदा पड़ा है!

बड़ी लड़की : समेट रही हूँ। *(व्यस्त होती)* बताना ठीक होगा उन्हें?

स्त्री : क्यों?

बड़ी लड़की : ऐसे ही वे जाकर डैडी को बतलाएँगे खामख्वाह...।

स्त्री : तो क्या होगा? *(कुछ चीज़ें खुद उठाकर उसे देती)* अन्दर रख आ अभी।

बड़ी लड़की : होगा यही कि...

स्त्री : एक आदमी के साथ चाय पीने जा रही हूँ मैं, कहीं चोरी करने तो नहीं।

बड़ी लड़की : तुम्हें पता ही है, डैडी जगमोहन अंकल को...

स्त्री : पसन्द भी करते हैं तेरे डैडी किसी को?

बड़ी लड़की : फिर भी थोड़ा जल्दी आ सको तुम, तो...

स्त्री : मुझे उससे कुछ ज़रूरी बात करनी है। उसे कई काम थे शाम को जो उसने मेरी ख़ातिर कैंसिल किए हैं। बेकार आदमी नहीं है वह कि जब चाहा बुला लिया, जब चाहा कह दिया जाओ अब।

लड़का अस्थिर भाव से टहलता दरवाज़े के पास पहुँच जाता है।

लड़का : मैं ज़रा जा रहा हूँ, बिन्नी!

बड़ी लड़की : तू भी?...तू कहाँ जा रहा है?

लड़का : यहीं तक ज़रा। आ जाऊँगा थोड़ी देर में।

बड़ी लड़की : तो जुनेजा अंकल के आने पर मैं...?

लड़का : आ जाऊँगा तब तक शायद।

बड़ी लड़की : शायद?

लड़का : नहीं...आ ही जाऊँगा।

चला जाता है।

बड़ी लड़की : *(पीछे से)* सुन। *(दरवाज़े की तरफ़ बढ़ती)* अशोक!

लड़का नहीं रुकता तो होंठ सिकोड़े स्त्री की तरफ़ लौट आती है।

कम-से-कम पत्ती लेकर तो दे जाता।

स्त्री : *(जैसे कहने से पहले तैयारी करके)* तुमसे एक बात कहना चाहती थी।

बड़ी लड़की : यह सब छोड़ आऊँ अन्दर। वहाँ भी कितना कुछ बिखरा है। सोचती हूँ, जगमोहन अंकल के आने से पहले...।

स्त्री : मुझे ज़रा-सी ही बात करनी है।

बड़ी लड़की : बताओ।

स्त्री : अगली बार आने पर मैं तुझे यहाँ न मिलूँ शायद।

बड़ी लड़की : कैसी बात कर रही हो?

स्त्री : जगमोहन को आज मैंने इसीलिए फ़ोन किया था।

बड़ी लड़की : तो?

स्त्री : तो अब जो भी हो। मैं जानती थी एक दिन आना ही है ऐसा।

बड़ी लड़की : तो तुमने पूरी तरह सोच लिया है कि...

स्त्री : *(हलके से आँखें मूँदकर)* बिलकुल सोच लिया है। *(आँखें झपकाती)* जा तू अब।

बड़ी लड़की पल-भर चुपचाप उसे देखती खड़ी रहती है। फिर सोचते भाव से अन्दर को चल देती है।

बड़ी लड़की : *(चलते-चलते)* और सोच लेतीं थोड़ा...।

चली जाती है

स्त्री : कब तक और?

गले की माला को उँगली में लपेटते हुए झटके लगने से माला टूट जाती है। परेशान होकर वह माला को उतार देती है और जाकर कबर्ड से दूसरी माला निकाल लेती है।

साल पर साल...इसका यह हो जाए, उसका वह हो जाए।

मालाओं का डिब्बा रखकर कबर्ड को बन्द करना चाहती है, पर बीच की चीज़ों के अव्यवस्थित हो जाने से कबर्ड ठीक से बन्द नहीं होता।

एक दिन...दूसरा दिन!

नहीं ही बन्द होता, तो उसे पूरा खोलकर झटके से बन्द करती है।

एक साल...दूसरा साल!

कबर्ड के नीचे रखे जूते-चप्पलों को पैर से टटोलकर एक चप्पल निकालने की कोशिश करती है; पर दूसरा पैर नहीं मिलता, तो सबको ठोकरें लगाकर पीछे हटा देती है।

अब भी और सोचूँ थोड़ा!

ड्रेसिंग टेबल के सामने चली जाती है। कुछ पल असमंजस में रहती है कि वहाँ क्यों आई है। फिर ध्यान हो आने से आईने में देखकर माला पहनने लगती है। पहनकर अपने को ध्यान से देखती है। गरदन उठाकर और खाल को मसलकर चेहरे की झुर्रियाँ निकालने की कोशिश करती है।

कब तक...? क्यों?

फिर समझ में नहीं आता कि क्या करना है। ड्रेसिंग टेबल की कुछ चीज़ों को ऐसे ही उठाती-रखती है। क्रीम की शीशी हाथ में आ जाने पर पल-भर उसे देखती रहती है। फिर खोल लेती है।

घर दफ़्तर...घर दफ़्तर!

क्रीम चेहरे पर लगाते हुए ध्यान आता है कि वह इस वक़्त नहीं लगानी थी। उसे तौलिए से पोंछकर एक और शीशी

उठा लेती है। उसमें से लोशन रुई पर लेकर सोचती है। कहाँ लगाए और कहीं का नहीं सूझता, तो उससे कलाइयाँ साफ़ करने लगती है।

सोचो...सोचो।

ध्यान सिर के बालों में अटक जाता है। अनमनेपन में लोशनवाली रुई सिर पर लगाने लगती है, पर बीच में ही हाथ रोककर उसे अलग रख देती है। उँगलियों से टटोलकर देखती है कि कहाँ सफ़ेद बाल ज़्यादा नज़र आ रहे हैं। कंघी ढूँढ़ती है, पर वह मिलती नहीं। उतावली में सभी ख़ाने-दराज़ें देख डालती है। आख़िर कंघी वहीं तौलिए के नीचे से मिल जाती है।

चख्-चख्...किट्-किट्...चख्-चख्...किट्-किट्। क्या सोचो?

कंघी से सफ़ेद बालों को ढँकने लगती है। ध्यान आँखों की झाँइयों पर चला जाता है तो कंघी रखकर उन्हें सहलाने लगती है। तभी पुरुष-तीन बाहर के दरवाज़े से आता है...सिगरेट के कश खींचकर छल्ले बनाता है। स्त्री उसे नहीं देखती, तो वह राख झाड़ने के लिए तिपाई पर रखी ऐश-ट्रे की तरफ़ बढ़ जाता है। स्त्री पाउडर की डिब्बी खोल आँखों के नीचे पाउडर लगाती है। डिब्बीवाला हाथ काँप जाने से थोड़ा पाउडर बिखर जाता है।

(उसाँस के साथ) कुछ मत सोचो।

उठ खड़ी होती है, एक बार अपने को अच्छी तरह आईने में देख लेती है। पुरुष-तीन पहले सिगरेट से दूसरा सिगरेट सुलगाता है।

होने दो जो होता है।

सोफे की तरफ़ मुड़ती ही है कि पुरुष-तीन पर नज़र पड़ने से ठिठक जाती है, आँखों में एक चमक भर आती है।

पुरुष-तीन : *(काफ़ी कोमल स्वर में)* हलो, कुकू!

स्त्री : अरे! पता ही नहीं चला तुम्हारे आने का।

पुरुष-तीन : मैंने देखा, अपने से ही बात कर रही हो कुछ। इसलिए...।

स्त्री : इन्तज़ार में ही थी मैं। तुम सीधे आ रहे हो दफ़्तर से?

पुरुष-तीन कश खींचकर छल्ले बनाता है।

पुरुष-तीन : सीधा ही समझो।

स्त्री : समझो यानी कि नहीं।

पुरुष-तीन : नाउ-नाउ।...दो मिनट रुका बस, पोल स्टार में। एक डिजाइन देना था उनका। फिर घर जाकर नहाया और सीधा...।

स्त्री : सीधा कहते हो इसे?

पुरुष-तीन : *(छल्ले बनाता)* तुम नहीं बदली बिलकुल। उसी तरह डाँटती हो आज भी। पर बात इतनी-सी है कुकू डियर, कि दफ़्तर के कपड़ों में सारी शाम उलझन होती इसलिए सोचा कि...

स्त्री : लेकिन मैंने कहा नहीं था, बिलकुल सीधे आना? बिना एक मिनट भी ज़ाया किए?

पुरुष-तीन : ज़ाया कहाँ किया एक मिनट भी? पोल स्टार में तो...

स्त्री : रहने दो अब। तुम्हारी बहानेबाज़ी नई चीज़ नहीं है मेरे लिए।

पुरुष-तीन : *(सोफे पर बैठता है)* कह लो जो जी चाहे। बिना वजह लगाम खींचे जाना मेरे लिए भी नई चीज़ नहीं है।

स्त्री : बैठ रहे हो—चलना नहीं?

पुरुष-तीन : एक मिनट। चल ही रहे हैं बस। बैठो।

स्त्री अनमने ढंग से सोफे पर बैठ जाती है।

जिस तरह फ़ोन किया तुमने अचानक, उससे मुझे कहीं लगा कि...

स्त्री की आँखें उमड़ आती हैं।

स्त्री : *(उसके हाथ पर हाथ रखकर)* जोग!

पुरुष-तीन : *(हाथ सहलाता)* क्या बात है, कुकू?

स्त्री : मैं वहाँ पहुँच गई हूँ जहाँ पहुँचने से डरती रही हूँ ज़िन्दगी-भर। मुझे आज लगता है कि...

पुरुष-तीन : *(हाथ पर हलकी थपकियाँ देता)* परेशान नहीं होते इस तरह।

स्त्री : मैं सच कह रही हूँ। आज अगर तुम मुझसे कहो कि...।

पुरुष-तीन : *(अन्दर की तरफ़ देखकर)* घर पर कोई नहीं है?

स्त्री : बिन्नी है अन्दर।

हाथ हटा लेता है।

पुरुष-तीन : यहीं है वह? उसका तो सुना था कि...

स्त्री : हाँ! पर आई हुई है कल से।

पुरुष-तीन : तब का देखा है उसे। कितने साल हो गए!

स्त्री : अब आ ही रही होगी बाहर।...देखो, तुमसे बहुत-बहुत बातें करनी हैं मुझे आज।

पुरुष-तीन : मैं सुनने के लिए ही तो आया हूँ। फ़ोन पर तुम्हारी आवाज़ से ही मुझे लग गया था कि...

स्त्री : मैं बहुत...वो थी उस वक़्त।

पुरुष-तीन : वह तो इस वक़्त भी हो।

स्त्री : तुम कितनी अच्छी तरह समझते हो मुझे...कितनी अच्छी तरह! इस वक़्त मेरी जो हालत है अन्दर से...।

स्वर भर्रा जाता है।

पुरुष-तीन : प्लीज़!

स्त्री : जोग!

पुरुष-तीन : बोलो!

स्त्री : तुम जानते हो, मैं...एक तुम्हीं हो जिस पर मैं...

पुरुष-तीन : कहती क्यों हो? कहने की बात है यह?

स्त्री : फिर भी मुँह से निकल जाती है। देखो, ऐसा है कि...नहीं। बाहर चलकर ही बात करूँगी।

पुरुष-तीन : एक सुझाव है मेरा।

स्त्री : बताओ।

पुरुष-तीन : बात यहीं कर लो जो करनी है। उसके बाद...

स्त्री : ना-ना। यहाँ नहीं।

पुरुष-तीन : क्यों?

स्त्री : यहाँ हो नहीं सकेगी बात मुझसे। हाँ, तुम कुछ वैसा समझते हो बाहर चलने में मेरे साथ, तो...

पुरुष-तीन : कैसी बात करती हो? तुम जहाँ भी कहो, चलते हैं। मैं तो इसीलिए कह रहा था कि...

स्त्री : मैं जानती हूँ सब। तुम्हारी बात ग़लत नहीं समझती मैं कभी।

पुरुष-तीन : तो बताओ, कहाँ चलोगी?

स्त्री : जहाँ भी ठीक समझो तुम।

पुरुष-तीन : मैं ठीक समझूँ? हमेशा तुम्हीं नहीं तय किया करती थीं?

स्त्री : गिंज़ा कैसा रहेगा?...वहाँ वही कोनेवाली टेबल ख़ाली मिल जाए शायद।

पुरुष-तीन : पूछो नहीं। यह कहो—गिंज़ा।

स्त्री : या यॉर्क्स?...वहाँ इस वक़्त ज़्यादा लोग नहीं होते।

पुरुष-तीन : मैंने कहा न...

स्त्री : अच्छा, उस छोटे रेस्तराँ में चलें जहाँ के कबाब तुम्हें बहुत पसन्द हैं? मैं तब के बाद कभी वहाँ नहीं गई।

पुरुष-तीन : *(हिचकिचाहट के साथ)* वहाँ? जाता नहीं वैसे मैं वहाँ अब।...पर तुम्हारा वहीं के लिए मन हो तो चल भी सकते हैं।

स्त्री : देखो एक बात तो बता ही दूँ तुम्हें चलने से पहले।

पुरुष-तीन : *(छल्ले छोड़ता)* क्या बात?

स्त्री : मैंने...कल एक फैसला कर लिया है मन में।

पुरुष-तीन : हँ, हाँ?

स्त्री : वैसे उन दिनों भी सुनी होगी तुमने ऐसी बात मेरे मुँह से...पर इस बार सचमुच कर लिया है।

पुरुष-तीन : *(जैसे बात को आत्मसात करता)* हूँ।

पल-भर की ख़ामोशी जिसमें वह कुछ सोचता हुआ इधर-उधर देखता है फिर जैसे किसी किताब पर आँख अटक जाने से उठकर शेल्फ़ की चरफ चला जाता है।

स्त्री : उधर क्यों चले गए?

पुरुष-तीन : *(शेल्फ़ से किताब निकालता)* ऐसे ही।...यह किताब देखना चाहता था ज़रा।

स्त्री : तुम्हें शायद विश्वास नहीं आया मेरी बात पर?

पुरुष-तीन : सुन रहा हूँ मैं।

स्त्री : मेरे लिए पहले भी असम्भव था यहाँ यह सब सहना। तुम जानते ही हो। पर अब आकर बिलकुल-बिलकुल असम्भव हो गया है।

पुरुष-तीन : *(पन्ने पलटता)* तो मतलब है कि...?

स्त्री : ठीक सोच रहे हो तुम।

पुरुष-तीन : *(किताब वापस रखता)* हूँ!

स्त्री उठकर उसकी तरफ़ आती है।

स्त्री : मैं तुम्हें बता नहीं सकती कि मुझे हमेशा कितना अफसोस रहा है इस बात का कि मेरी वजह से तुम्हें भी...तुम्हें भी इतनी तकलीफ़ उठानी पड़ी है ज़िन्दगी में।

पुरुष-तीन : *(अपनी गरदन सहलाता)* देखो...सच पूछो, तो मैं अब ज़्यादा सोचता ही नहीं इस बारे में।

टहलता हुआ उसके पास से आगे निकल आता है।

स्त्री : मुझे याद है तुम कहा करते थे, 'सोचने से कुछ होना हो, तब तो सोचे भी आदमी।'

पुरुष-तीन : हाँ...वही तो।

स्त्री : पर यह भी कि 'कल और आज में फ़र्क़ होता है।' होता है न?

पुरुष-तीन : हाँ...होता है। बहुत-बहुत।

स्त्री : इसीलिए कहना चाहती हूँ तुमसे कि...।

बड़ी लड़की अन्दर से आती है।

बड़ी लड़की : ममा, अन्दर जो कपड़े इस्तरी के लिए रखे हैं...*(पुरुष-तीन को देखकर)* हलो अंकल!

पुरुष-तीन : हलो, हलो!...अरे वाह! यह तू ही है क्या?

बड़ी लड़की : आपको क्या लगता है?

पुरुष-तीन : इतनी-सी थी तू तो! *(स्त्री से)* कितनी बड़ी नज़र आने लगी अब!

स्त्री : हाँ...यह चेहरा निकल आया है!

पुरुष-तीन : उन दिनों फ्राक पहना करती थी...।

बड़ी लड़की : *(सकुचाती)* पता नहीं किन दिनों!

पुरुष-तीन : याद है, कैसे मेरे हाथ पर काटा था इसने एक बार? बहुत ही शैतान थी।

स्त्री : *(सिर हिलाकर)* धरी रह जाती है सारी शैतानी आख़िर।

बड़ी लड़की : बैठिए आप। मैं अभी आती हूँ उधर से।

अहाते के दरवाज़े की तरफ़ चल देती है।

पुरुष-तीन : भाग कहाँ रही है?

बड़ी लड़की : आ रही हूँ बस।

चली जाती है।

पुरुष-तीन : कितनी गदराई हुई लड़की थी! गाल इस तरह फूले-फूले थे कि...

स्त्री : सब पिचक जाते हैं गाल-वाल!

पुरुष-तीन : पर मैंने तो सुना था कि...अपनी मर्ज़ी से ही इसने...?

स्त्री : हाँ, अपनी मर्ज़ी से ही। अपनी मर्ज़ी का ही तो फल है यह कि...

पुरुष-तीन : बात लेकिन काफ़ी बड़प्पन से क़रती है।

स्त्री : यह उम्र और इतना बड़प्पन?...हाँ, तो चलें अब फिर?

पुरुष-तीन : जैसा कहो।

स्त्री : *(अपने पर्स में रूमाल ढूँढ़ती)* कहाँ गया? *(रूमाल मिल जाने से पर्स बन्द करती है।)* है यह इसमें...तो कब तक लौट आऊँगी मैं? इसलिए पूछ रही हूँ कि उसी तरह कह जाऊँ इससे ताकि...

पुरुष-तीन : तुम पर है यह। जैसा भी कह दो।

स्त्री : कह देती हूँ—शायद देर हो जाए मुझे। कोई आनेवाला है, उसे भी बता देगी।

पुरुष-तीन : कोई और आनेवाला है?

स्त्री : जुनेजा। वही आदमी जिसकी वजह से...तुम जानते ही हो सब। *(अहाते की तरफ़ देखती)* बिन्नी! *(जवाब न मिलने से)* बिन्नी!...कहाँ चली गई यह?

अहाते के दरवाज़े से जाकर उधर देख लेती है और कुछ उत्तेजित-सी होकर लौट आती है।

पता नहीं कहाँ चली गई यह लड़की भी अब...!

पुरुष-तीन : इन्तज़ार कर लो।

स्त्री : नहीं, वह आदमी आ गया, तो मुश्किल हो जाएगी। मुझे बहुत ज़रूरी बात करनी है तुमसे। आज ही। अभी।

पुरुष-तीन : *(नया सिगरेट सुलगाता)* तो ठीक है। एट योर डिस्पोज़ल।

स्त्री : *(इस तरह कमरे को देखती जैसे कि कोई चीज़ वहाँ छूटी जा रही हो)* हाँ...आओ।

पुरुष-तीन : *(चलते-चलते रुककर)* लेकिन...घर इस तरह अकेला छोड़ जाओगी?

स्त्री : नहीं, अभी आ जाएगा कोई-न-कोई।

पुरुष-तीन : *(छल्ले छोड़ता)* तुम्हारे ऊपर है। जैसा भी ठीक समझो।

स्त्री : *(फिर एक नज़र कमरे पर डालकर)* मेरे लिए तो...आओ।

पुरुष-तीन पहले निकल जाता है। स्त्री फिर से पर्स खोलकर उसमें कोई चीज़ ढूँढ़ती पीछे-पीछे। कुछ क्षण मंच ख़ाली रहता है। फिर बाहर से छोटी लड़की के सिसककर रोने का स्वर सुनाई देता है। वह रोती हुई अन्दर आकर सोफे पर औंधी हो जाती है। फिर उठकर कमरे के ख़ालीपन पर नज़र डालती है और उसी तरह रोती-सिसकती अन्दर के कमरे में चली जाती है। मंच फिर दो-एक क्षण ख़ाली रहता है। उसके बाद बड़ी लड़की चाय की ट्रे लिए अहाते के दरवाज़े से आती है।

बड़ी लड़की : अरे! चले भी गए ये लोग?

ट्रे डाइनिंग टेबल पर छोड़कर बाहर के दरवाज़े तक आती है, एक बार बाहर देख लेती है और कुछ क्षण अन्तर्मुख

भाव से वहीं रुकी रहती है। फिर अपने को झटककर वापस डाइनिंग टेबल की तरफ़ चल देती है।

कैसे पथरा जाता है सिर कभी-कभी।

रास्ते में ड्रेसिंग टेबल के बिखराव को देखकर रुक जाती है और जल्दी से वहाँ की चीज़ों को सहेज देती है।

ज़रा ध्यान न दे आदमी...जंगल हो जाता है सब।

वहाँ से हटकर डाइनिंग टेबल के पास आ जाती है और अपने लिए चाय की प्याली बनाने लगती है। छोटी लड़की उसी तरह सिसकती अन्दर से आती है।

छोटी लड़की : जब नहीं हो-होना होता, तो सब लोग होते हैं सिर पर। और जब हो-होना होता है तो कोई भी नहीं दि-दिखता कहीं।

बड़ी लड़की चाय बनाना बीच में छोड़कर उसकी तरफ़ बढ़ आती है।

बड़ी लड़की : किन्नी! यह फिर क्या हुआ तुझे? बाहर से कब आई तू?

छोटी लड़की : कब आई मैं! यहाँ पर को-कोई भी क्यों नहीं था? तु-तुम भी कहाँ थीं थोड़ी देर पहले?

बड़ी लड़की : मैं चाय की पत्ती लाने चली गई थी।...किसने, अशोक ने मारा है तुझे?

छोटी लड़की : वह भी क-कहाँ था इस वक़्त? मेरे कान खींचने के लिए तो पता नहीं क-कहाँ से चला आएगा। पर ज-जब सुरेखा की ममी से बात करने की बात थी, त-तो...

बड़ी लड़की : सुरेखा की ममी ने कुछ कहा है तुझसे?

छोटी लड़की : ममा कहाँ हैं? मुझे उन्हें स-साथ लेकर जाना है वहाँ।

बड़ी लड़की : कहाँ? सुरेखा के घर?

छोटी लड़की : सुरेखा की ममी बुला रही हैं उन्हें। कहती हैं, अभी ले-लेकर आ।

बड़ी लड़की : पर किस बात के लिए?

छोटी लड़की : अशोक को देख लिया था सबने हम लोगों को डाँटते। सुरेखा की ममी ने सुरेखा को घ-घर में ले जाकर पीटा, तो उसने...उसने म-मेरा नाम लगा दिया।

बड़ी लड़की : क्या कहा?

छोटी लड़की : कि मैं सिखाती हूँ उसे वे सब ब-बातें।

बड़ी लड़की : अच्छा...तो?

छोटी लड़की : तो...सुरेखा की ममी ने मुझे बुलाकर इस तरह डाँटा है जैसे...

पहले बताओ, ममा कहाँ हैं? मैं उन्हें अभी स-साथ लेकर जाऊँगी। क-कहती हैं, मैं उनकी लड़की को बिगाड़ रही हूँ। और भी बु-बुरी बातें हमारे घर को लेकर।

बड़ी लड़की : हमारे घर में किसे लेकर?

छोटी लड़की : सभी को। तु-तुम्हें। अशोक को। डैडी को। म-ममा को। तुम बतातीं क्यों नहीं, ममा कहाँ हैं?

बड़ी लड़की : ममा बाहर गई हैं।

छोटी लड़की : बाहर कहाँ?

बड़ी लड़की : तुझे सब जगह का पता है कि कहाँ-कहाँ जाया जा सकता है बाहर?

छोटी लड़की : *(और बिफरती)* तु-तुम भी मुझी को डाँट रही हो? ममा नहीं हैं तो तुम चलो मेरे साथ।

बड़ी लड़की : मैं नहीं चल सकती।

छोटी लड़की : *(ताव में)* क्यों नहीं चल सकतीं?

बड़ी लड़की : नहीं चल सकती, कह दिया न।

छोटी लड़की : *(उसे परे धकेलती)* मत चलो, नहीं चल सकतीं तो।

बड़ी लड़की : *(गुस्से से)* किन्नी!

छोटी लड़की : बात मत करो मुझसे। किन्नी!

बड़ी लड़की : तुझे बिलकुल तमीज़ नहीं है क्या?

छोटी लड़की : नहीं है मुझे तमीज़।

बड़ी लड़की : देख, तू मुझसे ही मार खा बैठेगी आज।

छोटी लड़की : मार लो न तुम।...इनसे ही म-मार खा बैठूँगी आज।

बड़ी लड़की : तू इस वक़्त अपना यह रोना बन्द करेगी या नहीं?

छोटी लड़की : नहीं बन्द करूँगी।...रोना बन्द करेगी या नहीं?

बड़ी लड़की : तो ठीक है। रोती रह बैठकर।

छोटी लड़की : रो-रोती रह बैठकर।

अहाते के पीछे से दरवाज़े की कुंडी खटखटाने की आवाज़ सुनाई देती है।

बड़ी लड़की : *(उधर देखकर)* यह...यह इधर से कौन आया हो सकता है इस वक़्त?

जल्दी से अहाते के दरवाज़े से चली जाती है। छोटी लड़की विद्रोह के भाव से कुर्सी पर जम जाती है। बड़ी लड़की पुरुष-चार के साथ वापस आती है।

बड़ी लड़की : *(आती हुई)* मैंने सोचा कि कौन हो सकता है जो पीछे का दरवाज़ा खटखटाए। आपका पता था, आप आनेवाले हैं। पर आप तो हमेशा आगे के दरवाज़े से ही आते हैं, इसलिए...।

पुरुष-चार : मैं उसी दरवाज़े से आता, लेकिन...*(छोटी लड़की को देखकर)* इसे क्या हुआ है? इस तरह क्यों बैठी है वहाँ?

बड़ी लड़की : *(छोटी लड़की से)* जुनेजा अंकल आए हैं, इधर आकर बात तो कर इनसे।

छोटी लड़की मुँह फेरकर कुर्सी की पीठ पर बैठकर बाँह फैला लेती है।

पुरुष-चार : *(छोटी लड़की के पास आता)* अरे! यह तो रो रही है। *(उसके सिर पर हाथ फेरता)* क्यों, क्या हुआ मुनिया को? किसने नाराज़ कर दिया? *(पुचकारता)* उठो बेटे, इस तरह अच्छा नहीं लगता। अब आप बड़े हो गए हैं, इसलिए...।

छोटी लड़की : *(सहसा उठकर बाहर को चलती)* हाँ...बड़े हो गए हैं। पता नहीं किस वक़्त छोटे हो जाते हैं, किस वक़्त बड़े हो जाते हैं! *(बाहर के दरवाज़े के पास से)* हम नहीं लौटकर आएँगे अब...जब तक ममा नहीं आ जातीं।

चली जाती है।

पुरुष-चार : *(लौटकर बड़ी लड़की की तरफ़ आता)* सावित्री बाहर गई है?

बड़ी लड़की सिर्फ़ सिर हिला देती है।

मैं थोड़ी देर पहले आ गया था। बाहर सड़क पर न्यू इंडिया की गाड़ी खड़ी देखी, तो कुछ देर पीछे को घूमने निकल गया। तेरे डैडी ने बताया था, जगमोहन आजकल यहीं है–फिर से ट्रांसफर होकर आ गया है।...वह ऐसे ही आया था मिलने, या...?

बड़ी लड़की : ममा को पता होगा। मैं नहीं जानती।

पुरुष-चार : अशोक ने ज़िक्र नहीं किया मुझसे। उसे भी पता नहीं होगा शायद।

बड़ी लड़की : अशोक मिला है आपसे?

पुरुष-चार : बस-स्टाप पर खड़ा था। मैंने पूछा, तो बोला कि आप ही के यहाँ जा रहा हूँ–डैडी का हालचाल पता करने। कहने लगा, आप भी चलिए, बाद में साथ ही आ जाएँगे। पर मैंने सोचा कि एक बार जब इतनी दूर आ ही गया हूँ, तो सावित्री से मिलकर ही जाऊँ। फिर उसे भी जिस हाल में छोड़ आया हूँ, उसकी वजह से...।

बड़ी लड़की : किसकी बात कर रहे हैं...डैडी की?

पुरुष-चार : हाँ, महेन्द्रनाथ की ही। एक तो सारी रात सोया नहीं वह। दूसरे...।

बड़ी लड़की : तबीयत ठीक नहीं उनकी?

पुरुष-चार : तबीयत भी ठीक नहीं और वैसे भी...मैं तो समझता हूँ, महेन्द्रनाथ खुद ज़िम्मेदार है अपनी यह हालत करने के लिए।

बड़ी लड़की : *(उस प्रकरण से बचना चाहती)* चाय बनाऊँ आपके लिए?

पुरुष-चार : *(चाय का सामान देखकर)* किसके लिए बनाए बैठी थी इतनी चाय? पी नहीं लगता किसी ने?

बड़ी लड़की : *(असमंजस में)* यह मैंने बनाई थी क्योंकि...क्योंकि सोच रही थी कि...

पुरुष-चार : *(जैसे बात को समझकर)* वे लोग जल्दी चले गए होंगे।...सावित्री को पता था न, मैं आनेवाला हूँ?

बड़ी लड़की : *(आहिस्ता से)* पता था।

पुरुष-चार : यह भी बताया नहीं मुझे अशोक ने...पर उसके लहजे से ही मुझे लग गया था कि... *(फिर जैसे कोई बात समझ में आ जाने से)* अच्छा, अच्छा, अच्छा! काफ़ी समझदार लड़का है।

बड़ी लड़की : *(चीनीदानी हाथ में लिए)* चीनी कितनी?

पुरुष-चार : चीनी बिलकुल नहीं। मुझे मना है चीनी। वह शायद इसीलिए मुझे वापस ले चलना चाहता था कि...कि उसे मालूम होगा जगमोहन का।

बड़ी लड़की : दूध?

पुरुष-चार : हमेशा जितना।

बड़ी लड़की : कुछ नमकीन लाऊँ अन्दर से?

पुरुष-चार : नहीं।

बड़ी लड़की : बैठ जाइए।

पुरुष-चार : ओ, हाँ!

वहीं एक कुर्सी खींचकर बैठ जाता है। बड़ी लड़की एक प्याली उसे देकर दूसरी प्याली खुद लेकर बैठ जाती है। कुछ पल ख़ामोशी।

बड़ी लड़की : कहाँ-कहाँ घूम आए इस बीच? सुना था, कहीं बाहर गए थे?

पुरुष-चार : हाँ, गया था बाहर। पर किसी नई जगह नहीं गया।

फिर कुछ पल ख़ामोशी।

बड़ी लड़की : सुषमा का क्या हाल है?

पुरुष-चार : ठीक-ठाक है अपने घर में।

बड़ी लड़की : कोई बच्चा-अच्चा?

पुरुष-चार : अभी नहीं।

फिर कुछ पल ख़ामोशी।

बड़ी लड़की : आप तो बिलकुल चुप बैठे हैं। कोई बात कीजिए न!

पुरुष-चार : *(उसाँस के साथ)* क्या बात करूँ?

बड़ी लड़की : कुछ भी।

पुरुष-चार : सोचकर तो बहुत-सी बातें आया था। सावित्री होती तो शायद कुछ बात करता भी पर अब लग रहा है बेकार ही है सब।

फिर कुछ पल ख़ामोशी। दोनों लगभग एक साथ अपनी-अपनी प्याली ख़ाली करके रख देते हैं।

बड़ी लड़की : एक बात पूछूँ—डैडी को फिर से वही दौरा तो नहीं पड़ा, ब्लड-प्रेशर का?

पुरुष-चार : यह भी पूछने की बात है?

बड़ी लड़की : आप उन्हें समझाते क्यों नहीं कि...

पुरुष-चार : *(उठता हुआ)* कोई समझा सकता है उसे? वह इस औरत को इतना चाहता है, इतना चाहता है अन्दर से कि..

बड़ी लड़की : यह आप कैसे कह सकते हैं?

पुरुष-चार : तुझे लगता है यह बात सही नहीं है?

बड़ी लड़की : *(उठती हुई)* कैसे सही हो सकती है? *(अन्तर्मुख भाव से)*...आप नहीं जानते, हमने इन दोनों के बीच क्या-क्या गुज़रते देखा है इस घर में।

पुरुष-चार : देखा जो कुछ भी हो...

बड़ी लड़की : इतने साधारण ढंग से उड़ा देने की बात नहीं है, अंकल! मैं यहाँ थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़ियाघर के एक पिंजरे में रहती हूँ जहाँ...आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीख़ते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना...उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना...खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर... *(सिहरकर)* मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने। कोई भी बाहर का आदमी उस सबको देखता-जानता, तो यही कहता कि क्यों नहीं बहुत पहले ही ये लोग...?

पुरुष-चार : तूने नई बात नहीं बताई कोई। महेन्द्रनाथ ख़ुद मुझे बताता रहा है यह सब।

बड़ी लड़की : बताते रहे हैं? फिर भी आप कहते हैं कि...?

पुरुष-चार : फिर भी कहता हूँ कि वह इसे बहुत प्यार करता है।

बड़ी लड़की : कैसे कहते हैं यह आप? दो आदमी जो रात-दिन एक-दूसरे की जान नोंचने में लगे रहते हों...?

पुरुष-चार : मैं दोनों की नहीं, एक की बात कह रहा हूँ।

बड़ी लड़की : तो आप सचमुच मानते हैं कि...?

पुरुष-चार : बिलकुल मानता हूँ, इसीलिए कहता हूँ कि अपनी आज की हालत के लिए जिम्मेदार महेन्द्रनाथ खुद है। अगर ऐसा न होता, तो आज सुबह से ही रिरियाकर मुझसे न कह रहा होता कि जैसे भी हो मैं इससे बात करके इसे समझाऊँ। मैं इस वक़्त यहाँ न आया होता, तो पता है क्या होता?

बड़ी लड़की : क्या होता?

पुरुष-चार : महेन्द्र खुद यहाँ चला आया होता। बिना परवाह किए कि यहाँ आकर इस ब्लड-प्रेशर में उसका क्या हाल होगा। और ऐसा पहली बार न होता, तुझे पता ही है। मैंने कितनी मुश्किल से समझा-बुझाकर उसे रोका है, मैं ही जानता हूँ। मेरे मन में कहीं थोड़ा-सा भरोसा बाक़ी था कि शायद अब भी कुछ हो सके... मेरे बात करने से ही कुछ बात बन सके। पर आकर बाहर न्यू इंडिया की गाड़ी खड़ी देखी, तो मुझे लगा कि नहीं, कुछ नहीं हो सकता। कुच्छ नहीं हो सकता। बात करके मैं सिर्फ़ अपने को...मेरा ख़याल है चलना चाहिए मुझे अब। जाते हुए मुझे उसके लिए दवाई भी ले जानी है।...अच्छा।

बाहर के दरवाज़े की तरफ़ चल देता है। बड़ी लड़की अपनी जगह पर जड़-सी खड़ी रहती है। फिर दो-एक क़दम उसकी तरफ़ बढ़ जाती है।

बड़ी लड़की : अंकल!

पुरुष-चार : *(रुककर)* कहो।

बड़ी लड़की : आप जाकर डैडी को यह बात बता देंगे?

पुरुष-चार : कौन-सी?

बड़ी लड़की : यही...जगमोहन अंकल के आने की?

पुरुष-चार : क्यों...नहीं बतानी चाहिए?

बड़ी लड़की : ऐसा है कि...

पुरुष-चार : *(हलके से आँख मूँदकर खोलता)* मैं न भी बताऊँ शायद पर कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ने का उससे।...बैठ तू।

दरवाज़े से बाहर जाने लगता है।

बड़ी लड़की : अंकल?

पुरुष-चार : *(फिर रुककर)* हाँ, बेटे!

बड़ी लड़की : सचमुच कुछ नहीं हो सकता क्या?

पुरुष-चार : एक दिन के लिए हो सकता है शायद। दो दिन के लिए हो सकता है। पर हमेशा के लिए...कुछ भी नहीं।

बड़ी लड़की : तो उस हालत में क्या यही बेहतर नहीं कि...?

बाहर से स्त्री के स्वर सुनाई देते हैं।

स्त्री : छोड़ दे मेरा हाथ। छोड़ भी।

बड़ी लड़की : आ गई हैं वे लौटकर।

पुरुष-चार : हाँ।

बाहर जाने के बजाय होंठ चबाता डाइनिंग टेबल की तरफ़ बढ़ जाता है। स्त्री छोटी लड़की के साथ आती है। छोटी लड़की उसे बाँह से बाहर खींच रही है।

छोटी लड़की : चलती क्यों नहीं तुम मेरे साथ? चलो न!

स्त्री : *(बाँह छुड़ाती)* तू हटेगी या नहीं?

छोटी लड़की : नहीं हटूँगी। उस वक़्त तो घर पर नहीं थी, और अब कहती हो...।

स्त्री : छोड़ मेरी बाँह।

छोटी लड़की : नहीं छोड़ूँगी।

स्त्री : नहीं छोड़ेगी? *(गुस्से से बाँह छुड़ाकर उसे परे धकेलती)* बड़ा जोम चढ़ने लगा है तुझे!

छोटी लड़की : हाँ, चढ़ने लगा है। जब-जब कोई बात कहता है मुझसे, यहाँ किसी को फुरसत ही नहीं होती चलकर उससे पूछने की।

बड़ी लड़की : उन्हें साँस तो लेने दे। वे अभी घर में दाखिल नहीं हुई कि तूने...।

छोटी लड़की : तुम बात मत करो। मिट्टी के लोंदे की तरह हिली ही नहीं जब मैंने...।

स्त्री : *(उसे फ्राक से पकड़कर)* फिर से कह जो कहा है तूने!

छोटी लड़की : *(अपने को छुड़ाने के लिए संघर्ष करती)* क्या कहा है मैंने? पूछो इनसे जब मैंने आकर इन्हें बताया था, तो...।

स्त्री : *(उसे चपत जड़ती)* तू कह तो फिर से एक बार वही बात।

पल-भर की ख़ामोशी जिसमें सबकी नज़रें स्थिर हो रहती हैं—छोटी लड़की की स्त्री पर और शेष सबकी छोटी लड़की पर।

छोटी लड़की : *(अपने आवेश से बेबस)* मिट्टी के लोंदे!...सब-के-सब मिट्टी के लोंदे!

पुरुष-चार : *(उनकी तरफ़ आता)* छोड़ दो लड़की को, सावित्री! उस पर इस वक़्त पागलपन सवार है, इसलिए...।

स्त्री : आप मत पड़िए बीच में।

पुरुष-चार : देखो...।

स्त्री : आपसे कहा है, आप मत पड़िए बीच में। मुझे अपने घर में किससे किस तरह बरतना चाहिए, यह मैं औरों से बेहतर जानती हूँ। *(छोटी लड़की के एक और चपत जड़ती)* इस वक़्त चुपचाप चली जा उस कमरे में। मुँह से एक लफ़्ज़ भी और कहा, तो ख़ैर नहीं तेरी।

छोटी लड़की के केवल होंठ हिलते हैं। शब्द उसके मुँह से कोई नहीं निकल पाता। वह घायल नज़र से स्त्री को देखती उसी तरह खड़ी रहती है।

जा उस कमरे में। सुना नहीं?

छोटी लड़की फिर भी खड़ी रहती है।

नहीं जाएगी?

छोटी लड़की दाँत पीसकर विना कुछ कहे एकाएक झटके से अन्दर के कमरे में चली जाती है। स्त्री जाकर पीछे से दरवाज़े की कुंडी लगा देती है।

तुझसे समझूँगी अभी थोड़ी देर में।

बड़ी लड़की : बैठिए, अंकल!

पुरुष-चार : नहीं, मैं अभी जाऊँगा।

स्त्री : *(उसकी तरफ़ आती)* आपको कुछ बात करनी थी मुझसे... बताया था इसने।

पुरुष-चार : हाँ...पर इस वक़्त तुम ठीक मूड में नहीं हो...।

स्त्री : मैं बिलकुल ठीक मूड में हूँ। बताइए आप।

बड़ी लड़की : अंकल कह रहे थे, डैडी की तबीयत फिर ठीक नहीं है।

स्त्री : घर से जाकर तबीयत ठीक कब रहती है उनकी? हर बार का यही एक क़िस्सा नहीं है?

बड़ी लड़की : तुम थकी हुई हो। अच्छा होगा जो भी बात करनी हो, बैठकर आराम से कर लो।

स्त्री : मैं बहुत आराम से हूँ *(पुरुष-चार से)* बताइए आप।

पुरुष-चार : ज़्यादा बात अब नहीं करना चाहता। सिर्फ़ एक ही बात कहना चाहता हूँ तुमसे।

स्त्री : *(पल-भर प्रतीक्षा करने के बाद)* कहिए।

पुरुष-चार : तुम किसी तरह छुटकारा नहीं दे सकतीं उस आदमी को?

स्त्री : छुटकारा? मैं? उन्हें? कितनी उल्टी बात है!

पुरुष-चार : उल्टी बात नहीं है। तुमने जिस तरह बाँध रखा है उसे अपने साथ...।

स्त्री : उन्हें बाँध रखा है? मैंने अपने साथ...? सिवा आपके कोई नहीं कह सकता था यह बात।

पुरुष-चार : क्योंकि और कोई जानता भी तो नहीं उतना जितना मैं जानता हूँ।

स्त्री : आप हमेशा यही मानते आए हैं कि आप बहुत ज़्यादा जानते हैं। नहीं?

पुरुष-चार : महेन्द्रनाथ के बारे में, हाँ। और जानकर ही कहता हूँ कि तुमने इस तरह शिकंजे में कस रखा है उसे कि वह अब अपने दो पैरों पर चल सकने लायक भी नहीं रहा।

स्त्री : अपने दो पैरों पर! अपने दो पैर कभी थे भी उसके पास?

पुरुष-चार : कभी की बात क्यों करती हो? जब तुमने उसे जाना, तब से दस साल पहले से मैं उसे जानता हूँ।

स्त्री : इसीलिए शायद जब मैंने जाना, तब तक अपने दो पैर रहे ही नहीं थे उसके पास।

पुरुष-चार : मैं जानता हूँ सावित्री, कि तुम मेरे बारे में क्या-क्या सोचती और कहती हो...।

स्त्री : ज़रूर जानते होंगे...लेकिन फिर भी कितना कुछ है जो सावित्री कभी किसी के सामने नहीं कहती।

पुरुष-चार : जैसे?

स्त्री : जैसे...पर बात तो आप करने आए हैं।

पुरुष-चार : नहीं। पहले तुम बात कर लो *(बड़ी लड़की से)* तू बेटे, ज़रा उधर चली जा थोड़ी देर।

बड़ी लड़की चुपचाप जाने लगती है।

स्त्री : सुन लेने दीजिए इसे भी, अगर मुझे बात करनी है तो।

पुरुष-चार : ठीक है। यहीं रह तू, बिन्नी!

बड़ी लड़की : पर मैं सोचती हूँ कि...।

स्त्री : मैं चाहती हूँ तू यहाँ रहे, तो किसी वजह से ही चाहती हूँ।

बड़ी लड़की आहिस्ता से आँखें झपकाकर उन दोनों से थोड़ी दूर डाइनिंग टेबल की कुर्सी पर जा बैठती है।

पुरुष-चार : *(स्त्री से)* बैठ जाओ तुम भी।

कटता हुआ खुद सोफ़े पर बैठ जाता है। स्त्री एक मोढ़ा ले लेती है।

कह डालो अब जो भी कहना है तुम्हें।

स्त्री : कहने से पहले एक बात पूछनी है आपसे। आदमी किस हालत में सचमुच एक आदमी होता है?

पुरुष-चार :-पूछो कुछ नहीं। जो कहना है, कह डालो।

स्त्री : यूँ तो जो कोई भी एक आदमी की तरह चलता-फिरता, बात करता है, वह आदमी ही होता है...। पर असल में आदमी होने के लिए क्या ज़रूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख़्सियत हो?

पुरुष-चार : महेन्द्र को सामने रखकर यह तुम इसलिए कह रही हो कि...

स्त्री : इसलिए कह रही हूँ कि जब से मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज़ के लिए उसे किसी-न-किसी का सहारा ढूँढ़ते पाया है। ख़ास तौर से आपका। यह करना चाहिए या नहीं—जुनेजा से पूछ लूँ। वहाँ जाना चाहिए या नहीं—जुनेजा से राय कर लूँ। कोई छोटी-से-छोटी चीज़ ख़रीदनी है, तो भी जुनेजा की पसन्द से। कोई बड़े-से-बड़ा ख़तरा उठाता है—तो भी जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझसे ब्याह करने का फैसला भी कैसे किया उसने? जुनेजा के हामी भरने से।

पुरुष-चार : मैं दोस्त हूँ उसका। उसे भरोसा रहा है मुझपर।

स्त्री : और उस भरोसे का नतीजा?...कि अपने-आप पर उसे कभी किसी चीज़ के लिए भरोसा नहीं रहा। ज़िन्दगी में हर चीज़ की कसौटी—जुनेजा। जो जुनेजा सोचता है, जो जुनेजा चाहता है, जो जुनेजा करता है, वही उसे भी सोचना है, वही उसे भी चाहना है, वही उसे भी करना है। क्यों? क्योंकि जुनेजा तो एक पूरा आदमी है अपने में। और वह खुद? वह खुद एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं है।

पुरुष-चार : तुम इस नज़र से देख सकती हो इस चीज़ को; पर असलियत इसकी यह है कि...

स्त्री : *(खड़ी होती)* मुझे उस असलियत की बात करने दीजिए जिसे मैं जानती हूँ।...एक आदमी है। घर बसाता है। क्यों बसाता है? एक ज़रूरत पूरी करने के लिए। कौन-सी ज़रूरत? अपने अन्दर के किसी उसको...एक अधूरापन कह दीजिए उसे...उसको भर सकने की। इस तरह उसे अपने लिए...अपने में...पूरा होना होता है। किन्हीं दूसरों के पूरा करते रहने में ही ज़िन्दगी नहीं काटनी होती। पर आपके महेन्द्र के लिए ज़िन्दगी का मतलब रहा है...जैसे सिर्फ़ दूसरों के ख़ाली खाने भरने की ही एक चीज़ है वह। जो कुछ वे दूसरे उससे चाहते हैं, उम्मीद करते हैं...या जिस तरह वे सोचते हैं उनकी ज़िन्दगी में उसका इस्तेमाल हो सकता है।

पुरुष-चार : इस्तेमाल हो सकता है?

स्त्री : नहीं? इस काम के लिए और कोई नहीं जा सकता, महेन्द्रनाथ चला जाएगा। इस बोझ को और कोई नहीं ढो सकता, महेन्द्रनाथ ढो लेगा। प्रेस खुला, तो भी। फैक्टरी शुरू हुई, तो भी। ख़ाली खाने भरने की जगह पर महेन्द्रनाथ, और खाने भर चुकने पर? महेन्द्रनाथ कहीं नहीं। महेन्द्रनाथ अपना हिस्सा पहले ही ले चुका है, पहले ही खा चुका है। और उसका हिस्सा? *(कमरे के एक-एक सामान की तरफ़ इशारा करती)* ये ये ये ये ये दूसरे-तीसरे-चौथे दरजे की घटिया चीज़ें जिनसे वह सोचता था, उसका घर बन रहा है?

पुरुष-चार : महेन्द्रनाथ बहुत जल्दबाज़ी बरतता था इस मामले में, मैं जानता हूँ। मगर वजह इसकी...

स्त्री : वजह इसकी मैं थी—यही कहना चाहते हैं न? वह मुझे खुश रखने के लिए ही यह लोहा-लकड़ी जल्दी-से-जल्दी घर में भरकर हर बार अपनी बरबादी की नींव खोद लेता था। पर असल-में उसकी बरबादी की नींव क्या चीज़ खोद रही थी...क्या चीज़ और कौन आदमी...अपने दिल में तो आप भी जानते होंगे।

पुरुष-चार : कहती रहो तुम। मैं बुरा नहीं मान रहा। आख़िर तुम महेन्द्र की पत्नी हो और...

स्त्री : *(आवेश में उसकी तरफ़ मुड़ती)* मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी। महेन्द्र भी एक आदमी है, जिसके अपना घर-बार है, पत्नी

है, यह बात महेन्द्र को अपना कहनेवालों को शुरू से ही रास नहीं आई। महेन्द्र ने ब्याह क्या किया, आप लोगों की नज़र में आपका ही कुछ आपसे छीन लिया। महेन्द्र अब पहले की तरह हँसता नहीं। महेन्द्र अब दोस्तों में बैठकर पहले की तरह खिलता नहीं! महेन्द्र अब वह पहले वाला महेन्द्र रह ही नहीं गया! और महेन्द्र ने जी-जान से कोशिश की, वह वही बना रहे किसी तरह। कोई यह न कह सके जिससे कि वह अब पहले वाला महेन्द्र रह ही नहीं गया। और इसके लिए महेन्द्र घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से सिर पटकता है। बच्चों को पीटता है। बीवी के घुटने तोड़ता है। दोस्तों को अपना फ़ुरसत का वक़्त काटने के लिए उसकी ज़रूरत है। महेन्द्र के बग़ैर कोई पार्टी जमती नहीं! महेन्द्र के बग़ैर किसी पिकनिक का मज़ा नहीं आता था! दोस्तों के लिए जो फ़ुरसत काटने का वसीला है, वही महेन्द्र के लिए उसका मुख्य काम है ज़िन्दगी में। और उसका ही नहीं, उसके घर के लोगों का भी वही मुख्य काम होना चाहिए। तुम फलाँ जगह चलने से इंकार कैसे कर सकती हो? फलाँ से तुम ठीक से बात क्यों नहीं करतीं? तुम अपने को पढ़ी-लिखी कहती हो?...तुम्हें तो लोगों के बीच उठने-बैठने की तमीज़ नहीं। एक औरत को इस तरह चलना चाहिए, इस तरह बात करनी चाहिए, इस तरह मुस्कराना चाहिए। क्यों तुम लोगों के बीच हमेशा मेरी पोज़ीशन ख़राब करती हो? और वही महेन्द्र जो दोस्तों के बीच दब्बू-सा बना हलके-हलके मुस्कराता है, घर आकर एक दरिंदा बन जाता है। पता नहीं, कब किसे नोच लेगा, कब किसे फाड़ खाएगा! आज वह ताव में अपनी कमीज़ को आग लगा लेता है। कल वह सावित्री की छाती पर बैठकर उसका सिर ज़मीन से रगड़ने लगता है। बोल, बोल, बोल, चलेगी उस तरह कि नहीं जैसे मैं चाहता हूँ? मानेगी वह सब कि नहीं जो मैं कहता हूँ? पर सावित्री फिर भी नहीं चलती। वह सब नहीं मानती। वह नफ़रत करती है इस सबसे—इस आदमी के ऐसा होने से। वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए एक...पूरा...आदमी। गला फाड़कर वह यह बात कहती है। कभी इस आदमी को ही वह आदमी बना सकने की कोशिश करती है। कभी तड़पकर अपने को इससे अलग कर लेना चाहती है। पर अगर उसकी कोशिशों

से थोड़ा भी फ़र्क पड़ने लगता है इस आदमी में, तो दोस्तों में इनका ग़म मनाया जाने लगता है। सावित्री महेन्द्र की नाक में नकेल डालकर उसे अपने ढंग से चला रही है। सावित्री बेचारे महेन्द्र की रीढ़ तोड़कर उसे किसी लायक नहीं रहने दे रही है! जैसे कि आदमी न होकर बिना हाड़-मांस का पुतला हो वह एक—बेचारा महेन्द्र!

हाँफती हुई चुप कर जाती है। बड़ी लड़की कुहनियाँ मेज़ पर रखे और मुट्ठियों पर चेहरा टिकाए पथराई आँखों से चुपचाप दोनों को देखती है।

पुरुष-चार : *(उठता हुआ)* बिना हाड़-मांस का पुतला, या जो भी कह लो तुम उसे—पर मेरी नज़र में वह हर आदमी जैसा एक आदमी है—सिर्फ़ इतनी ही कमी है उसमें।

स्त्री : यह आप मुझे बता रहे हैं? जिसने बाईस साल साथ जीकर जाना है उस आदमी को?

पुरुष-चार : जिया ज़रूर है तुमने उसके साथ...जाना भी है उसे कुछ हद तक...लेकिन...

स्त्री : *(हताशा से सिर हिलाती)* ओफ्फ़ोह! ओफ्फोह! ओफ्फोह!

पुरुष-चार : जो-जो बातें तुमने कही हैं अभी, वे गलत नहीं हैं अपने में। लेकिन बाईस साल साथ जीकर जानी हुई बातें वे नहीं हैं। आज से बाईस साल पहले भी एक बार लगभग ऐसी ही बातें मैं तुम्हारे मुँह से सुन चुका हूँ—तुम्हें याद है?

स्त्री : आप आज ही की बात नहीं कर सकते? बाईस साल पहले पता नहीं किस ज़िन्दगी की बात है वह?

पुरुष-चार : मेरे घर हुई थी वह बात। तुम बात करने के लिए ही ख़ास आई थीं वहाँ, और मेरे कन्धे पर सिर रखे देर तक रोती रही थीं। तब तुमने कहा था कि...

स्त्री : देखिए, उन दिनों की बात अगर छेड़ना ही चाहते हैं आप, तो मैं चाहूँगी कि यह लड़की...

पुरुष-चार : क्या हर्ज़ है अगर यह यहीं रहे तो? जब आधी बात इसके सामने हुई है, तो बाक़ी आधी भी इसके सामने ही हो जानी चाहिए।

बड़ी लड़की : *(उठने को होकर)* लेकिन अंकल...!

पुरुष-चार : *(स्त्री से)* तुम समझती हो कि इसके सामने मुझे नहीं करनी चाहिए यह बात?

स्त्री : मैं अपने ख़याल से नहीं कह रही थीं।...ठीक है। आप कीजिए बात।

कहती हुई एक कुर्सी पर बैठ जाती है।

पुरुष-चार : बैठ बिन्नी!

बड़ी लड़की फिर उसी तरह बैठ जाती है।

(स्त्री से) उस दिन पहली बार मैंने तुम्हें उस तरह ढुलते देखा था। तब तुमने कहा था कि...

स्त्री : मैं बिलकुल बच्ची थी तब तक, अभी और...।

पुरुष-चार : बच्ची थीं या जो भी थीं, पर बात बिलकुल इसी तरह करती थीं जैसे आज करती हो। उस दिन भी बिलकुल इसी तरह तुमने महेन्द्र को मेरे सामने उधेड़ा था। कहा था कि वह बहुत लिजलिजा और चिपचिपा-सा आदमी है। पर उसे वैसा बनानेवालों में नाम तब दूसरों के थे। एक नाम था उसकी माँ का और दूसरा उसके पिता का...।

स्त्री : ठीक है। उन लोगों की भी कुछ कम देन नहीं रही उसे ऐसा बनाने में।

पुरुष-चार : पर जुनेजा का नाम तब नहीं था ऐसे लोगों में। क्यों नहीं था, कह दूँ न यह भी?

स्त्री : देखिए...।

पुरुष-चार : बहुत पुरानी बात है। कह देने में कोई हर्ज़ नहीं है। मेरा नाम इसलिए नहीं था कि...

स्त्री : मैं इज़्ज़त करती थी आपकी...बस, इतनी-सी बात थी।

पुरुष-चार : तुम इज़्ज़त कह सकती हो उसे...पर वह इज़्ज़त किसलिए करती थीं? इसलिए नहीं कि एक आदमी के तौर पर मैं महेन्द्र से कुछ बेहतर था तुम्हारी नज़र में; बल्कि सिर्फ़ इसलिए कि...

स्त्री : कि आपके पास बहुत पैसा था? और आपका दबदबा था इन लोगों के बीच?

पुरुष-चार : नहीं। सिर्फ़ इसलिए कि मैं जैसा भी था जो भी था—महेन्द्र नहीं था।

स्त्री : *(एकाएक उठती)* तो आप कहना चाहते हैं कि...?

पुरुष-चार : उतावली क्यों होती हो? मुझे बात कह लेने दो। मुझसे उस वक़्त तुम क्या चाहती थीं, मैं ठीक-ठीक नहीं जानता। लेकिन तुम्हारी बात से इतना ज़रूर ज़ाहिर था कि महेन्द्र को तुम तब भी वह आदमी नहीं समझती थीं जिसके साथ तुम ज़िन्दगी काट सकतीं...।

स्त्री : हालाँकि उसके बाद भी आज तक उसके साथ ज़िन्दगी काटती आ रही हूँ...

पुरुष-चार : पर हर दूसरे-चौथे साल अपने को उससे झटक लेने की कोशिश करती हुई। इधर-उधर नज़र दौड़ाती हुई कब कोई ज़रिया मिल जाए जिससे तुम अपने को उससे अलग कर सको। पहले कुछ दिन जुनेजा एक आदमी था तुम्हारे सामने। तुमने कहा है तब तुम उसकी इज़्ज़त करती थीं। पर आज उसके बारे में जो सोचती हो, वह भी अभी बता चुकी हो। जुनेजा के बाद जिससे कुछ दिन चकाचौंध रहीं तुम, वह था शिवजीत। एक बड़ी डिग्री, बड़े-बड़े शब्द और पूरी दुनिया घूमने का अनुभव। पर असल चीज़ वही कि वह जो भी था और ही कुछ था—महेन्द्र नहीं था। पर जल्द ही तुमने पहचानना शुरू किया कि वह निहायत दोगला क़िस्म का आदमी है। हमेशा दो तरह की बातें करता है। उसके बाद सामने आया जगमोहन। ऊँचे सम्बन्ध, ज़बान की मिठास, टिपटॉप रहने की आदत और ख़र्च की दरिया-दिली। पर तीर की असली नोक फिर उसी जगह पर—कि उसमें जो कुछ भी था, जगमोहन का-सा था—महेन्द्र का-सा नहीं था। पर शिकायत तुम्हें उससे भी होने लगी थी कि वह सब लोगों पर एक-सा पैसा क्यों उड़ाता है? दूसरे की सख़्त-से-सख़्त बात को एक ख़ामोश मुस्कराहट के साथ क्यों पी जाता है? अच्छा हुआ, वह ट्रांसफर होकर चला गया यहाँ से, वरना...।

स्त्री : यह ख़ामख़ाह का तानाबाना क्यों बुन रहे हैं? जो असल बात कहना चाहते हैं, वही क्यों नहीं कहते?

पुरुष-चार : असल बात इतनी ही कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी ज़िन्दगी में, तो साल-दो-साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने ग़लत आदमी से शादी कर ली है। उसकी ज़िन्दगी में भी ऐसे ही कोई महेन्द्र, कोई जुनेजा, कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सब सोचती, यही सब महसूस करती। क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है—कितना-कुछ एक साथ होकर, कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना-कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना-कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस-किसी के साथ भी ज़िन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा इतनी

ही ख़ाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हें अपने आसपास सिर पटकता और कपड़े फाड़ता नज़र आता और तुम...

स्त्री : *(साड़ी का पल्लू दाँतों में लिए सिर हिलाती हँसी और रुलाई के बीच के स्वर में)* हहहहहहहह-हःह-हहहहह-हःहहः हहः हहः।

पुरुष-चार : *(अचकचाकर)* तुम हँस रही हो?

स्त्री : हाँ...पता नहीं...हँस ही रही हूँ शायद। आप कहते रहिए।

पुरुष-चार : आज महेन्द्र एक कुढ़नेवाला आदमी है। पर एक वक़्त था जब वह सचमुच हँसता था। अन्दर से हँसता था। पर यह तभी था जब कोई उस पर यह साबित करनेवाला नहीं था कि कैसे हर लिहाज़ से वह हीन और छोटा है—इससे, उससे, मुझसे, तुमसे, सभी से। जब कोई उससे यह कहनेवाला नहीं था कि जो-जो वह नहीं है, वही-वही उसे होना चाहिए, और जो वह है...।

स्त्री : एक उसी उस को देखा है आपने इस बीच—या उसके आसपास भी किसी के साथ कुछ गुज़रते देखा है?

पुरुष-चार : वह भी देखा है। देखा है कि जिस मुट्ठी में तुम कितना-कुछ एक साथ भर लेना चाहती थीं, उसमें जो था वह भी धीरे-धीरे बाहर फिसलता गया है कि तुम्हारे मन में लगातार एक डर समाता गया जिसके मारे कभी तुम घर का दामन थामती रही हो, कभी बाहर का और कि वह डर एक दहशत में बदल गया। जिस दिन तुम्हें एक बहुत बड़ा झटका खाना पड़ा...अपनी आख़िरी कोशिश में।

स्त्री : किस आख़िरी कोशिश में?

पुरुष-चार : मनोज का बड़ा नाम था। उस नाम की डोर पकड़कर ही कहीं पहुँच सकने की आख़िरी कोशिश में। पर तुम एकदम बौरा गईं जब तुमने पाया कि वह उतने नामवाला आदमी तुम्हारी लड़की को साथ लेकर रातों-रात इस घर से...।

बड़ी लड़की : *(सहसा उठती)* यह आप क्या कह रहे हैं, अंकल?

पुरुष-चार : मजबूर होकर कहना पड़ रहा है, बिन्नी! तू शायद मनोज को अब भी उतना नहीं जानती जितना...!

बड़ी लड़की : *(हाथों में चेहरा छिपाए ढहकर बैठती)* ओह!

पुरुष-चार : ...जितना यह जानती है। इसीलिए आज यह उसे बरदाश्त भी नहीं कर सकती। *(स्त्री से)* ठीक नहीं है यह? बिन्नी के मनोज के साथ चले जाने के बाद तुमने एक अन्धाधुँध कोशिश शुरू

की—कभी महेन्द्र को ही और झकझोरने की, कभी अशोक को ही चाबुक लगाने की, और कभी उन दोनों से धीरज खोकर कोई और ही रास्ता, कोई और ही चारा ढूँढ़ सकने की। ऐसे में पता चला जगमोहन यहाँ लौट आया है। आगे के रास्ते बन्द पाकर तुमने फिर पीछे की तरफ़ देखना चाहा। आज अभी बाहर गई थीं उसके साथ। क्या बात हुई?

स्त्री : आप समझते हैं आपको मुझसे जो कुछ भी जानने का जो कुछ भी पूछने का हक हासिल है?

पुरुष-चार : न सही! पर मैं बिना पूछे ही बता सकता हूँ कि क्या बात हुई होगी। तुमने कहा, तुम बहुत-बहुत दुखी हो आज। उसने कहा, उसे बहुत-बहुत हमदर्दी है तुमसे। तुमने कहा, तुम जैसे भी हो अब इस घर से छुटकारा पा लेना चाहती हो। उसने कहा, कितना अच्छा होता अगर इस नतीजे पर तुम कुछ साल पहले पहुँच सकी होतीं। तुमने कहा, जो तब नहीं हुआ, वह अब तो हो ही सकता है। उसने कहा, वह चाहता है हो सकता, पर आज इसमें बहुत-सी उलझनें सामने हैं—बच्चों की ज़िन्दगी को लेकर, इसको-उसको लेकर। फिर यह भी कि इस नौकरी में उसका मन नहीं लग रहा, पता नहीं कब छोड़ दे, इसलिए अपने को लेकर भी उसका कुछ तय नहीं है इस समय। तुम गुमसुम होकर सुनती रहीं और रूमाल से आँखें पोंछती रहीं। आख़िर उसने कहा कि तुम्हें देर हो रही है, अब लौट चलना चाहिए। तुम चुपचाप उठकर उसके साथ गाड़ी में आ बैठीं। रास्ते में उसके मुँह से यह भी निकला शायद कि तुम्हें अगर रुपये-पैसे की ज़रूरत है इस वक़्त तो वह...

स्त्री : बस बस बस बस बस बस! जितना सुनना चाहिए था, उससे बहुत ज़्यादा सुन लिया है आपसे मैंने। बेहतर यही है कि अब आप यहाँ से चले जाएँ क्योंकि...

पुरुष-चार : मैं जगमोहन के साथ हुई तुम्हारी बातचीत का सही अन्दाज़ा लगा सकता हूँ, क्योंकि उसकी जगह मैं होता, तो मैं भी तुमसे यही सब कहा होता। वह कल-परसों फिर फ़ोन करने को कहकर तुम्हें घर के बाहर उतार गया। तुम मन में एक घुटन लिए घर में दाखिल हुईं और आते ही तुमने बच्ची को पीट दिया। जाते हुए सामने थी एक पूरी ज़िन्दगी—पर लौटने

तक का कुल हासिल?—उलझे हाथों का गिजगिजा पसीना और... ।

स्त्री : मैंने आपसे कहा है न, बस! सब-के-सब...सब-के-सब! एक-से! बिलकुल एक-से हैं आपलोग! अगल-अलग मुखौटे, पर चेहरा? —चेहरा सबका एक ही!

पुरुष-चार : फिर भी तुम्हें लगता रहा है कि तुम चुनाव कर सकती हो। लेकिन दाएँ से हटकर बाएँ, सामने से हटकर पीछे, इस कोने से हटकर उस कोने में...क्या सचमुच कहीं कोई चुनाव नज़र आया है तुम्हें? बोलो, आया है नज़र कहीं?

कुछ पल ख़ामोशी जिसमें बड़ी लड़की चेहरे से हाथ हटाकर पलकें झपकाती उन दोनों को देखती है। फिर अन्दर के दरवाज़े पर खट्-खट् सुनाई देती है।

छोटी लड़की : *(अन्दर से)* दरवाज़ा खोलो। खोलो दरवाज़ा!

बड़ी लड़की : *(स्त्री)* क्या करना है, ममा? खोलना है दरवाज़ा?

स्त्री : रहने दे अभी।

पुरुष-चार : लेकिन इस तरह बन्द रखोगी, तो...

स्त्री : मैंने पहले भी कहा था, मेरा घर है। मैं बेहतर जानती हूँ।

छोटी लड़की : *(दरवाज़ा खटखटाती)* खोलो! *(हताश होकर)* मत खोलो!

अन्दर से कुंडी लगाने की आवाज़।

अब खुलवा लेना मुझसे भी।

पुरुष-चार : तुम्हारा घर है, तुम बेहतर जानती हो। कम-से-कम मानकर यही चलती हो। इसलिए बहुत-कुछ चाहते हुए भी मुझे अब कुछ भी सम्भव नज़र नहीं आता। और इसीलिए फिर एक बार पूछना चाहता हूँ तुमसे—क्या सचमुच किसी तरह तुम उस आदमी को छुटकारा नहीं दे सकतीं?

स्त्री : आप बार-बार किसलिए कह रहे हैं यह बात?

पुरुष-चार : इसलिए कि आज वह अपने को बिलकुल बेसहारा समझता है। उसके मन में यह विश्वास बिठा दिया है तुमने कि सबकुछ होने पर भी उसके लिए ज़िन्दगी में तुम्हारे सिवा कोई चारा, कोई उपाय नहीं है। और ऐसा क्या इसीलिए नहीं किया तुमने कि ज़िन्दगी में और कुछ हासिल न हो, तो कम-से-कम यह नामुराद मोहरा तो हाथ में बना ही रहे?

स्त्री : क्यों क्यों क्यों आप और-और बात करते जाना चाहते हैं? अभी

आप जाइए और कोशिश करके उसे हमेशा के लिए अपने पास रख रखिए। इस घर में आना और रहना सचमुच हित में नहीं है उसके। और मुझे भी...मुझे भी अपने पास उस मोहरे की बिलकुल-बिलकुल ज़रूरत नहीं है जो न ख़ुद चलता है, न किसी और को चलने देता है।

पुरुष-चार : *(पल-भर चुपचाप उसे देखते रहकर हताश निर्णय के स्वर में)* तो ठीक है वह नहीं आएगा। वह कमज़ोर है, मगर इतना कमज़ोर नहीं है। तुमसे जुड़ा हुआ है, मगर इतना जुड़ा हुआ नहीं है। उतना बेसहारा भी नहीं है जितना वह अपने को समझता है। वह ठीक से देख सके, तो एक पूरी दुनिया है उसके आसपास। मैं कोशिश करूँगा कि वह आँख खोलकर देख सके।

स्त्री : ज़रूर-ज़रूर। इस तरह उसका तो उपकार करेंगे ही आप, मेरा भी इससे बड़ा उपकार ज़िन्दगी में नहीं कर सकेंगे।

पुरुष-चार : तो अब चल रहा हूँ मैं। तुमसे जितनी बात कर सकता था, कर चुका हूँ। और बात अब उसी से जाकर करूँगा। मुझे पता है कि कितना मुश्किल होगा यह...फिर भी यह बात मैं उसके दिमाग़ में बिठाकर रहूँगा इस बार कि...

लड़का बाहर से आता है। चेहरा काफ़ी उतरा हुआ है—जैसे कोई बडी-सी चीज़ कहीं हारकर आया हो।

क्या बात है, अशोक? तू चला क्यों आया वहाँ से?

लड़का बिना उससे आँख मिलाए बड़ी लड़की की तरफ़ बढ़ जाता है।

लड़का : उठ बिन्नी! अन्दर से छड़ी निकाल दे ज़रा।

बड़ी लड़की : *(उठती हुई)* छड़ी! वह किसलिए चाहिए तुझे?

लड़का : डैडी को स्कूटर रिक्शा से उतार लाना है। उनकी तबीयत काफ़ी ख़राब है।

बड़ी लड़की : डैडी लौट आए हैं?

पुरुष-चार : तो...आ ही गया है वह आख़िर?

लड़का : *(उसकी ओर देखकर मुरझाए स्वर में)* हाँ...आ ही गए हैं।

पुरुष-चार के चेहरे पर व्यथा की रेखाएँ उभर आती हैं और उसकी आँखें स्त्री से मिलकर झुक जाती हैं। स्त्री एक कुर्सी की पीठ थामे चुप खड़ी रहती है। शरीर में गति दिखाई देती है, तो सिर्फ़ साँस के आने-जाने की।

(बड़ी लड़की से) जल्दी से निकाल दे छड़ी, क्योंकि...

बड़ी लड़की : *(अन्दर से दरवाज़े की तरफ़ बढ़ती)* अभी दे रही हूँ।

जाकर दरवाज़ा खटखटाती है।

किन्नी! दरवाज़ा खोल जल्दी से।

छोटी लड़की : *(अन्दर से)* नहीं खुलेगा दरवाज़ा।

बड़ी लड़की : तेरी शामत तो नहीं आई है? कह रही हूँ। खोल जल्दी से।

छोटी लड़की : आने दो न शामत। दरवाज़ा नहीं खुलेगा।

बड़ी लड़की : *(ज़ोर से खटखटाती)* किन्नी!

सहसा हाथ रुक जाता है। बाहर से ऐसा शब्द सुनाई देता है, जैसे पाँव फिसल जाने से किसी ने दरवाज़े का सहारा लेकर अपने को बचाया हो।

पुरुष-चार : *(बाहर से दरवाज़े की तरफ़ बढ़ता)* यह कौन फिसला है ड्योढ़ी में?

लड़का : *(उससे आगे जाता)* डैडी ही होंगे। उतरकर चले आए होंगे ऐसे ही। *(दरवाज़े से निकलता)* आराम से डैडी, अराम से।

पुरुष-चार : *(एक नज़र स्त्री पर डालकर दरवाज़े से निकलता)* सँभलकर महेन्द्रनाथ, सँभलकर...

प्रकाश खंडित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक सीमित रह जाता है। स्त्री स्थिर आँखों से बाहर की तरफ़ देखती आहिस्ता से कुर्सी पर बैठ जाती है। बड़ी लड़की एक बार उसकी तरफ़ देखती है, फिर बाहर की तरफ़। हल्का मातमी संगीत उभरता है जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने लगता है। तभी, लगभग अँधेरे में लड़के की बाँह थामे पुरुष-एक की धुँधली आकृति अन्दर आती दिखाई देती है।

लड़का : *(जैसे बैठे गले से)* देखकर डैडी, देखकर...

उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अँधेरा अधिक गहरा होता जाता है।

पैर तले की ज़मीन

पात्र

अब्दुल्ला : बार का काउंटर क्लर्क
नियामत : बार का चपरासी
पंडित : जुआरी, क्लब का सदस्य
झुनझुनवाला : जुआरी, क्लब का सदस्य
नीरा : टेबल टेनिस की अल्पवयस्क खिलाड़ी
रीता : नीरा की सखी
अयूब : एक युवक
सलमा : अयूब की पत्नी

अनुवर्तन एक

परदा उठने पर भटकती रोशनी में बार, लाउंज और लॉन तीनों ख़ाली नज़र आते हैं। जहाँ-तहाँ पड़ी जूठी प्लेटों, ख़ाली और भरे हुए गिलासों तथा बिखरे हुए ताश के पत्तों से लगता है कि लोग अभी-अभी अफरातफरी में वहाँ से उठकर गए हैं। उस बिखराव और ख़ालीपन को रेखांकित करता संगीत, जिसके मद्धिम पड़ने तक टेलीफ़ोन की घंटी बजने लगती है। तीन-चार बार घंटी बज चुकने के बाद अब्दुल्ला हड़बड़ी में स्टोर से निकलकर आता है। अपनी घबराहट में टेलीफ़ोन तक पहुँचने में वह एकाध जगह हल्की ठोकर खा जाता है। इसके रिसीवर उठाने पर टेलीफ़ोन भी गिरने को हो जाता है, पर वह किसी तरह उसे सँभाल लेता है।

अब्दुल्ला : टूरिस्ट क्लब ऑफ इंडिया।...कौन शफ़ी साहब? सलाम साहब।... जी हाँ, भेज दिया है अयूब साहब को।...नहीं, अब कोई नहीं रहा यहाँ। पुल में दरार पड़ने की ख़बर पाते ही सब लोग क्लब ख़ाली कर गए हैं।...हम भी बस चला ही चाहते हैं। स्टोर का सामान मैंने चेक कर लिया है, सिर्फ़ हिसाब की कॉपी चेक करनी रहती है। नियामत जब तक दरवाज़े बन्द करता है, तब तक मैं...क्या? दरार डेढ़ फुट की हो गई है? तब तो...जी मैं डर नहीं रहा। सिर्फ़ इतना बता दीजिए कि दोनों दरियाओं के बीच का फासला... अच्छा...हाँ, हाँ...और पानी का रंग?...नहीं, अभी तक मैं बाहर नहीं निकला।...हौसला न पड़ने की बात नहीं, यहाँ काम ही इतना था कि...वह मैं देख लूँगा। पर आपने बताया नहीं कि पानी का रंग...?

उधर से रिसीवर रख दिया जाता है।

हलो...हलो...हलो...

परेशान-सा पल-भर रिसीवर को देखता रहता है। फिर आसपास के बिखराव पर एक नज़र डालता है। रिसीवर रखते हुए उसे आभास होता है जैसे उसने कोई आवाज़ सुनी हो। वह थोड़ा ठिठकता है, रिसीवर को फिर कान से लगाता है और रख देता है। फिर हल्के सन्देह की दृष्टि से केबिन की तरफ़ देखता हुआ काउंटर पर आ जाता है। वहाँ रुककर भी पल-भर आवाज़ की टोह लेता रहता है। फिर जैसे यह निश्चय करके कि यह सिर्फ़ उसका वहम है, जल्दी-जल्दी काउंटर की दराज़ें खोलने-बन्द करने लगता है!

(दराज़ों में ढूँढ़ता हुआ) अब यह हिसाब की कॉपी कहाँ गई? *(एक दराज़ से कॉपी निकालकर)* रखो कहाँ, मिलती कहाँ से है!

जल्दी-जल्दी कॉपी के पन्ने पलटता हुआ उसमें पेंसिल से निशान लगाने लगता है।

एक और एक दो...दो...दो-दो-दो-दो-दो...दो और तीन पाँच... पाँच-पाँच-पाँच...पाँच और ढाई साढ़े सात। बिक्री साढ़े सात पेग। और बाक़ी...*(एक बोतल उठाकर)* होनी चाहिए छह पेग और है नहीं यह चार पेग भी।

घबराहट में कभी आगे और कभी पीछे की तरफ़ पन्ने पलटता है।

जैसे ख़ुद बोतलें ही पी जाती हैं अपने अन्दर से। या कोई चुपके से इनके लेबल बदल देता है! *(फिर एक बोतल उठाकर)* सोलन का हिसाब...

फिर जैसे आवाज़ सुनकर ठिठकता है और केबिन की तरफ़ देखता है। केबिन के साथ ही खिड़की का दरवाज़ा हवा से चरमराता है, फिर एकाएक बन्द हो जाता है। बोतल उसके हाथ से गिरते-गिरते बचती है। वह उसे काउंटर पर रखकर फिर कॉपी में व्यस्त हो जाता है।

सोलन का हिसाब ब्लैक एंड ह्वाइट से मेल खाता है और ब्लैक एंड ह्वाइट का हिसाब...वह तो मेल खाता ही नहीं। ख़ुदा की भी जैसे अब्दुल्ला से ही दुश्मनी है। जो भी गड़बड़ करनी होती है, मेरी ही कॉपी में करता है। *(पल-भर सोचता रहकर)* मेरा क्या है...मैं यहाँ हिन्दसे बदल देता हूँ। हिन्दसे बदलना कोई बेईमानी

नहीं। बेईमानी हो जो मैंने ख़ुद पी हो और हिसाब न रखा हो। *(बदले हिन्दसों को गौर से देखता हुआ)* मालिक बस कॉपी देखता है। यह नहीं कि दूसरा कितनी जानमारी से काम करता है।...और सब लोग तो जान बचाकर पुल के उस तरफ़ जा पहुँचे हैं और मियाँ अब्दुल्ला अब तक यहाँ बोतलों में शराब नाप रहा है। कॉपी में हिन्दसे ठीक कर रहा है! अगर कहीं...

इस बार केबिन से बहुत साफ़ आवाज़ सुनाई देती है... गिलास से मेज़ पर ठक्-ठक् करने की। उसकी पेन्सिल लिखते-लिखते टूट जाती है।

ओफ्फोह! *(केबिन की तरफ़ देखकर)* तो कम्बख़्त नियामत ले नहीं गया मियाँ अयूब को अब तक यहाँ से? और मैंने शफ़ी साहब से कह दिया है कि...*(काउंटर से आगे आकर ऊँची आवाज़ में)* नियामत!...ओ मियाँ नियामत अली ख़ाँ!

नियामत चाबियों का गुच्छा हाथ में लिए सामने की तरफ़ से आता है।

नियामत : आहिस्ता! तुझसे कितनी बार कहा है इस तरह मत चिल्लाया कर!

अब्दुल्ला : मैंने तुझसे क्या कहा था? अगर तुझसे नहीं हो सकता था वह काम, तो तू मुझसे साफ़ कह देता।

नियामत : तुझे एक चीज़ का पता है?

अब्दुल्ला : किस चीज़ का पता?

नियामत : कि तू, जिसका नाम अब्दुल्ला है, दुनिया में अपनी तरह का एक आदमी है?

अब्दुल्ला : मैं कहता हूँ...

नियामत : एक ही आदमी जो बोलता भी ज़बान से है और सोचता भी ज़बान से है।

अब्दुल्ला : देख...

नियामत : वह जो होती है न छोटी-सी चीज़...दिमाग़ नाम की...वह चीज़ खुदा ने तुझे दी ही नहीं।

अब्दुल्ला : हाँ, एक तुझी को तो दी है ख़ुदा ने वह चीज़!

नियामत : अगर ज़रा-सी भी दे देता न तुझे...बस इतनी ज़रा-सी ..

अब्दुल्ला : मैं तुझसे पूछ रहा हूँ कि...*(बात न याद आने से)* वह क्या था जो मैं तुझसे पूछ रहा था अभी?

नियामत : अभी तू सिर्फ़ चिल्ला रहा था। पूछना अभी बाक़ी था।...

अब्दुल्ला : *(याद करने की कोशिश में)* मैं वहाँ से यहाँ आया था...क्यों आया था? तुझे मैंने आवाज़ दी थी...किसलिए दी थी?

नियामत : *(चलने को होकर)* मैं दरवाज़े बन्द कर रहा हूँ। तू सोच ले तब तक, किसलिए दी थी।

अब्दुल्ला : रुक-रुक-रुक-रुक-रुक। *(दिमाग़ पर ज़ोर डालता हुआ)* वहाँ से यहाँ आया, यहाँ आकर आवाज़ दी...आवाज़ इसलिए दी कि कि कि...तू हमेशा यही करता है। कोई न कोई उल्टी बात छेड़कर मुझे असली बात भुला देता है।

नियामत : असली बात तेरे लिए होती ही वह है जो तुझे भूल जाती है। जो याद रह जाए, वह सिर्फ़ बात होती है, असली बात नहीं।

चल देता है।

अब्दुल्ला : *(उतावली में)* ए ए ए...अब चल कहाँ दिया तू?

नियामत रुककर गहरी नज़र से उसे देखता है।

अच्छा हाँ...दरवाज़े बन्द करने...पर देख...*(थूक निगलकर)* मैं कह रहा था कि...कि हम लोग साथ ही चलेंगे बाहर। कहीं ऐसा न हो कि...कि तुझे याद न रहे और...मेरा मतलब है कि तू...तू दरवाज़े बन्द करके उधर से ही चला जाए और...और...

नियामत : और तू अन्दर बन्द होकर शराब की बोतलें सूँघता रह जाए। चु-चु-चु-चु-चु-चु-चु!

अब्दुल्ला : मेरा यह मतलब नहीं है...

नियामत : तेरा यह मतलब नहीं है...मगर इसके सिवा कुछ और मतलब भी नहीं है...मतलब-मतलब तो तेरा कुछ है ही नहीं।

अब्दुल्ला : मैं तुझसे सिर्फ़ इतना कह रहा था कि...

नियामत : ज़रा कोशिश कर सोचने की...कि जब तक एक भी आदमी क्लब के अन्दर है, मैं यहाँ से कैसे जा सकता हूँ? बड़े साहब के सामने जवाबदेही किसकी है—मेरी या किसी और की?

अब्दुल्ला : तू और तेरा बड़ा साहब। जो भी झूठ-सच उससे कह देता है, उसी पर वह सिर हिला देता है।

नियामत : हाँऽऽऽ हिला देता है सिर! बार का ठेकेदार मुहम्मद शफ़ी है न वह, जो कॉपी में गलत हिन्दसे देखकर भी चुप रह जाए।

अब्दुल्ला : देख...अगर तेरा मतलब है कि...?

नियामत : ...उसका नाम है सोमनाथ। टूरिस्ट अफसर सोमनाथ। छड़ी और

टोपी में से एक चीज़ हर वक़्त अपने साथ रखता है। रात को सोते वक़्त भी।

केबिन से फिर ठक्-ठक् की आवाज़ सुनाई देती है—पहले से ऊँची। अब्दुल्ला एक बार केबिन की तरफ़ देखकर फिर पलभर सीधी नज़र से नियामत को देखता रहता है।

अब्दुल्ला : अब आया याद तुझे?

नियामत : यानी कि जो तुझे भूल गया था, वह मुझे याद आना था। ख़ूब।

अब्दुल्ला : मैंने कहा नहीं था तुझसे कि मियाँ अयूब को जल्दी से बाहर पहुँचा दे, शफ़ी साहब नाराज़ हो रहे हैं।

नियामत : शफ़ी साहब नाराज़ हो रहे हैं।...यहाँ तो कम्बख़्त को ढोकर ले जाने में कन्धे टूटने को आ गए और शफ़ी साहब हैं कि नाराज़ ही हुए जा रहे हैं।

अब्दुल्ला : *(असमंजस में केबिन की तरफ़ देखता हुआ)* तो तेरा मतलब है कि तू...मियाँ अयूब को सचमुच पार छोड़ आया है...

नियामत : नाम मत ले उस आदमी का। पी-पीकर इस तरह धुत हो रहे थे जनाब कि ठीक दरार पार करते वक़्त कन्धे से लुढ़क गए।

अब्दुल्ला : लुढ़क गए?

नियामत : और क्या? दरिया की तरफ़ लुढ़क गए।

अब्दुल्ला : *(आतंकित)* यानी कि...लुढ़क ही गए?

नियामत : मैं वक़्त से सँभाल नहीं लेता, तो अब तक सात टुकड़ों में बँटकर पानी में सात मील निकल गए होते।

अब्दुल्ला : *(आश्वस्त)* कह रहा है लुढ़क गए। जब सँभाल लिया, तो लुढ़क कैसे गए? लुढ़क जाने का मतलब तो होता है कि...

केबिन में ज़ोर की ठक्-ठक्। साथ गिलास टूटने की आवाज़।

...तू मियाँ अयूब को अगर छोड़ आया है बाहर, तो यहाँ केबिन में यह कौन आदमी है?

नियामत : केबिन में एक नहीं, दो आदमी हैं।

अब्दुल्ला : दो आदमी?

नियामत : पंडित और झुनझुनवाला।

अब्दुल्ला : *(पस्त)* ये दोनों यहीं हैं अब तक?

नियामत : ताश खेल रहे हैं।

फिर चलने लगता है।

अब्दुल्ला : ठहर-ठहर-ठहर। *(उसके काफ़ी नज़दीक आकर धीमे स्वर में)* बता ये इत्ती बड़ी-बड़ी लाशें...उन्हें साथ लेकर पुल कैसे पार करेंगे?

नियामत : चलकर...उड़कर...नहीं तो डुबकी लगाकर। आ गया समझ में? मैं जब तक दरवाज़े बन्द करता हूँ, तब तक तू इन्हें साथ लेकर...

अब्दुल्ला : *(जैसे कोई अनहोनी बात कह दी गई हो)* मैं इन्हें साथ लेकर? *(काउंटर पर लौटता हुआ)* न-न-न-न-न-न-न-न-न। मुझे अभी बहुत काम है यहाँ।

जल्दी-जल्दी अपनी चीज़ें सँभालने लगता है।

मैं इन्हें साथ लेकर! हंः।

केबिन से पंडित की आवाज़ :

पंडित : यहाँ...किसी को...सुनता नहीं क्या? मुझे चाहिए...एक ब्लैक एंड ह्वाइट...बड़ा।

नियामत : तो?

अब्दुल्ला : *(बाँह खुजलाता हुआ)* सवाल यह है कि...

नियामत : कि पैदायशी बुज़दिल...इतना बड़ा होकर भी बुज़दिल बना रहे...तो सिवा खरगोश के...उसे क्या कहा जा सकता है?— बस यही एक सवाल है। इतना ज़रा-सा।

जाकर केबिन का परदा हटा देता है। पंडित और झुनझुनवाला रमी के पत्ते हाथों में लिए आमने-सामने की कुर्सियों पर बैठे हैं। पंडित की शेरवानी और कमीज़ के आधे बटन खुले हैं जिससे उसकी बनियान और काले डोरे का तावीज़ बाहर नज़र आ रहे हैं। चेहरे से लगातार हारने वाले आदमी की परेशानी झलकती है। झुनझुनवाला उस आदमी के अन्दाज़ से, जो मुस्कराने से लेकर जुआ खेलने तक हर काम नाप-तोल के साथ करता है, कुर्सी की पीठ से टेक लगाए पंडित के पत्ता चलने की राह देख रहा है। आँखों में जीतने वाले आदमी का आत्मविश्वास है।

पंडित : *(पत्तों की जोड़-तोड़ करता हुआ, बिना नियामत की तरफ़ देखे)* सुन गया अब तुम्हें?...एक ब्लैक एंड व्हाइट। बड़ा।

एक पत्ता चलता है, जिसे उठाकर झुनझुनवाला अपने पत्ते खोल देता है।

झुनझुनवाला : डिक्लेयर।

पंडित : *(कुछ खीझ के साथ अपने नम्बर गिनता हुआ)* दस सात सत्रह दस सत्ताईस...सत्ताईस और पन्द्रह बयालिस। *(पत्ते खोलता हुआ, नियामत की तरफ़ देखकर)* नहीं सुना अब भी?

नियामत : माफ़ कीजिए, साहब। बार बन्द हो गया है।

पंडित : बन्द हो गया है?...क्यों?

नियामत : क्योंकि...

पंडित : मुझे एक ही और चाहिए। आख़िरी।

अब्दुल्ला भी अब काउंटर से हटकर वहाँ आ जाता है।

अब्दुल्ला : आख़िरी पेग अब पुल के उस तरफ़ चलकर मिलेगा, साहब!

पंडित : क्यों?...उस तरफ़ चलकर क्यों मिलेगा?

अब्दुल्ला : क्योंकि पुल टूट गया है?

पंडित : क्या कहा?...पुल टूट गया है?

झुनझुनवाला : *(काग़ज़ पर हिसाब जोड़ता हुआ)* बयालीस और एक सौ तीस पहले के...एक सौ बहत्तर। *(हल्की हँसी के साथ)* कहता है पुल टूट गया है और आख़िरी पेग मिलेगा पुल के उस तरफ़ चलकर।...एक सौ बहत्तर के सत्रह बीस और दो सौ अस्सी कल तक के। कुल दो सौ सत्तानबे बीस।

अब्दुल्ला : आपने शोर नहीं सुना था?

पंडित : सुना तो था कुछ शोर मगर...

झुनझुनवाला : उससे क्या होता है? शोर तो यहाँ होता ही रहता है। कभी इस चीज़ का, कभी उस चीज़ का।...दो अस्सी कम तीन सौ।

नियामत : वह शोर इसी चीज़ का था। सब लोग पाँच मिनट में क्लब ख़ाली करके चले गए थे, सिवाय...

अब्दुल्ला : मियाँ अयूब के...और आप लोगों के। मियाँ अयूब का तो ख़ैर मुझे पता था, पर आप लोगों का...

नियामत : ये लोग पहले टैरेस पर थे। मैं टैरेस पर पहुँचा, तो यह लॉन में थे। मैं लॉन में आया, तो ये...

पंडित : हम हवा की वजह से जगह बदल रहे थे। वहाँ पत्ते उड़ जाते थे। मगर...पुल क्या सचमुच टूट गया है?

झुनझुनवाला : कुछ और वजह होगी...पुल कैसे टूट सकता है? अगर टूट ही गया होता सचमुच, तो लोग यहाँ से कैसे जाते?

नियामत : पुल दरअसल अभी टूटा नहीं...

अब्दुल्ला : मगर टूटने वाला है।

नियामत : उसमें एक जगह दरार पड़ गई है...

अब्दुल्ला : ...डेढ़ फुट बड़ी।

नियामत : *(अब्दुल्ला से)* दरार अब तक दो फुट से भी बड़ी हो चुकी है।

अब्दुल्ला : *(थूक निगलकर)* दो फुट से भी बड़ी?

नियामत : यह भी तब की बात है जब मैं अयूब साहब को छोड़कर उधर से आया था। *(पंडित से)* इसलिए सारा क्लब ख़ाली करा लिया गया है। इस वक़्त सिर्फ़ हमीं चार आदमी हैं यहाँ।

तभी मंच के बाहर बाईं तरफ़ से टेबल-टेनिस खेलने की आवाज़ सुनाई देने लगती है।

अब्दुल्ला : *(स्तब्ध)* और ये कौन लोग हैं उधर...टेबल-टेनिस रूम में?

नियामत : कौन लोग हो सकते हैं? मैंने अभी थोड़ी देर पहले एक-एक कमरा देख लिया था।

अब्दुल्ला : देख लिया था, तो ये खेल कौन रहे हैं उधर? हम लोगों के साये?

नियामत गहरी नज़र से अब्दुल्ला को देखकर उधर को चल देता है। पंडित अपनी शेरवानी के बटन बन्द करने लगता है। झुनझुनवाला मेज़ से काग़ज़-ताश समेटता है। अब्दुल्ला काउंटर पर आकर अलमारी में ताला लगाने की कोशिश करता है पर बदहवासी में वह उससे लग नहीं पाता।

पंडित : *(उठता हुआ)* अगर चलते-चलते एक मिल जाता न आख़िरी...

टेबिल-टेनिस की आवाज़ रुक जाती है। नियामत बाहर निकलनें लगता है कि उधर से तेज़ी से आती नीरा उससे टकरा जाती है। उसका रैकेट हाथ से छूटकर परे जा गिरता है।

नीरा : दिखता नहीं कोई सामने से आ रहा है?

झुनझुनवाला : *(एक काग़ज़ पर रकम लिखकर पंडित की तरफ़ बढ़ाता हुआ)* दो सौ सत्तानबे रुपए बीस पैसे।

पंडित : दो सौ कितने...?

फिर बैठकर काग़ज़ चेक करने लगता है। झुनझुनवाला सिगरेट सुलगा लेता है। नीरा रैकेट उठाकर उसी तेज़ी के साथ काउंटर के पास आ जाती है।

नीरा : *(रैकेट काउंटर पर पटककर)* एक गिलास पानी।

अब्दुल्ला : तू इस वक़्त यहाँ क्या कर रही है?

नीरा : तुझसे पानी का गिलास माँग रही हूँ...क्या कर रही है?

अब्दुल्ला : उधर और कौन था तेरे साथ टेबिल-टेनिस रूम में?

नीरा : था नहीं, थीं। रीता। गुड्डो दीदी।

अब्दुल्ला : *(शब्द चबाकर)* गुड्डो दीदी! *(नियामत को काउंटर की तरफ़ आते देखकर)* तू इधर क्या चला आ रहा है अब? जाकर ले आ न उसे जल्दी से...इसकी गुड्डो दीदी को। रीता...गुड्डो दीदी।

नीरा : गुड्डो दीदी वहाँ नहीं हैं अब।

अब्दुल्ला : वहाँ नहीं हैं अब? तो वहाँ से वह...

नीरा : उधर गई हैं स्वीमिंग पूल पर।

नियामत : *(पास आकर)* स्वीमिंग पूल पर? पर स्वीमिंग पूल का गेट तो मैं आजकल खोलता ही नहीं।

नीरा : तभी तो रोज़ दोपहर को हम नहा लेती हैं वहाँ...टूटी दीवार फाँदकर। *(अब्दुल्ला से)* तुझसे मैंने पानी का गिलास माँगा था?

नियामत : तुम लोग रोज़ दोपहर को नहाती हो वहाँ?

नीरा : रोज़।

नियामत : तो मैं कल से...

अब्दुल्ला : हाँ, कल तक यहीं न बैठे रहना है तुझे। अब जाकर लाना नहीं है उसे...इसकी गुड्डो दीदी को...स्वीमिंग पूल से?

नीरा : वह ख़ुद ही आ जाएगी अभी। गीले कपड़े बदलने गई है वहाँ।

अब्दुल्ला : तो अब तक क्या वह गीले कपड़ों में ही...

नीरा : तुझे मतलब? तू मुझे पानी का गिलास क्यों नहीं देता?

अब्दुल्ला : पानी-वानी का गिलास नहीं मिल सकता इस वक़्त।

नीरा : पानी का गिलास नहीं मिल सकता?

नीरा पल-भर अब्दुल्ला को देखती रहती है, फिर नियामत की तरफ़ देखती है, फिर गिलास ख़ुद ही खोजने लगती है।

पंडित : सुना झुनझुनवाला...पुल टूट गया है। *(हल्की हँसी के साथ)* तब तो मौका इधर बैठकर पीने का है। नहीं?

अब्दुल्ला इस बीच ताले को ठोंक-पीटकर बन्द करने की कोशिश करता है, पर वह बन्द नहीं होता, तो उसे लटकता छोड़कर काउंटर से आगे आ जाता है।

अब्दुल्ला : मौका तो है साहब, पर पीने को कुछ नहीं है। बार बन्द हो चुका है। आपको जो कुछ चाहिए, वह अब उधर चलकर ही मिल सकता है।

पंडित : मौका इधर बैठकर पीने का है, और जो कुछ पीना हो, वह उधर चलकर ही मिल सकता है। इधर बार बन्द हो चुका है, उधर पुल टूट गया है। वाह!

अखबार समेटकर शेरवानी के बटन बन्द करता हुआ केबिन से बाहर आ जाता है।

पर अभी बार बन्द कहाँ हुआ है? ताला तो ऐसे ही लटक रहा है।

नियामत : वह इस आदमी की बदहवासी की वजह से है। ऐसे वक़्त इसके होश-हवास ठीक काम नहीं करते।

अब्दुल्ला खिसियाने ढंग से मुस्कराकर अपनी उँगलियाँ चटकाने लगता है।

झुनझुनवाला : होश-हवास तो इसके किसी भी वक़्त ठीक काम नहीं करते—ख़ास तौर से जब इसे घर से चिट्ठी आई हो। क्यों अब्दुल्ला?

अब्दुल्ला पहले से ज़्यादा खिसियाना होकर अपने हाथों को देखता रहता है।

कितने दिन का हो गया अब तेरा लड़का? चार दिन का कि पाँच दिन का?

अब्दुल्ला : चार दिन का ही समझिए अभी। आज रात को पूरे पाँच दिन का होगा।

पंडित : कितनी बीवियों के बाद यह पहला लड़का हुआ है? तीन बीवियों के बाद चौथी बीवी से न?

अब्दुल्ला : *(एकाएक)* ठहरो...

उसके स्वर की आकस्मिकता से पल-भर सब लोग स्तब्ध हो रहते हैं।

कुछ हो रहा है।

नियामत : तेरा मतलब है कि...

अब्दुल्ला : तुझे नहीं सुन रहा?

नियामत : *(पल-भर सुनता रहता है)* हाँ। लगता यही है।

पंडित : सचमुच?

नियामत : लगता यही है।

झुनझुनवाला : तो क्या इतनी जल्दी...

अब्दुल्ला : मैं कब से कह रहा था।

पल-भर सब लोग ख़ामोश रहते हैं। दूर से सुनाई देती हिलती चूलों की आवाज़ अधिक स्पष्ट होती जाती है। नीरा अचकचायी-सी एक से दूसरे की तरफ़ देखती रहती है।

नियामत : बात क्या है? यह आवाज़...

पुल की कुछ कड़ियों के एक-साथ टूटने की आवाज़। इसके बाद, अनुवर्तन के अन्त तक, बीच-बीच में एक-एक कड़ी के टूटने और पानी में बह जाने की आवाज़ सुनाई देती रहती है। रीता चेहरा हाथों से ढके घबराई और हाँफती हुई लॉन की तरफ़ से आती है।

रीता : ओह! ओह! ओह!

नीरा : गुड्डो दीदी!

दौड़कर उसकी तरफ़ आती है, पर रीता उसके पास से गुजरकर आगे आ जाती है। पंडित और झुनझुनवाला केबिन से उठ आते हैं। नीरा, जैसे कुछ भी समझ पाने में असमर्थ भौंचक्की-सी उन सबके बीच लौट आती है।

रीता : ओह!

हाथ हटाकर उन सबको देखती है और एक बार सिहरकर चेहरा फिर हाथों से ढक लेती है।

नीरा : *(बाँह खींचकर उसका हाथ चेहरे से हटाती हुई)* क्या बात है, गुड्डो दीदी? बतातीं क्यों नहीं?

रीता : *(किसी तरह बात कह सकने की कोशिश में)* वही आदमी... और उसके साथ वह औरत...

अब्दुल्ला : क्या?

नियामत : कौन आदमी?...कौन औरत?

पंडित : क्या हुआ उनका?

झुनझुनवाला : कहाँ पर?

रीता : वहीं...वे दोनों थे वहाँ पर।

अब्दुल्ला : वहाँ...पुल पर? कौन?

रीता सिर हिलाती है।

रीता : वे दोनों थे वहाँ पर...मैं स्वीमिंग पूल से लौट रही थी।

अब्दुल्ला : लेकिन कौन?

पंडित : आदमी कौन था?

रीता : वही...वह मिस्टर शफ़ी का दोस्त...

अब्दुल्ला : मिस्टर अयूब?

चुभती नज़र से नियामत को देखता है।

नियामत : वह नहीं हो सकता। उसे तो मैं बहुत पहले उस पार छोड़ आया था।

रीता : हाँ, वही। और उसके साथ वह औरत...

अब्दुल्ला : उसके साथ औरत?

झुनझुनवाला : बात तो सुनने दो।

रीता : हाँ, एक औरत...

पंडित : औरत!

झुनझुनवाला : उसके साथ?

नियामत : पर हुआ क्या उनका?

रीता : वे दोनों थे वहाँ पुल पर...जब पुल एकाएक हिलने लगा...बुरी तरह हिलने लगा...मैं स्वीमिंग पूल से लौट रही थी...

नीरा : पुल हिलने लगा?

रीता : और जब पुल टूटा...

नीरा : पुल टूट गया?

रीता : पूरा नहीं, पर किसी वक़्त पूरा टूट सकता है।

नीरा : ज़रा देखें...

रीता को लिए-लिए उसी ओर जाती है, जिधर से रीता आई थी।

पंडित : तब तो ज़रूर डर की बात है। क्यों अब्दुल्ला! कम से कम तेरे लिए तो है ही। क्योंकि किसी भी वक़्त पुल पूरा टूट सकता है।

अब्दुल्ला : क्यों, सिर्फ़ मेरे लिए क्यों?

पंडित : क्योंकि तुझे अपने लड़के को देखने जाना है। यहाँ तो न कोई देखने को है, न दिखाने को। उस पार पहुँच गए, तो वहाँ पड़े रहेंगे। न पहुँचे, तो यहाँ भी कुछ बुरा नहीं है। अच्छा-ख़ासा बार है। अगर ज़्यादा नहीं, तो दस-बीस दिन बैठकर पीने का सामान तो मिल ही जाएगा।

अब्दुल्ला : *(अलमारी पर नज़र डालकर)* दस-बीस दिन? नहीं, सामान तो

यहाँ इतना है कि...*(सहसा रुककर)* पर मैं भी क्या बात सोचने लगा? दस-बीस दिन हम लोग यहाँ थोड़े ही न पड़े रहेंगे? हाँ, इस बात का अफसोस ज़रूर है कि इतना सामान जो हम लोगों ने अभी-अभी मँगवाया था—यह सोचकर कि सीज़न में काफ़ी बिक्री होगी—वह सब ज्यों का त्यों पड़ा रहेगा। न जाने कितने दिन। शफ़ी साहब का यह पहला साल है ठेके का, और अगर इसी साल उन्हें घाटा उठाना पड़ा, तो... तो अगले साल फिर अपने पर वही बेकारी आ जाएगी। चार साल बेकार रहने के बाद इस साल शफ़ी साहब की मेहरबानी से यह नौकरी मिली थी—अब आगे इसका भी पता नहीं कि रहेगी या नहीं।

पंडित : तेरी एक बड़ी खूबी है अब्दुल्ला कि तू दूर की बात पहले सोचता है, और नज़दीक की बाद में।

झुनझुनवाला : बल्कि कहना चाहिए कि नज़दीक की बात तो ये कभी सोचता नहीं। क्यों अब्दुल्ला, पुल के दो तख्ते निकल गए तो तुझे पूरा पुल टूटता नज़र आने लगा। एक दिन के लिए बार बन्द हो गया, तो उससे शफ़ी को घाटा भी पड़ गया, और तुझे अगले साल की बेकारी भी सूझने लगी।

अब्दुल्ला : मेरा दिल कमज़ोर है, इसलिए हाथ की मेहनत नहीं कर सकता साहब। जो कुछ आसरा है, वह सब नौकरी का ही है—और वह भी बारमैन की। ज़िन्दगी में और कोई काम, कोई हुनर नहीं सीखा—पच्चीस साल से बस यही काम करता आ रहा हूँ। एक बार पहले भी इसी क्लब में बारमैन था, जब इसी तरह बाढ़ आई थी। उस साल जो कुछ यहाँ हुआ, वह अगर आपको बताने लगूँ, तो...

नियामत : तुझे वह क़िस्सा फिर से शुरू करना है, तो मैं बाहर से ताला लगाकर जा रहा हूँ। तू यहाँ इत्मीनान से बैठकर क़िस्सा सुना। साथ इन्हें ब्लैक एंड व्हाइट की बोतल भी खोल दे।

अब्दुल्ला : ब्लैक एंड व्हाइट की बोतल! हंह! पहले ही मेरा ब्लैक एंड व्हाइट का हिसाब मेल नहीं खा रहा। अभी जाकर शफ़ी साहब को आज का हिसाब दूँगा, तो इसकी डाँट और खानी पड़ेगी।...ठहर, हिसाब की कॉपी मैंने यहीं दराज़ में डाल दी है। वह तो मुझे साथ ले जानी चाहिए।

जल्दी से आकर दराज़ खोलता है।

यह रही कॉपी, और यह...*(अचानक पंडित की तरफ़ देखकर)* अरे! आपके बिल का पेमेन्ट तो अभी हुआ ही नहीं।

स्वेटर की ज़ेब टटोलकर उसमें से एक बिल निकालता है।

यह आपका बिल है—तेरह रुपए कुछ पैसे का।

नियामत बिल उससे लेकर पंडित को देता है।

नियामत : बिल तेरह रुपए कुछ पैसे का नहीं, सत्रह रुपए कुछ पैसे का है।

अब्दुल्ला : सत्रह या तेरह जितने का भी है, जल्दी से इसका पेमेन्ट कर दें। *(कॉपी निकालकर उसमें काट-छाँट करता हुआ)* मैं भी कहूँ कि हिसाब में इतना फ़र्क़ कैसे पड़ रहा है।

पंडित : *(बिल लेकर)* फर्ज़ कर इस वक़्त इतने पैसे मेरी ज़ेब में न हों।

अब्दुल्ला : आपकी ज़ेब में, और पैसे न हों...यह कैसे हो सकता है?

पंडित : जब और इतना कुछ हो सकता है, एक अच्छा-ख़ासा पुल टूट सकता है, तो यही क्यों नहीं हो सकता?

नियामत : *(चिढ़कर अब्दुल्ला से)* अब खामख़ाह वक़्त क्यों बरबाद कर रहा है? बिल का पेमेंट बाद में नहीं हो सकता? उधर पहुँचकर नहीं हो सकता?

पंडित : क्यों...हो सकता है न उधर पहुँचकर? तो बस अभी चल रहे हैं...एक मिनट में।

शेरवानी की सलवटें निकालता हुआ बरामदे की तरफ़ चल देता है।

नियामत : देखिए मिस्टर पंडित...

पंडित : कहा है न अभी एक मिनट में चल रहे हैं। बस अब आ ही रहे हैं ज़रा उधर गुसलखाने तक होकर। आओ झुनझुनवाला, तुम भी हल्के हो लो...

हल्के से मुस्कराकर दोनों की तरफ़ देखता है और झुनझुनवाला के साथ बरामदे के बाईं तरफ़ से निकल जाता है।

नियामत : बस अब आ ही रहे हैं ज़रा उधर गुसलखाने तक होकर! जैसे यही गुसलखाना एक गुसलखाना है, और गुसलखाना मिलेगा इन्हें कहीं पर? *(अब्दुल्ला की तरफ़ देखकर)* और तुझे क्या काठ मार गया है, इस तरह खड़ा है जैसे किसी ने जिस्म से सारी हवा निकाल दी हो।

अब्दुल्ला : मैं सोच रहा हूँ कि...

नियामत : सोच रहा है कि लड़के को देखने किस दिन पहुँच सकेगा? एक तू ही तो है जिसके लड़का हुआ है। और लोगों के भला लड़के-बच्चे होते हैं?

अब्दुल्ला : नहीं, मैं इस वक़्त लड़के की बात नहीं सोच रहा...केश की बात सोच रहा हूँ।

नियामत : इस बिल का पेमेन्ट अभी नहीं हुआ, बस इसी से मरा जा रहा है?

अब्दुल्ला : नहीं, इसके पेमेंट की बात नहीं है...बात यह है कि जो बिल मैंने इसे दिया है, वह मुझे लगता है कि इसका बिल नहीं है। इसका बिल यह है...*(स्वेटर की दूसरी ज़ेब से एक और बिल निकालकर)* तेरह रुपए सत्रह पैसे का। अभी यहाँ खड़े-खड़े मुझे याद आया कि तेरह रुपए सत्रह पैसे का बिल मैंने अपनी बाईं ज़ेब में डाला था, दाईं ज़ेब में नहीं। अब मुझे यह समझ नहीं आ रहा कि जो दाईं ज़ेब से निकला है, वह किसका बिल है।

नियामत : तेरे साथ हमेशा यही होता है, यह कोई आज नई बात नहीं है। हर बार तनख़्वाह कटने की नौबत आती है, हर बार वास्ते देकर माफियाँ माँगता है, पर हाल तेरा फिर भी वही का वही रहता है। अभी परसों जो घपला किया था, उसी की वजह से तो शफ़ी साहब ने तुझे श्रीनगर जाने की छुट्टी नहीं दी।

इसी बीच नीरा और रीता बाहर से आती हैं, अपने बीच कुछ बातें करती हुईं।

अब्दुल्ला : पर बता, अब मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? बोतलों का हिसाब ठीक रखता हूँ, तो किसी न किसी बिल में गड़बड़ हो जाती है। बिलों का हिसाब ठीक रखता हूँ, तो बोतलों की नाप-जोख़ में फ़र्क़ पड़ जाता है। *(दराज़ से एक पोस्टकार्ड निकालकर)* इन्हीं सब उलझनों में घर से आई चिट्ठी का जवाब भी अब तक नहीं दे पाया। वे लोग वहाँ न जाने क्या सोच रहे होंगे! कि कैसा आदमी है–ख़ुशख़बरी पाकर मिलने आना तो दूर, चिट्ठी की पहुँच तक का पता इससे नहीं दिया गया।

नीरा : अब इसे घर की याद सताने लगी! तू पानी का गिलास देगा या नहीं? कब से माँग रही हूँ।

अब्दुल्ला : अब कुछ नहीं मिलेगा। गिलास भी अलमारी में बन्द किए जा चुके हैं।

नियामत : *(पास आकर)* तू इससे झकझक करना बाद में, पहले मुझे कोहली साहब का नम्बर माँग दे।

नीरा : क्यों...डैडी का नम्बर तुझे किसलिए चाहिए? उनसे तुझे क्या बात करनी है?

नियामत : मुझे उनसे कहना है कि वे ख़ुद यहाँ तशरीफ ले आएँ, और तुझे आकर यहाँ से ले जाएँ।

नीरा : क्यों, डैडी क्यों मुझे आकर ले जाएँ? मैं जब अपने पैरों चलकर यहाँ आ सकती हूँ, तो उसी तरह चलकर यहाँ से जा नहीं सकती? सुन रहा है अब्दुल्ला...गिलास निकालकर पानी दे।

पंडित इस बीच आता है और लाउंज की एक कुर्सी पर पसरकर अपना अखबार खोल लेता है। फिर ज़ेब से सिगरेट केस निकालकर देखता है कि उसमें कोई भी सिगरेट नहीं है। झुनझुनवाला भी आता है और दूसरी आरामकुर्सी पर पैर फैलाकर लेट-सा जाता है, बेख़बर-सा, जैसे उसे नींद आ रही हो।

पंडित : अब्दुल्ला, गिलास निकालने के लिए अलमारी खोले, तो उसमें से मेरे लिए गोल्ड फ्लैक का एक पैकेट भी निकाल लेना। बड़ा वाला।

अब्दुल्ला : *(थोड़ा झुँझलाकर)* मैंने आपसे कह नहीं दिया मिस्टर पंडित, कि आपको जो कुछ भी चाहिए, वह अब उधर चलकर ही मिल सकता है। छोटावाला हो या बड़ावाला।

पंडित : अच्छा रहने दो। नाराज़ क्यों होता है?

माचिस की तीलियाँ जलाता-बुझाता हुआ अखबार पढ़ने लगता है।

अब्दुल्ला : *(अब्दुल्ला का हाथ अलमारी की तरफ़ चला जाता है।)* इसे इस वक़्त पानी के गिलास की पड़ी है, जबकि इतने लोग यहाँ सिर्फ़ इसी की वजह से अटके हुए हैं।

पंडित : अब्दुल्ला, अगर गिलास निकाले, तो पैकेट भी ज़रूर निकाल लेना, हाँ।

नियामत : *(अब्दुल्ला से)* दे इसे पानी का गिलास, नहीं तो बाद में यह प्यासी ही दरिया में गोते खाती नज़र आएगी। मैं तब तक पुल की तरफ़ देख आऊँ...वह अयूब साहब...

फिर बरामदे की तरफ़ चल देता है। अब्दुल्ला त्योरी के साथ अलमारी खोलकर उसमें से गिलास निकालता है, और पानी भरकर उसे गुस्से से काउंटर पर रखता है।

अब्दुल्ला : यह ले पानी...

पंडित : *(अखबार से सिर उठाकर)* अब्दुल्ला, सिगरेट का पैकेट।

अब्दुल्ला : ओह! सिगरेट का पैकेट!

फिर से अलमारी खोलकर उसमें से पैकेट निकाल लेता है।

यह रहा आपका पैकेट। पर इसके पैसे...

पंडित : पैसे तुझे बिल के साथ ही वसूल हो जाएँगे। जहाँ सत्रह रुपए कुछ पैसे हैं, वहाँ साथ ढाई रुपए और जोड़ लेना।

अब्दुल्ला : *(कुछ हड़बड़ाहट के साथ ज़ेबें और दराज़ टटोलता हुआ)* बिल के साथ...पर हाँ...देखिए बात यह है कि...वह जो बिल है न... *(दूसरा बिल निकालकर देखता है, पर कुछ सोचकर उसे फिर ज़ेब में रख लेता है)* ख़ैर, यह बात इस वक़्त नहीं, बाद में करने की है। ये पैसे अगर आप...ख़ैर मैं इन्हें बिल में ही जोड़ देता हूँ।

बिल फिर से निकालकर उस पर पेन्सिल से लिखने लगता है।

पंडित : *(उठकर उसकी तरफ़ आता हुआ)* बिल तो तेरा मेरे पास है। यह तू किसके बिल में पैसे जोड़ रहा है?

अब्दुल्ला : मैंने आपसे कहा है न...यह बात मैं आपसे बाद में करूँगा। अभी, बाहर चलकर। इस वक़्त पहले मैं...

नीरा इस बीच दोनों को देखती रहती है। फिर अचानक वहाँ से चल देती है।

नीरा : अरे दीदी, उन लोगों का क्या हुआ? वे लोग अब तक इधर आए नहीं...

अब्दुल्ला : ओ लड़कियो! तुम यहीं रहो, तुम अब कहाँ जा रही हो?

नीरा : अभी आ रहे हैं। आओ दीदी...कहीं वे बह तो नहीं गए।

पंडित पैकेट खोलकर सिगरेट सुलगा लेता है। एक क्षण गुड्डो को गौर से जाते देखता है। नीरा और रीता (गुड्डो) चली जाती हैं।

पंडित : यह बड़ी वाली लड़की वही गुड्डो है न...वह लड़की...?

अब्दुल्ला : *(अलमारी बन्द करके ताला लगाता हुआ)* कौन लड़की? *(ताला*

अचानक बन्द हो जाने से), लो अब देखो कैसे अपने-आप ही लग गया!

पंडित : *(कश खींचकर)* वही–मिस रीता दीवान–जिसने, सुना है कल तुम्हारे उस आदमी को पीटने में कसर नहीं उठा रखी थी–क्या नाम है उसका–वह अभी जो पुल पार करके किसी और के साथ आया है?

अब्दुल्ला : पीटता होगा, मुझे कुछ मालूम नहीं।

पंडित : तुझे सब मालूम है। शफ़ी ने मुझे ख़ुद बताया था कि तू इस बात से इतना घबरा गया था कि तेरे हाथ से ब्रांडी की बोतल गिरते-गिरते मुश्किल से सँभली थी।

अब्दुल्ला : शफ़ी साहब की बस यही आदत मुझे पसन्द नहीं। मुझे तो मना कर देंगे कि किसी से बात न करूँ, और ख़ुद हर एक से बात करते फिरेंगे। मुझसे उन्होंने कसम खिलाकर कहा था कि...

पंडित : यह बात किसी से नहीं कहनी है, यही न? मुझसे भी उसने कसम खिलाकर यही कहा था। वह बता रहा था कि उस आदमी ने–उसका नाम क्या है? मैं भूल रहा हूँ...

अब्दुल्ला : मुहम्मद अयूब। अयूब साहब।

पंडित : हाँ, कि अयूब ने गुसलखाने से बाहर गुड्डो का हाथ पकड़ लिया और कहा कि...

अब्दुल्ला इशारे से उसे बात करने से रोकता है। नीरा पहले ही की तरह जल्दी से बरामदे से आती है।

नीरा : *(आती हुई)* मेरा रैकेट यहाँ तो नहीं रहा है? हाँ, यहीं तो है।

रैकेट उठाकर फिर चलने को होती है।

अब्दुल्ला : नीरा!

नीरा : *(रुककर)* क्या बात है?

अब्दुल्ला : तुझसे कह दिया है न कि अब तुझे उधर नहीं जाना है? अपनी गुड्डो दीदी को भी ले आ। सब लोग अभी बाहर चल रहे हैं। आज के लिए क्लब बन्द हो गया है।

नीरा : बन्द कैसे हो गया है? क्लब कभी इस वक़्त भी बन्द होता है?

अब्दुल्ला : ऐसे बात कर रही है जैसे तुझे कुछ मालूम ही नहीं...कुछ सुना ही नहीं...वह भी नहीं सुना जो तेरी गुड्डो दीदी ख़ुद कह रही थी...हद है! यह इतनी बेफिक्र बन रही है! अयूब साहब और औरत कहाँ हैं?

नीरा : वहीं बाहर होंगे...मैंने नहीं देखा...

अब्दुल्ला : पुल पूरा टूट गया है क्या? तूने पुल तो देखा? नहीं?

नीरा : टूट भी गया हो तो इसमें इतना घबराने की क्या बात है? अरे डेढ़-दो फुट की दरार पड़ी है...बस, चार-पाँच फुट तक तो आदमी कूदकर ही पार कर सकता है।

पंडित : पर यह आदमी पार नहीं कर सकता। इसका नाम अब्दुल्ला है। यह दुनिया का सबसे बुज़दिल आदमी है।

अब्दुल्ला : आप लड़की से मज़ाक कर रहे हैं, मिस्टर पंडित। यह वक़्त मज़ाक करने का नहीं है।

पंडित : तू बुज़दिल आदमी है, यह तेरे ख़याल में मज़ाक की बात है? *(नीरा से)*, अच्छा, तुम बताओ बेटे, यह आदमी चेहरे से ही बुज़दिल नज़र नहीं आता?

अब्दुल्ला : यह बहुत बुरी बात है, मिस्टर पंडित! इस तरह एक बच्चे के सामने आप...

नीरा : बच्चे के सामने से तुम्हारा मतलब? बच्चा यहाँ कौन है? मैं? मैं बच्चा नहीं हूँ।

अब्दुल्ला : नहीं, तू बच्चा नहीं है, मैं बच्चा हूँ। यह तो ठीक है?

नीरा : मुझसे इस तरह बात करने की ज़रूरत नहीं।...तू बच्चा नहीं, मैं बच्चा हूँ! तेरा ख़याल है मैं हर तरह की बात समझती नहीं?

अब्दुल्ला : *(हल्की हँसी के साथ)* तू सब तरह की बात समझती है। मैंने कहा है कि तू नहीं समझती? *(पुचकारने के स्वर में)* अच्छा, तो अब अच्छी लड़की बनकर यहीं खड़ी रह, तेरी गुड्डो दीदी भी घूम-फिरकर यहीं आ जाएगी, इस वक़्त अकेले और जाएगी कहाँ?

नीरा : *(फिर वहाँ से चलती हुई)* मैं अच्छी लड़की नहीं हूँ...सुन लिया तूने? मैं बिल्कुल भी अच्छी लड़की नहीं हूँ।...अच्छी लड़की बनकर यहीं खड़ी रह...क्यों खड़ी रहूँ मैं?

बरामदे में पहुँचकर फिर एक बार मुड़कर उसकी तरफ़ देखती है।

देख लिया कितनी अच्छी लड़की हूँ मैं?

बाईं तरफ़ से चली जाती है। अब्दुल्ला मुँह में कुछ बड़बड़ाता हुआ काउंटर से आगे आने लगता है कि तभी टेलीफ़ोन की घंटी बज उठती है। घंटी सुनकर झुनझुनवाला

भी नींद से जैसे जागता है, और झोंक में उठकर फिर बाथरूम की ओर चला जाता है।

अब्दुल्ला : *(जाकर रिसीवर उठाता हुआ)* यह पाँचवीं दफ़ा शफ़ी साहब का फ़ोन आया है। *(रिसीवर में)* हलो...शफ़ी साहब?...क्या?...कौन? ...मिसेज़ हल्दवानी?...यहाँ की मेम्बरशिप फीस?...आज यहाँ की मेम्बरशिप फीस कुछ नहीं है।...मैं कौन हूँ?...मैं कोई नहीं हूँ... जी? मैं क्लब में कुछ भी काम नहीं करता, आप कल फ़ोन कीजिएगा। *(झटके से रिसीवर रखकर)* कहती है बम्बई से आई हूँ, मेम्बर बनना चाहती हूँ। बस आज ही तो एक दिन है जिस दिन इसे मेम्बर बनना है।

टेलीफ़ोन से हटकर आते हुए एकाएक जैसे कुछ सुनने के लिए रुक जाता है।

यह आवाज़ पहले से ऊँची नहीं हो गई?

पंडित : कौन-सी आवाज़?

अब्दुल्ला : दरिया के पानी की।

पंडित : तेरे वहम का भी कोई इलाज नहीं। अब और कुछ नहीं, तो दरिया की आवाज़ ही तुझे ऊँची सुनाई देने लगी।

अब्दुल्ला : वहम की बात नहीं है, आप ज़रा ठीक से सुनिए। मुझे लगता है कि दोनों दरियाओं में पानी बढ़ रहा है। मैं दोनों की आवाज़ें अलग-अलग सुन सकता हूँ। *(लॉन के पार टैरेस की तरफ़ इशारा करके)* यह लिद्दर की आवाज़ है, और...*(खिड़की की तरफ़ इशारा करके)* यह आवाज़ शेषनाग की है। मैं इन आवाज़ों से अच्छी तरह वाक़िफ़ हूँ क्योंकि...क्योंकि... आपको पता है मुझे दिल का दौरा कब से पड़ना शुरू हुआ है?

पंडित : मेरा तो ख़याल है कि पैदा होने के दिन से पड़ना शुरू हो गया होगा।

अब्दुल्ला : नहीं साहब, मुझे दौरा पड़ना शुरू हुआ है तब से जब पहले भी इसी तरह एक बार बाढ़ में यहाँ फँस गया था। तब क्लब का ठेका एक किश्तवारी के पास था, और मैं इसी तरह यहाँ बारमैन था। बाढ़ में क्लब के अन्दर चार आदमी फँसे रह गए थे– ठेकेदार, मैं और दो बैरे। इधर से लिद्दर का पानी यहाँ बरामदे तक आ गया था, और उधर से शेषनाग के पानी ने आधी गैलरी तोड़ी दी थी। हम लोगों ने रसद का सामान साथ लेकर पूरी रात

तब इस हॉल की छत पर काटी थी। पानी जिस तरह बढ़ रहा था उससे लगता था कि घंटे दो घंटे के अन्दर वह हमारे सिरों के ऊपर से होकर बहने लगेगा। उफ़! वह रात और उसके बाद आज की शाम—मुझसे तब से इस छत की तरफ़ आँख उठाकर देखा भी नहीं जाता। मुझे दिल का पहला दौरा उसी रात छत पर लेटे-लेटे पड़ा था।

पंडित : ख़ैर, आज तुझे दिल का दौरा नहीं पड़ेगा, क्योंकि उससे पहले ही हम लोग तुझे लेकर क्लब से बाहर पहुँच जाएँगे।

अब्दुल्ला : वह तो ठीक है साहब, मगर कहने की बात सिर्फ़ इतनी है कि...

नियामत घबराया हुआ बरामदे की तरफ़ से आता है।

नियामत : *(पास आकर अब्दुल्ला से)* पता है अब और क्या हुआ है?

अब्दुल्ला : क्या हुआ है?

नियामत : बस कुछ पूछ नहीं।

दाईं तरफ़ गैलरी के दरवाज़े से जाने लगता है।

अब्दुल्ला : *(घबराए हुए स्वर में)* आख़िर कुछ बताइएगा भी कि क्या हुआ है।

नियामत : *(जाते-जाते)* अयूब साहब सचमुच फिर पुल पार करके अन्दर चले आए हैं—अपनी बेग़म को साथ लेकर! मैं तो मज़ाक समझ रहा था...पुल के पार छोड़कर आया था उन्हें...

अब्दुल्ला : अपनी बेग़म को साथ लेकर! उनकी बेग़म इस वक़्त यहाँ क्या करने आई हैं? सच-सच बता...

नियामत : यकीन नहीं है तो ख़ुद आकर देख ले...गुड्डो ठीक कह रही थी...वह आ गया है। मैं उधर, उस तरफ़ भी देख लूँ...क्या हाल है। शायद दरार...अब निकलना मुश्किल होगा।

परेशान-सा चला जाता है।

पंडित : इसका मतलब है कि पुल से आने-जाने में कोई ख़ास दिक़्क़त नहीं है।

अब्दुल्ला : हम यहाँ से उस पार जाएँगे या उस पार से आनेवालों के लिए यहाँ रुकेंगे? यह भी कोई बात हुई! हम उधर जाने की तैयारी में हैं, लोग इधर आ रहे हैं!

पंडित : लेकिन हम लोग चलेंगे तो तभी न, जब वे दोनों लड़कियाँ आ जाएँगी, अयूब साहब और उनकी बेग़म आ जाएँगी...और जब नियामत आकर तुझे उधर की ख़बर देगा? तब तक तू जल्दी से मुझे एक पैग डाल दे।

अब्दुल्ला : ठहरिए...ज़रा गौर से सुनिए। सुन रहे हैं?

पंडित : क्या?

अब्दुल्ला : वही दरिया की आवाज़। ऐसा नहीं लगता जैसे कोई बड़े-बड़े पत्थरों को पहाड़ से नीचे ढकेल रहा हो?

पंडित : मुझे ऐसा कुछ नहीं लग रहा। पानी की आवाज़ है—वैसी ही जैसी हमेशा सुनाई देती है।

अब्दुल्ला : हमेशा यह आवाज़ ऐसी सुनाई देती है?

पंडित : दरियाओं में पानी ज़्यादा होने से कुछ ऊँची सुनाई देती होगी—बस इतना ही फ़र्क़ है।

अब्दुल्ला : इतना ही फ़र्क़ है? पर आप शायद इस फ़र्क़ को नहीं समझ सकते। आपने वह रात मेरी तरह यहाँ काटी होती, तो आप भी इस फ़र्क़ को समझ सकते थे। मुझे लगता है कि अब और यहाँ रुकना खतरे से ख़ाली नहीं है।

पंडित : तो तू चाहता क्या है? तू अभी कहे, अभी यहाँ से चल दें।

अब्दुल्ला : चल तो दें...पर वे दोनों लड़कियाँ? और वो अयूब साहब और उनकी बेग़म। इन सबको छोड़कर कैसे जाया जा सकता है? आप थोड़ी देर यहीं ठहरें, मैं अभी सबको जमा करके लाता हूँ? *(चलते-चलते)* पर आप तब तक यहीं ठहरेंगे। कहीं जाएँगे नहीं...मैं अभी आ रहा हूँ—बाहर सब लोग साथ-साथ चलेंगे। ठीक है न?

पंडित : हाँ, ठीक है। मैं तेरे आने तक यहीं हूँ—तू फिक्र मत कर।

अब्दुल्ला बरामदे में पहुँचकर फिर एक बार पीछे की तरफ़ देख लेता है।

अब्दुल्ला : बस, मैं अभी आ ही रहा हूँ।

बाईं तरफ़ से चला जाता है। पंडित अपना छोड़ा हुआ अखबार फिर से उठाकर काउंटर पर कुहनी रखे उसमें से समाचार पढ़ने लगता है :

पंडित : आदमी अन्तरिक्ष में...एक सौ नब्बे घंटे पचपन मिनट! अन्तरिक्ष में आदमी की उड़ान के चार नए रिकार्ड।...चढ़ती कीमतों को नीचे लाना असम्भव। वित्त मन्त्री की नई कर-योजना।...उत्तर प्रदेश के वैधानिक संकट के सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नहीं।...दो-दो रुपए के ऩए नोट...चीफ कमिश्नर का बयान—नल के पानी के कीड़े नुकसानदेह नहीं।

इस बीच पीछे लॉन में अयूब की दुबली-सी आकृति नज़र आती है। जमा-जमाकर पैर रखता हुआ बरामदा पार करके वह हॉल में आता है। वह चौबीस-पच्चीस साल का नवयुवक है—चेहरे की हड्डियाँ निकली हुई हैं। गहरे रंग का सूट पहने है। टाई और कालर मुचड़ रहे हैं। हाय में व्हिस्की का आधा ख़ाली गिलास है जिसमें से वह अन्दर आकर एक हल्का-सा घूँट भरता है। बात करते हुए हर वक़्त उसकी आवाज़ से नशे का असर झलकता है।

अयूब : *(पंडित के पास पहुँचकर)* क्या कह रहे हो...क्या नुकसानदेह नहीं?

पंडित चौंककर उसकी तरफ़ देखता है और अखबार तह करने लगता है।

पंडित : नल के पानी के कीड़े। चीफ कमिश्नर का यह कहना है।

अयूब : बेचारा चीफ कमिश्नर! और बेचारे कीड़े! *(एक और घूँट भरकर)* अब्दुल्ला यहाँ नहीं है?

पंडित : यहीं है, अभी आ रहा है।...तो नियामत आपको नहीं मिला...

अयूब : यह मैं कैसे कह सकता हूँ कि वह मुझे नहीं मिला। या मिला था तो कब मिला था...मिलना होगा तो फिर मिल जाएगा... और एक बात और। मेरा ख़याल है, मैं उम्र में तुमसे काफ़ी छोटा हूँ।

पंडित : हो सकता है। कम-से-कम देखने में तो ऐसा ही लगता है।

अयूब : तो आप-वाप मत करो। आज तक किसी ने मुझे आप करके नहीं बुलाया। सिवाय नौकरों के। सुनने में अजीब-सा लगता है।

पंडित : तो तुम...तुम्हें कुछ देर पहले नियामत पुल के पार छोड़कर आया था और तुम अभी-अभी फिर पुल पार करके अन्दर आए हो?

अयूब : अभी-अभी नहीं। थोड़ी देर पहले। यही दस-बीस मिनट। एक आदमी को यहाँ देखना था। डॉक्टर को।

पंडित : डॉक्टर को देखना था? इस वक़्त? यहाँ?

अयूब : और नहीं तो मैं लौटकर क्यों आता? उसी को देखने के लिए आधे क्लब का चक्कर लगा आया हूँ। इधर के सब टैरेस, सब कोर्ट, मैंने देख लिए हैं। पर वह नहीं मिला। मिला सिर्फ़ यह व्हिस्की का गिलास—आधा पिया हुआ।

गिलास में से फिर घूँट भर लेता है।

पंडित : पर डॉक्टर तो शायद यहाँ चार-पाँच बजे के बाद से आया ही नहीं। कम-से-कम मैंने उसे नहीं देखा।

अयूब : यही नियामत भी कहता था–कि वह नहीं आया। पर मैंने सोचा कि अब आए ही हैं, तो एक बार देख तो लेना ही चाहिए। पर डॉक्टर तो डॉक्टर, और भी कोई आदमज़ाद कहीं आसपास नज़र नहीं आया। नज़र आए कुछ ताश के बिखरे हुए पत्ते, कुछ मूँगफली के छिलके, कुछ चूरा हुए वेफर्ज़, कुछ मसली हुई प्लास्टिक की थैलियाँ, और यह गिलास। इनके अलावा एक फिसले हुए पाँव का निशान है, और एक सैंडल का बायाँ पैर। आदमी सच कितने डरपोक होते हैं! नहीं?

पंडित : नियामत कह रहा था कि कोई और भी शायद तुम्हारे साथ पुल पार करके आया है।

अयूब : आया है? आया नहीं, आई है। और आने-आने में ही अभी दरिया में गिर गई होती।

पंडित : दरिया में गिर गई होती? पर कौन थी वह जो...?

अयूब : थी नहीं, है। वह मेरी बीवी है सलमा...आज मुझे यहीं उसे डॉक्टर से मिलाना था।

पंडित : पर अगर टूटा पुल पार करने में सचमुच खतरा था, तो ऐसे में उसे पार कराना...यह बहुत ज़रूरी था क्या?

अयूब : खतरा-अतरा कुछ नहीं था। मैं एक छलाँग में उस तरफ़ से इस तरफ़ आ गया था। पर बेग़म बेचारी डर रही थी, इसलिए ऐसा हुआ। कहा न, डॉक्टर से उसे मिलाना था।

पंडित : डॉक्टर से मिलाना था! कुछ तबियत ख़राब है?

अयूब : नहीं, कुछ रिश्ते ख़राब हैं। मेरे और मेरी बीवी के...हमें कुछ गहरी बातें डॉक्टर से करनी थीं। डॉक्टर मेरी बीवी का बचपन का दोस्त है...अब समझे कुछ तुम?

पंडित : शायद नहीं।

अयूब : समझने की ज़रूरत भी नहीं होनी चाहिए। मियाँ-बीवी के रिश्ते में किसी तीसरे को पड़ना भी नहीं चाहिए...

पंडित : लेकिन तुम तो ख़ुद डॉक्टर को बीच में डाल रहे हो। डॉक्टर को सिर्फ़ तुम्हारी बेग़म जानती हैं या तुम भी...

अयूब : *(घूँट भरकर)* जानने और जानने में भी फ़र्क़ होता है। नहीं? डॉक्टर को जितना मेरी बीवी जानती है उतना शायद यहाँ और

कोई नहीं जानता। यों डॉक्टर और मैं हम दोनों एक मोहल्ले में रहे हैं, एक कॉलेज में पढ़े हैं और एक ही...ख़ैर छोड़ो। यह मसला तुम्हारी समझ में नहीं आएगा...आना भी नहीं चाहिए...

अब्दुल्ला बड़बड़ाता हुआ बरामदे से आता है, और सीधा टेलीफ़ोन की तरफ़ बढ़ता है। पंडित उसे देखकर अपनी बात बीच में ही छोड़ देता है।

अब्दुल्ला : किसी को किसी चीज़ की फिक्र नहीं। अपनी जान की भी फिक्र नहीं। अब उनमें से एक का तो पता ही नहीं चल रहा है। न वह कार्ड रूम में है, न टेबल-टेनिस रूम में, और न ही स्विमिंग पूल पर। कब से कह रहा हूँ कि यह वक़्त किसी तरह जान बचाकर यहाँ से निकल चलने का है। पर कोई सुनता ही नहीं।

अयूब : क्यों अब्दुल्ला क्या बात है? इतना परेशान क्यों हो रहा है?

अब्दुल्ला : *(अचकचाकर)* आप...आप साहब? तो उस वक़्त नियामत आपको पुल के पार छोड़कर नहीं आया था? आप फिर...

अयूब : वह मुझे छोड़ आया था। पर एक बार पार जाकर आदमी फिर वापस नहीं आ सकता क्या?

अब्दुल्ला : जी हाँ, वापस आने के लिए इससे अच्छा वक़्त और कौन-सा हो सकता था! *(जाकर रिसीवर उठाने लगता है, रिसीवर उठाकर)* हलो एक्सचेंज—मुझे थ्री टू वन चाहिए—हलो-हलो-हलो—थ्री, टू वन नहीं, थ्री वन टू चाहिए—थ्री वन टू रुका हुआ है! *(रिसीवर रखकर)* अब यह नम्बर ही नहीं मिलने का।

पंडित : तू किसे फ़ोन कर रहा था?

अब्दुल्ला : शफ़ी साहब को, और किसे करूँगा?

पंडित : नम्बर मिल जाय, तो ज़रा मुझे भी देना। मुझे भी उससे एक बात करनी है।

अब्दुल्ला : आपको भी इसी वक़्त बात करनी है! इसके बाद भला कभी बात करने का वक़्त मिलेगा?

अयूब : मियाँ अब्दुल्ला, तू ख़फा किस बात पर हो रहा है? वैसे जब तू ख़फा होता है, तो तेरे चेहरे पर अजब-सी रौनक आ जाती है। और जब वह रौनक आ जाती है, तो तू ख़फा नहीं जान पड़ता। ख़ैर, शफ़ी से पूछ लेना कि अगर डॉक्टर वहाँ उसके पास हो, तो एक बात उसे बता दे। कह दे कि हम दोनों यहाँ पहुँच गए हैं, और उसका इन्तज़ार कर रहे हैं।

अब्दुल्ला : कह दूँ कि आप और आपकी बेग़म यहाँ डॉक्टर का इन्तज़ार कर रहे हैं? और इस तरह डॉक्टर को और यहाँ बुला लूँ?

अयूब : डॉक्टर को हमने यहाँ मिलने का वक़्त दे रखा था। और हमारा मिलना बहुत ज़रूरी है...क्योंकि बेग़म नीम-बेहोश-सी बाहर पोर्टिको में पड़ी हैं...

अब्दुल्ला : *(टेलीफ़ोन के पास से हटकर आता हुआ)* बेग़म नीम बेहोश-सी बाहर पोर्टिको में पड़ी हैं? और यह बात आप इतने इत्मीनान से मुझे बता रहे हैं?

अयूब : इस तरह घबराने की ज़रूरत नहीं। बाहर नियामत उसकी देखभाल कर रहा है।

अब्दुल्ला : यह बात आपको पहले ही मुझे नहीं बतानी चाहिए थी?

अयूब : पहले कब? तुझे देखने से भी पहले?

अब्दुल्ला : मिस्टर पंडित, आप ज़रा टेलीफ़ोन का ख्यान रखें। हो सकता है शफ़ी साहब का, या मिस्टर सोमनाथ का कोई फ़ोन आए। मैं तब तक ज़रा बाहर देखकर आता हूँ।

दाईं तरफ़ से चला जाता है।

अयूब : *(पंडित से)* एक सिगरेट दोगे?

पंडित सिगरेट का पैकेट उसकी तरफ़ बढ़ा देता है। अयूब एक सिगरेट लेकर सुलगाने की कोशिश करता है, पर दो-तीन तीलियाँ जला चुकने पर भी सिगरेट सुलगने में नहीं आती।

अयूब : *(हाथ की तीली तोड़कर)* या तो तीलियों में आग नहीं रही, या शायद अपने में ही खींचने का दम नहीं रहा।

पंडित : *(अपना सिगरेट सुलगाने की कोशिश करता हुआ)* हवा में नमी बढ़ जाने से हमेशा यही होता है। कई-कई तीलियाँ बेकार चली जाती हैं, और मुँह से एक कश धुआँ नहीं निकलता।... तुम्हारा ख़याल है, तुम्हारी बीवी की तबियत कुछ ज़्यादा ख़राब है?

अयूब : लो, इस बार सुलग गया। हमेशा तभी सुलगता है जब आदमी हिम्मत हारने लगता है।...तुम कुछ कह रहे थे?

पंडित : मैं तुम्हारी बीवी के बारे में पूछ रहा था—कि क्या उनकी तबियत ज़्यादा ख़राब है?

अयूब : उसकी तबियत उतनी ख़राब नहीं है जितना वह डर गई है। डर गई है क्योंकि उसका पाँव फिसल गया था। अगर किसी तरह सँभल न जाती, तो हो सकता था कि...

पंडित : हाँ, तुमने बताया था कि वह दरिया में गिरते-गिरते बची हैं।

अयूब : अब मैं सोच सकता हूँ कि वह क्यों इतना डर गई है। वह डॉक्टर को शायद फेस नहीं करना चाहती।

पंडित : फेस नहीं करना चाहती?

अयूब : इस बात को छोड़ो। क्या तुम सोच सकते हो कि मियाँ-बीवी के रिश्तों के बीच अगर कोई छाया भी आ जाए, तो क्या से क्या हो सकता है...गलत मत समझना...मेरी बीवी की ज़िन्दगी में और कोई नहीं है, पर मेरे लिए वह कब्रिस्तान बन गई है...औरत कब्रिस्तान क्यों बन जाती है?

पंडित : क्यों बन जाती है! शायद उसके भीतर कुछ मर जाता है...

अयूब : लेकिन क्यों मर जाता है!

पंडित : इसके लिए हर आदमी की अपनी अलग वजह हो सकती है। उसकी अपनी वजह होगी।

अयूब : हाँ, वह तो होगी ही।...शफ़ी बता रहा था कि कलकत्ते में तुम्हारा ऊन का कारखाना है?

पंडित : हाँ, है तो सही। पर उसका इस बात से क्या ताल्लुक है?

अयूब : ताल्लुक यह है कि तुम सिर्फ़ ऊन का काम कर सकते हो। आदमी के अकेले रहने की बात नहीं समझ सकते।...हर आदमी की अपनी अलग वजह हो सकती है, पर हर आदमी के उस वजह तक पहुँचने की भी तो कोई वजह होती है।

पंडित : हूँ।...कौन कह रहा था कि कल आते हुए तुम्हारी कार की कहीं टक्कर-अक्कर हुई थी?

अयूब : टक्कर नहीं हुई थी। सड़क टूटी थी, इसलिए गाड़ी धचका खाकर एक पत्थर से जा टकराई थी। क्यों?

पंडित : और, कि घर में सख़्त लड़ाई-झगड़ा हुआ था, इसीलिए तुम गाड़ी लेकर आधी रात को श्रीनगर से निकल पड़े थे?

अयूब : तो इसका मतलब है कि शफ़ी तुम्हें ये सब बातें बताता रहा है। वह सचमुच बहुत डरपोक आदमी है।

पंडित : डरपोक क्यों?

अयूब : सिर्फ़ डरपोक आदमी ही इस तरह हर बात के लिए गवाह

जुटाता रहता है। वह डरपोक न होता तो तुम्हें मेरे बारे में और मुझे तुम्हारे बारे में इतनी बातें न बताता। *(गिलास पंडित की तरफ़ बढ़ाकर)* तुम लोगे थोड़ी-सी?

पंडित : नहीं, अभी नहीं।

अयूब : ओ! तुम शायद जूटी शराब पीना पसन्द नहीं करते।...तुम मेरे घर के लड़ाई-झगड़े का ज़िक्र क्यों कर रहे थे?

पंडित : इसलिए कि तुमने ख़ुद इसका ज़िक्र मुझसे किया था...तुम अपनी बीवी की बात मुझसे कर रहे थे...नहीं?

अयूब : मैं अपनी बीवी की बात तुमसे कर रहा था...कौन-सी बात?

पंडित : यही—औरत के कब्रिस्तान बन जाने की बात...शफ़ी यह भी कह रहा था कि उसे डर है कि कहीं...

अयूब : कि कहीं मेरी बीवी ख़ुदकुशी न कर बैठे? *(हँसकर)* यह बात उसने एक बार हौले से मुझसे कही थी। तब मुझे लगा था कि यह वह इसलिए कह रहा है कि शायद मेरी बीवी को मुझसे पिंड छुड़ाने का यही एक रास्ता नज़र आता है। लेकिन शफ़ी मेरा दोस्त है, और भला आदमी भी है। इसलिए उसने बहुत हौले से यह बात मुझसे कही थी...मेरे साथ दोस्ती निभाने के साथ-साथ वह अपनी भलमनसाहत को भी खतरे में नहीं डालना चाहता। *(एक घूँट में गिलास ख़ाली करके)* और वह जानता है कि मैं भला आदमी नहीं हूँ।

गिलास को काउंटर पर लुढ़का देता है जिससे वह काउंटर के अन्दर की तरफ़ गिरकर टूट जाता है।

पर तुम जो बात कह रहे थे, मैं उसी को लेकर पूछता हूँ...यह नहीं हो सकता कि आदमी शिद्दत से सोचने का आदी हो, इसलिए उसका घर में लड़ाई-झगड़ा हो? इसीलिए वह सामने के गड्ढे को न देख सके, और उसकी गाड़ी एक पत्थर से जा टकराए?

पंडित : और उसका हाथ एक गिलास को भी ठीक से न रख सके, जिससे वह दूसरी तरफ़ गिरकर टूट जाए।

अयूब : मैं गिलास की कीमत अदा कर सकता हूँ, उसकी तुम फिक्र मत करो।

पल-भर ख़ामोश रहकर कश खींचता रहता है। फिर लाउंज में तिपाई की तरफ़ जाकर उस पर रखी ऐश-ट्रे में अपना सिगरेट बुझा देता है।

तुम एक काम कर सकते हो?

पंडित : बताओ।

अयूब : खिड़की से यह देख सकते हो—कि वह अब तक यहीं है या ये लोग उसे बाहर छोड़ आए हैं?

पंडित : किसे—तुम्हारी बीवी को?

अयूब : हाँ, उसी को।

पंडित : तुम ख़ुद खिड़की तक जाकर क्यों नहीं देखना चाहते?

अयूब : यह मैं भी नहीं जानता कि मैं ख़ुद जाकर क्यों नहीं देखना चाहता।

पंडित : यह इसलिए तो नहीं कि तुम मन में कहीं अपने को गुनहगार महसूस करते हो?

अयूब : गुनहगार? किस चीज़ का गुनहगार?

पंडित : उसे साथ लाने का।

अयूब : मैं नहीं जानता। लेकिन मुझे अफसोस ज़रूर है। अगर डॉक्टर उसे यहाँ मिल जाता, तो मुझे अफसोस न होता। पर अब मुझे लगता है कि...

अब्दुल्ला पहले से भी घबराया हुआ दाईं तरफ़ से आता है, और सीधा काउंटर की तरफ़ जाने लगता है।

अब्दुल्ला : मैं ही हूँ जो हर एक की बात सुन लेता हूँ। पर मेरी बात, मेरी बात कोई नहीं सुनता। कोई तब तक नहीं सुनने का जब तक कि पानी सिर से ही *(ज़बान काटकर)* एक तो मेरी यह काली ज़बान नहीं रहती। कितना अपने को टोकूँ कि ऐसी बात मुँह से न निकालूँ, पर बात निकलेगी, तो बस ऐसी ही।

पंडित : ध्यान से जाना, उधर काँच के टुकड़े बिखरे हैं।

अब्दुल्ला : *(अलमारी की तरफ़ देखकर)* काँच के टुकड़े? काँच के टुकड़े उधर कैसे बिखर गए?

पंडित : कैसे भी बिखर गए—तू पाँव सँभालकर रखना। पहने भी तू यह घिसी चप्पल है जिसमें जाने कितने सूराख हैं।

अब्दुल्ला पैर सँभालता हुआ काउंटर के पीछे जाकर जल्दी से अलमारी खोलता है, और उसमें से ब्रांडी की बोतल और एक गिलास निकालता है।

अब्दुल्ला : कहा नहीं था मैंने आपसे कि पानी की आवाज़ तेज़ होती जा रही है? पर आपका ख़याल था कि यह मेरा वहम है—मेरे कान अपने अन्दर से ही ऐसी आवाज़ सुन रहे हैं। अब चलकर देख

लीजिए न कि दोनों दरिया आपस में मिल रहे हैं! या नहीं—यह आवाज़ रोज़ इस तरह सुनाई देती है?

गिलास में थोड़ी-सी ब्रांडी डालता है। फिर उसमें से थोड़ी वापस बोतल में डालता है।

पंडित : यह ब्रांडी किसके लिए ले जा रहा है?

अब्दुल्ला : अयूब साहब की बेग़म के लिए।

पंडित : उनकी तबियत सचमुच ज़्यादा ख़राब है क्या?

अब्दुल्ला : *(गिलास लिए काउंटर से आगे आता हुआ)* इसका मुझे पता नहीं। यह बात या तो अल्लाह मियाँ जानता है, या नियामत मियाँ। एक तरफ़ मुझसे कह रहा है कि जल्दी से उनके लिए ब्रांडी ले आ और दूसरी तरफ़ कह रहा है कि...

सिर हिलाकर चुप कर जाता है।

पंडित : क्यों, चुप क्यों कर गया?

अब्दुल्ला : क्योंकि दूसरी तरफ़ के बाद एक तीसरी तरफ़ भी है, और तीसरी तरफ़ का ख़याल रखना सबसे ज़रूरी है।

दाईं तरफ़ से जाने लगता है। दाईं तरफ़ से चला जाता है। अयूब इस बीच लाउंज के सोफे पर आ बैठता है। पंडित काउंटर के पास स्टूल पर बैठकर पलभर ब्रांडी की खुली बोतल को हल्के-हल्के हिलाता रहता है।

पंडित : *(अयूब से)* तुम अपनी बीवी को देखने नहीं जाओगे? सोच क्या रहे हो?

अयूब : *(सिर उठाकर)* मैं!...मैं कुछ भी नहीं सोच रहा।

पंडित : तुम बाहर जाकर उसे देखना भी नहीं चाहते?

अयूब : नहीं, अभी नहीं।...देखो, तुम यहाँ से डॉक्टर को फ़ोन कर सकते हो?

पंडित : *(दूसरा सिगरेट सुलगाता हुआ)* पर डॉक्टर की डिस्पेंसरी में तो फ़ोन है ही नहीं। न ही उसके क्वार्टर में है।

अयूब : और कहीं फ़ोन कर सकते हो?

पंडित : यह तुम खामख़ाह की बात नहीं सोच रहे?

अयूब : हाँ, है तो खामख़ाह की बात।...पर मुश्किल यह है...कि आदमी ज़्यादातर...खामख़ाह की बातें ही सोचता है। फ़र्क़ इतना है...कि मैं अपनी तरह से सोचता हूँ...तुम अपनी तरह से सोचते हो...और जो समझता है कि वह नहीं सोचता...वह खामख़ाह अपने को धोखा देता है।

पंडित : *(बोतल हाथ में लेकर)* यह कौन-सा लेबल है? एक्शा नम्बर वन! बहुत गर्म ब्रांडी होती है। नहीं?

अयूब : हाँ, बहुत गर्म होती है...अगर आदमी पी ले, तब। तुम्हारा मन है...तो क्यों नहीं थोड़ी-सी गिलास में डाल लेते?

पंडित : वह आदमी यहाँ नहीं है...अब्दुल्ला। वह यहाँ होता, तो...

अयूब : *(हल्के-से हँसकर)* यह भी खामख़ाह की बात नहीं है? *(उठकर उधर आता हुआ)* लाओ, मैं तुम्हें डाल देता हूँ।

वह अभी काउंटर के पास नहीं पहुँचता कि टेलीफ़ोन की घंटी बज उठती है। पंडित जाकर रिसीवर उठाता है। अयूब तब तक जाकर उसकी जगह स्टूल पर बैठ जाता है और बोतल हाथ में लेता है।

पंडित : *(रिसीवर में)* हलो...कौन बोल रहा है?...शफ़ी? मिस्टर सोमनाथ? ...हाँ-हाँ, यहीं है...ज़रा बाहर गया है।...वह और अब्दुल्ला दोनों हाल में नहीं हैं।...मैं पंडित बोल रहा हूँ...बस शुक्रिया...जी नहीं, तीन-चार और लोग भी हैं...हाँ, वह भी यहीं हैं...बस अब चलने को ही है...ज़रा इसलिए रुक गए थे कि...मिस्टर अयूब डॉक्टर को खोज रहे थे। मैं फ़ोन करने ही वाला था...हाँ अगर किसी तरह आप डॉक्टर को ख़बर भिजवा दें...क्या...हाँ...क्या? सेफ नहीं है?...किसने, एक्स. ई. एन. ने कहा है?...कि कोई भी पुल पर न जाए? तो कब तक इन लोगों को यहाँ...? आप फिर फ़ोन करेंगे? कितनी देर में?...हाँ, मैं ख़याल रखूँगा। आप ज़रा जल्दी ही पता दें।...नहीं-नहीं-नहीं, मेरे यहाँ रहते आपको फिक्र करने की ज़रूरत नहीं।...हाँ, ठीक है। ठीक है।...ठीक है। अच्छा। *(रिसीवर रखकर)* इन लोगों ने पुल पर से जाने की मनाही कर दी है।

अयूब : राख झाड़ दो...नहीं तो कपड़ों पर गिर जाएगी।

पंडित हाथ के सिगरेट को देखता है। पर उसकी लम्बी राख झाड़ने से पहले ही उसकी शेरवानी पर गिर जाती है।

देखा...गिर गई न!

पंडित : *(शेरवानी से राख झाड़ता हुआ)* तुम क्या समझते हो...डेढ़-दो घंटे में पुल ठीक किया जा सकता है? मिस्टर सोमनाथ कह रहे हैं कि एक्स. ई. एन. अभी मज़दूर लगा रहा है...उसने अपना आदमी गाँव में मज़दूर जमा करने भेजा है।

अयूब : तुम जानते हो यहाँ का एक्स. ई. एन. कौन है?...मिरजा!... बी. के. मिरजा। उसे हमेशा पुल तुड़वाने का काम दिया जाता है।...पुल बनवाने का नहीं।

पंडित : पर मिस्टर सोमनाथ कह रहे हैं कि...

अयूब : मिस्टर सोमनाथ।...ह-हा! मिस्टर सोमनाथ का मिनिस्ट्री में ख़ासा हत्था न होता, तो वे आज जेल में होते।...मिस्टर सोमनाथ।

पंडित : तो तुम्हारा मतलब है कि...

अयूब : *(गिलास में ब्रांडी डालता हुआ)* ब्रांडी पियो थोड़ी-सी...मेरा मतलब कुछ नहीं है।

पंडित : ठहरो, मैं पहले जाकर इन लोगों को बता दूँ...अब्दुल्ला और नियामत को। *(चलते हुए)* ये लोग इतनी देर से जाने बाहर क्या कर रहे हैं!

दाईं तरफ़ से जाने लगता है।

अयूब : सुनो।

पंडित हल्की त्योरी के साथ उसकी तरफ़ देखता है।

यह ब्रांडी मैंने तुम्हारे लिए डाली है।

पंडित कुछ कहने को होता है, पर जैसे अपनी बात चबाकर बाहर निकल जाता है। अयूब स्टूल से उठकर लाउंज के बीचोंबीच आ जाता है। टेलीफ़ोन की घंटी फिर बज उठती है। वह गिलास से एक घूँट भरकर उसे तिपाई पर रख देता है, और जाकर रिसीवर उठा लेता है।

अयूब : *(रिसीवर में)* हलो...हाँ-हाँ...हूँ, यहीं पर हूँ...खतरा? खतरा कोई नहीं है...कौन? डॉक्टर?...वह वहीं है?...तुम्हारे पास?... हाँ-हाँ आई है...वह भी यहीं है...क्या?...वह आना चाहता था?...तो उससे कह न, अब भी आ जाए...आसार अच्छे नहीं है...नहीं हैं, तो क्या हुआ, वह आना चाहे तो...क्या? किसका ख़याल?... अपना?...दूसरों का? दूसरा इस वक़्त यहाँ कोई नहीं है...

सहसा उनकी नज़र बरामदे से आती हुई गुड्डो पर पड़ती है। गुड्डो के चेहरे और हाव-भाव में वह ताज़गी है जो तैरने के बाद शरीर में आ जाती है। उसके कपड़े बिल्कुल नई तरज के हैं, पर भीगने से उनकी क्रीज़ मर चुकी है। बाल कटे हुए हैं, पर चेहरे पर सिवाय हल्की लिपस्टिक के कोई भी मेकअप नहीं है। वह अपना पर्स हिलाती हुई

हाल में आकर कुछ परेशानी के साथ इधर-उधर देखती है।

रीता : नीरू...ओ नीरू!

अयूब : *(रिसीवर में)...मतलब उन लोगों में से कोई नहीं है...जिनका तुम ज़िक्र कर रहे हो।...और कौन है? आवाज़...(हल्के से हँसकर)* आवाज़ें बहुत धोखा दे सकती हैं।...तो भी?...तो भी कुछ नहीं...बस ख़ास बात कुछ नहीं...हुई, तो मैं ख़ुद तुम्हें फ़ोन कर लूँगा...बाई-बाई।

लगता है दूसरी तरफ़ से अभी कुछ और कहा जा रहा था जब वह बीच में ही रिसीवर रख देता है।

रीता : *(पास आती हुई)* यहाँ किसी ने उस लड़की को तो नहीं देखा...नीरा को?

अयूब : यह नीरा कौन है? वह छोटी-सी लड़की जो कल...

रीता : *(सहसा अयूब को पहचानकर)* आप...तुम...यहाँ और कोई आदमी नहीं है?

अयूब : कई आदमी और हैं...पर वे सब बाहर हैं। *(दाईं तरफ़ इशारा करके)* बाहर...पुल के पास।

गुड्डो बिना कुछ कहे उस तरफ़ से बाहर जाने लगती है।

पर वह लड़की वहाँ नहीं है।

गुड्डो पलभर के लिए ठिठक जाती है।

मेरा ख़याल है वह तो शायद यहाँ क्लब में ही नहीं है।

रीता : *(कुछ तीखी आवाज़ में)* वह नहीं है।

मुड़कर बरामदे की तरफ़ जाने लगती है।

अयूब : कम-से-कम मैंने उसे नहीं देखा।...पर सुनो...

गुड्डो रुककर तीखी नज़र से उसकी तरफ़ देखती है।

रीता : क्या बात है?

अयूब : तुम्हें शायद...मुझसे डर लग रहा है। मैं कहना चाहता था कि अच्छा होगा...अगर...तुम...

रीता : अगर मैं...

अयूब : अगर तुम...कल को...आज के साथ मिलाकर न देखो...हो सकता है कल की वजह से...

रीता : कल का जवाब तुम्हें कल ही नहीं मिल गया था?

अयूब : वही तो मैं कह रहा हूँ...कि कल की बात...कल के साथ थी।

और जहाँ तक आज का सवाल है...आज के लिए...मुझे तुमसे इतना ही कहना है कि...

रीता : आज के लिए मुझसे कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं है। अगर कोशिश करोगे कहने की, तो मैं अभी बाहर चलकर...

अयूब : वह तो ख़ैर मुमकिन ही नहीं है...मतलब बाहर चल सकना।... क्योंकि अभी-अभी अब्दुल्ला कह गया था कि फिलहाल किसी को भी उधर न आने दिया जाए।

रीता : *(रुककर)* क्यों? अब्दुल्ला कौन है हमें रोकने वाला?...और तुम कौन हो मुझसे यह कहने वाले?

अयूब : मैं कौन हूँ? कोई भी आदमी कौन है, यह क्या वह कभी ठीक से बता सकता है?

रीता : तुम्हारा मतलब?

अयूब : मतलब हर आदमी अलग-अलग वक़्त और अलग-अलग जगह पर अलग-अलग आदमी होता है। किसी एक वक़्त और किसी एक जगह पर वह कौन है, क्या यह वह आसानी से बता सकता है?

रीता : *(तुनककर)* मुझसे इस तरह की बातें करने की ज़रूरत नहीं। मुझे लगता है कि कल जो तुम्हारे साथ हुआ था और होने को था, वह तुम्हें अब तक याद नहीं रहा।

अयूब : मैं वही तो कह रहा था कि मैं आज अपने बारे में कुछ भी कहूँ, तुम मुझे वही आदमी समझोगी जिसे तुमने कल एक ख़ास वक़्त पर, एक ख़ास शक्ल में देखा था। बहरहाल, तुम शायद किसी को खोजती हुई यहाँ आई थीं। यह नीरा वही छोटी-सी लड़की है न जो कल बैडमिन्टन कोर्ट में ऊधम मचा रही थी? मेरा ख़याल है वह यहाँ क्लब में नहीं है।

रीता : वह यहीं है। अभी थोड़ी देर पहले तक मेरे साथ थी।

अयूब : यह नीरा किसकी लड़की है?

रीता : क्यों? कोहली साहब की...

अयूब : ये वही कोहली साहब है न...जिसका एक मन्दिर भी है?

रीता : हाँ, वही।

अयूब : और जो रोज़ क्लब में आकर मन्दिर के चढ़ावे की शराब पीता है।

रीता : *(सख़्ती से देखकर)* यह मैं नहीं जानती।

अयूब : *(पीछे से)* ख़ैर छोड़ो, तुम्हें पता है कि यहाँ से बाहर जाने का पुल टूट गया है?

रीता : हाँ, मुझे पता है, उसमें दो-ढाई फुट की दरार पड़ गई है।

अयूब : यह ख़बर पहले की है। नई ख़बर यह है कि पुल पर आने-जाने की बिल्कुल मनाही हो गई है।

रीता : यह तुमसे किसने कहा है?

अयूब : टूरिस्ट अफसर मिस्टर सोमनाथ ने। अभी थोड़ी देर पहले। टेलीफ़ोन पर।

रीता : क्या कहा है उन्होंने?

अयूब : यही कि एक्स. ई. एन. का कहना है कि अब किसी को भी पुल पर आने-जाने न दिया जाए। इसलिए हो सकता है कि जितने लोग यहाँ हैं, उन सबको आज रात-भर यहीं रहना पड़े।

रीता : *(कुछ घबराहट के साथ)* रात-भर यहीं रहना पड़ेगा? यह कैसे होगा?

अयूब : कैसे भी हो...अगर रहना पड़ेगा...तो रहना ही पड़ेगा।...बल्कि हो तो यह भी सकता है कि...हम लोग...आज रात के बाद कल दिन भर...और कल दिन भर के बाद फिर कल रात भर...यहीं रुके रहें...और पुल ठीक होने में न आए।

रीता : ये सब फिजूल की बातें हैं। हम लोग सालों से यहाँ आते हैं। ऐसा कभी आज तक नहीं हुआ।

अयूब : इसलिए तो और भी मुमकिन है...कि आज ऐसा हो जाए...जो कभी नहीं हुआ होता...वह होने लगता है, तो...*(चुटकी बजाकर)* बस ऐसे हो जाता है।...बहरहाल...तुम उस लड़की को खोज रही थीं न...

रीता : *(अपने को थोड़ा सहेजकर)* हाँ, यह ज़रा-सी बात से नाराज़ होकर जाने किधर निकल गई है।

अयूब : लड़कियाँ...बहुत नाराज़ हो जाती हैं।...ख़ास तौर से...छोटी उम्र की लड़कियाँ। नहीं?

रीता : *(कुछ सकपकाकर)* वह इसी बात पर तो मुझसे नाराज़ हुई है...कि उसे छोटी उम्र का क्यों समझा जाता है। इतना कह दिया कि यह बात भी जो वह पूछ रही है, क्या बच्चों की-सी नहीं है? और यह कि अभी चौदह की तो वह हुई नहीं, फिर अभी से अपने को बड़ी समझने का शौक उसे क्यों चर्रा आया है? बस

इसी बात पर वह बिगड़ खड़ी हुई और गुस्से में वहाँ से भाग गई। मेरा ख़याल था, भागकर वह इधर आई होगी, पर...

अयूब : ना...इधर वह नहीं आई।...कम-से-कम...मेरे सामने नहीं आई।

रीता : यह अभी की ही तो बात है...पाँच-दस मिनट पहले की। अब एक तो अँधेरा उतर रहा है, और ऊपर से फिर बारिश के आसार नज़र आ रहे हैं। इस आधे मील के टापू में कहीं उलटी-सीधी तरफ़ निकल गई तो और मुसीबत खड़ी होगी।

बरामदे की तरफ़ जाती है। रीता दाईं तरफ़ से चली जाती है। अयूब उससे कुछ कहने को होता है, पर अपने को रोक लेता है। ब्रांडी की बोतल से एक घूँट भरकर वह लाउंज के बीचोंबीच आ जाता है। दो-एक मैगज़ीनें उठाता है और उन्हें वापस रख देता है। फिर पल-भर खिड़की की तरफ़ देखता रहता है।

अयूब : फिर वही उतरती हुई रात और वही आवाज़ें—झींगुरों, झिल्लियों और मेढकों की। वही एक आदम-सी दहशत, वही अकेलापन और वही अपने-आपसे सामना। *(टेलीफ़ोन के पास जाकर उसके रिसीवर को हल्के-से छेड़ता हुआ)* क्या चाहता हूँ? किसी से बात करना? पर किसी से बात करना ही तो नहीं चाहता *(टेलीफ़ोन के पास से हटकर)* तो क्या चाहता हूँ? इस तरह यहाँ अकेले खड़े रहना? बाहर की तरफ़ देखते जाना? *(सिर को हल्के-से झटका देकर)* कुछ समझ में नहीं आता। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या चाहता हूँ– ख़ास तौर से जब रात उतरती है, ये आवाज़ें सुनाई देती हैं, तो क्यों इतना छटपटाने लगता हूँ?

धीरे-धीरे आकर तिपाई पर बैठ जाता है।

परसों रात भी एक ऐसी ही छटपटाहट के बाद वह सब हुआ था। अब्बाजान और दूसरे लोगों को ख़याल होगा कि मैं अपने हिस्से के लिए लड़ रहा हूँ, ज़मीन-जायदाद और रुपए-पैसे के लिए चखचख कर रहा हूँ—मगर क्या मैं उनमें से किसी को भी समझा सकता था कि मैं उन सबसे अलग रहकर क्यों रहना चाहता हूँ? ये परसों शाम को सुनी हुई आवाज़ें थीं—और परसों शाम को ही नहीं, उससे पहले हर शाम को सुनी हुई आवाज़ें—जिन्होंने यह सोचने के लिए मुझे मजबूर कर दिया था कि जो

ज़िन्दगी मैं जी रहा हूँ, वह मेरी अपनी ज़िन्दगी नहीं है—मैं चाहे जितने साल उसे ढोता रहूँ फिर भी उसे अपना नहीं सकूँगा।

सोचता-सा तिपाई से उठकर टहलने लगता है।

कहने को सब कुछ है—घर है, बीवी है, दो बच्चे हैं, फिर भी मैं जानता हूँ कि यह सारा ताना-बाना एक न चाहते मन के चारों तरफ़ बुना गया है, हालाँकि बुनने वाले सिर्फ़ दूसरे ही नहीं हैं, मैं भी हूँ। बल्कि जब कभी ताना-बाना ढीला होता नज़र आया, मैंने ख़ुद उसमें और धागे बुने हैं, ख़ुद अपने को उन धागों में और जकड़ लेना चाहा है, और इसी से मन की छटपटाहट और बढ़ती गई है।

टहलता हुआ केबिन की तरफ़ से होकर काउंटर के पास आ जाता है।

इस वक़्त यहाँ मैं क्यों हूँ? यहाँ से बाहर जाकर भी फिर लौट क्यों आया हूँ? क्या सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि...? नहीं, इस बात का सामना मैं नहीं कर सकता। क्या सचमुच मैं इतना छोटा, इतना ओछा हूँ कि मैंने...? पर असलियत क्या यही नहीं है? क्या सलमा को साथ ले जाने का सीधा-सा मतलब एक बार डॉक्टर की आँखों में आँखें डालकर देखने की चाह नहीं थी? क्या मैंने यह नहीं चाहा था कि एक बार मुस्कराकर डॉक्टर से पूछ सकूँ—'कहो डॉक्टर, क्या हालचाल हैं?' मेरे यह पूछने का मतलब सिर्फ़ वही समझ सकता था या मैं। क्योंकि सलमा से शादी करने के बाद डॉक्टर से यह मेरी पहली मुलाक़ात होती। डॉक्टर अपनी बीवी सकीना को पाकर ख़ुश नहीं हो सका...उसी तरह जैसे मैं सलमा से शादी करके। सिर्फ़ वह अपना खोल बनाए रखना चाहता है—शायद उसका ख़याल है कि उसका खोल किसी को नज़र नहीं आएगा। पर किसका खोल किसे नज़र नहीं आता? सब एक-दूसरे के खोल से वाक़िफ़ हैं, एक-दूसरे का खोल उतरते देखना चाहते हैं—मगर अपना खोल बनाए रखते हुए। क्योंकि सिर्फ़ एक ही खोल है—अपना—जो कि लगता है किसी तरह निभाया जा सकता है—कुछ और दूर तक, फिर कुछ और दूर तक। और दूर तक। *(ब्रांडी का एक और घूँट भरके हल्की-तुर्श हँसी के साथ)* और कल का वह हादसा! क्या समझा होगा इन लोगों ने कि कितना खबीस हूँ मैं! राह

चलते एक नावाक़िफ़ लड़की का हाथ पकड़कर अपनी तरफ़ खींचना—इससे बड़ी हिमाकत क्या हो सकती थी? पर क्या सचमुच वह हादसा शराब के नशे में ही हुआ था जैसा कि ये लोग समझते हैं? क्या मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया था जिससे कि दस आदमियों के बीच मुझे ज़लील होना पड़े? जिससे कि इसकी ख़बर श्रीनगर पहुँचे और वे लोग जान जाएँ कि वह खोल, वह भरम, जिसे वे बनाए रखना चाहते हैं, मैंने तोड़ दिया है?

तभी टैरेस की ओर से आकर नीरा झाँकती है।

रीता : गुड्डो दीदी! गुड्डो दीदी!...यहाँ भी नहीं है? उफ़्...

अयूब : यह वही लड़की है जिसे गुड्डो खोज रही थी और यह गुड्डो को खोज रही है...*(बरामदे की तरफ़ जाता हुआ)* ओ लड़की... क्या नाम है तेरा...सुन, इधर आ।

नीरा एक बार घूमकर उसकी तरफ़ देखती है, और फिर टैरेस से उतरकर बाईं तरफ़ भाग जाती है।

ओ लड़की...किधर जा रही है तू? तुझसे कहा है इधर आ। सुन नहीं रही है? ओ...क्या नाम है तेरा...सुन...

लॉन में से होकर वह भी बाईं तरफ़ से चला जाता है। कुछ क्षण मंच ख़ाली रहता है। बादल की गरज के साथ हल्की वर्षा का शब्द सुनाई देने लगता है। बरामदे के पार अँधेरा गहरा होता चला जाता है। सहसा टेलीफ़ोन की घंटी बजने लगती है। कुछ क्षण बजने के बाद घंटी बन्द हो जाती है। हवा के झोंके से तिपाई पर रखी पत्र-पत्रिकाएँ फड़फड़ाती हैं। रीता दाईं तरफ़ से आती है।

रीता : कितनी फिज़ूल की कोशिश कर रहे हैं ये लोग—कि जैसे पत्थर रखने से अब भी किसी तरह टूटते पुल को सँभाला जा सकता है। *(अपनी ख़ाली कलाई पर नज़र डालकर)* पता नहीं क्या बजा होगा।...बड़ी ममी को पता चलेगा कि उनकी घड़ी आज मुझसे खो गई है, तो आधी रात तक न वे सोएँगी, न किसी और को सोने देंगी। *(कलाई को उँगली और अँगूठे की चूड़ी में लेकर)* पर पता तो उन्हें तब चलेगा न जब...जब हम बाहर पहुँच सकें। लगता है उस आदमी की कही बात ही सच होने जा रही है—आज रातभर हम सबको शायद यहीं रहना पड़ेगा। *(बाहर की*

तरफ़ देखकर) अँधेरा हो गया है, बारिश उतर आई है, और नीरा जाने अब तक बाहर कहाँ घूम रही है? *(आसमान देखकर)* पर वह आदमी...वह भी तो नज़र नहीं आ रहा। कहीं ऐसा तो नहीं कि...नहीं, ऐसी बात मुझे सोचनी भी नहीं चाहिए। पर शायद उससे उतनी बात करना भी ठीक नहीं था। ऐसे आदमी का कुछ भरोसा है? बड़ी ममी अक्सर कहा करती हैं कि भीड़ में आदमी आदमी होता है, और अकेले में...पर मैंने क्या हमेशा इस बात का मज़ाक नहीं उड़ाया है?

बिजली कौंधने से बरामदे के पार का हिस्सा बीच-बीच में पलभर के लिए चमक जाता है। वर्षा की आवाज़ पहले से तेज़ हो जाती है।

एक तो बारिश को भी बस इसी वक़्त शुरू होना था। अब मैं चाहूँ भी तो जाकर उसे देख नहीं सकती और अँधेरे में क्या पता है...कल उस आदमी ने जो हरकत की थी; उसे नज़र में रखते हुए...मुझे उस आदमी से बिलकुल बात ही नहीं करनी चाहिए थी।

कुछ क़दम बरामदे की तरफ़ जाकर लौट आती है। तभी अब्दुल्ला बाईं तरफ़ से सलमा को साथ लिए हुए आता है। सलमा दरम्याने क़द की महिला है। रंग गेहुँआ है। बड़ी-बड़ी आँखों के अलावा भी चेहरे का अपना आकर्षण है। हल्के रंग की साड़ी उसके शरीर पर बहुत फबती है। देखने में दुबली नहीं है, पर भारी भी नहीं कहा जा सकता। उम्र बाईस और तेईस के बीच है। चेहरे पर स्वाभाविक सौम्यता के अलावा विषाद की भी हल्की छाया है। अब्दुल्ला उसका रेनकोट उठाए हुए है।

अब्दुल्ला : *(आगे आकर रेनकोट सोफे की बाँह पर रखता हुआ)* यहाँ बैठिए...थोड़ी देर और आराम करने से तबीयत ठीक हो जाएगी।

सलमा : मेरी तबियत अब पहले से काफ़ी ठीक है।

कहती हुई हल्के क़दमों से खिड़की की तरफ़ चली जाती है।

अब्दुल्ला : मैं कह रहा था कि आप कुछ देर यहाँ बैठ जातीं, तो...

सलमा : *(खिड़की से बाहर देखती हुई)* मैंने कहा है न, मैं ठीक हूँ—अब बैठने की ऐसी ज़रूरत नहीं है।

अब्दुल्ला : ख़ैर आपकी मर्ज़ी है। वैसे बेहतर यही था कि...

रीता इस बीच उसके पास आ जाती है।

रीता : देख, अभी-अभी वह एक आदमी यहाँ था न...?

अब्दुल्ला : मैं अभी-अभी बाहर से आ रहा हूँ। कौन आदमी यहाँ था, कौन नहीं था, इसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता।

रीता : *(तीखे स्वर में)* वह आदमी अभी नहीं था यहाँ, जिसकी वजह से कल...? *(सलमा रीता को ताकती है)*

अब्दुल्ला : ज़रा आहिस्ता बोलो, आहिस्ता। *(दिल पर हाथ रखे हुए)* तुम्हें पता नहीं मुझे दिल का दौरा पड़ता है।...तुम्हारा मतलब मिस्टर अयूब से है?

रीता : देख, वह लड़की है न नीरा?

अब्दुल्ला : तुम अयूब साहब की बात कर रही हो, या नीरा की बात कर रही हो?

रीता : मैं दोनों की बात कर रही हूँ।

अब्दुल्ला : दोनों की? तो तुम्हारा मतलब है कि...

रीता : तू बात सुन तो सही। मैं उधर गई थी...मेरी घड़ी नहीं मिल रही थी, इस वजह से भी परेशान थी...

अब्दुल्ला : अब तुम उन दोनों की बात छोड़कर अपनी बात करने लगीं।

रीता : *(फिर तीखे स्वर में)* तू बात सुनेगा भी या खामख़ाह टोकता ही जाएगा।

अब्दुल्ला : आहिस्ता। आहिस्ता। हाँ, बताओ क्या बात है।

रीता : नीरा उधर आई, तो मैं परेशान थी। वह इधर से झल्लाई हुई गई थी—शायद तूने ही उससे कोई बात कह दी थी। वहाँ आते ही मुझसे पूछने लगी कि क्या वह देखने में बच्चा नज़र आती है? मैंने उसे जवाब नहीं दिया, तो अपने को मुझे दिखाकर और मेरा कन्धा झिंझोड़कर पूछने लगी कि क्या मैं भी उसे बच्चा समझती हूँ? मैंने गुस्से में इतना कहा कि यह बात भी, जो वह पूछ रही है, यह बच्चों की-सी नहीं है? और कि अभी चौदह की तो वह हुई नहीं, फिर अभी से उसे अपने को बड़ी समझने का शौक क्यों चर्रा आया है? इस पर वह एकाएक बिगड़ खड़ी हुई, और गुस्से से पाँव पटकती वहाँ से चली गई। मेरा ख़याल था कि वह इधर आई होगी, पर इधर आकर पता चला कि वह इधर नहीं आई।

अब्दुल्ला : पता किससे चला? मिस्टर अयूब से?

रीता : हाँ, उसी से। वह आदमी उस वक़्त यहाँ पर था। मैंने उसे इतना बताया था कि वह लड़की ज़िद में आकर जाने किस तरफ़ निकल गई है।

अब्दुल्ला : फिर?

रीता : फिर क्या? फिर मैं थोड़ी देर के लिए बाहर आ गई थी। लौटकर आई हूँ, तो न उस लड़की का पता है, और न ही वह आदमी यहाँ पर है। ऊपर से बारिश उतर आई है। अब एक तो मुझे डर है कि इस आधे मील के टापू में वह लड़की जाने इस वक़्त कहाँ भटक रही होगी, और दूसरे वह आदमी...

अब्दुल्ला : हूँ...तो इस वक़्त तुम मुझसे क्या चाहती हो?

रीता : क्या चाहती हूँ? क्या तुम ख़ुद नहीं समझते कि हममें से किसी को जाकर उन्हें देखना चाहिए?

अब्दुल्ला : हममें से किसी को?...तुम्हारा मतलब है कि मुझे जाकर देखना चाहिए?

रीता : अगर तुम नहीं जा सकते, तो यह रेनकोट मुझे दे दो। मैं चली जाती हूँ।

अब्दुल्ला : मैंने कहा है मैं नहीं जा सकता? अब तो मेरे पास फ़ुरसत ही फ़ुरसत है। जब तक पुल ठीक नहीं होता, तब तक सिवाय फ़ुरसत के और रह ही क्या गया है?

काउंटर के अन्दर से होकर स्टोर से जाने लगता है।

रीता : ये लोग क्या करने की सोच रहे हैं? पुल बिल्कुल टूट गया है, तो उसकी जगह नया पुल बनने में तो कई दिन, कई हफ्ते लग जाएँगे।

टेलीफ़ोन के पास जाकर रिसीवर उठा लेती है।

हलो एक्सचेंज...हलो, हलो, हलो...*(कमानी को कई बार खटखटाकर)* हलो, हलो, हलो...

बाहर से पानी में किसी चीज़ के गिरने की आवाज़ सुनाई देती है।

यह कुछ और टूटा है क्या?

सलमा : *(बिना मुड़कर उसकी तरफ़ देखे)* टूटा कुछ नहीं, नियामत ने किनारे का एक बड़ा-सा पत्थर शायद पानी में लुढ़का दिया होगा।

रीता : *(टेलीफ़ोन की कमानी को लगातार खटखटाती हुई)* हलो एक्सचेंज...हलो, हलो...। टेलीफ़ोन बिल्कुल बेजान है। मेरा ख़याल है इसकी लाइन कट गई है। *(फिर उसी तरह खटखटाती हुई)* हलो,...हलो, हलो एक्सचेन्ज...

बत्तियाँ दो-एक बार जल्दी-जल्दी झिलमिलाकर एकाएक गुल हो जाती हैं। अँधेरे में सिर्फ़ रीता की आवाज़ सुनाई देती रहती है :

हलो एक्सचेंज...हलो, हलो, हलो...

[परदा]

अनुवर्तन दो

मंच में कोई परिवर्तन नहीं है, सिवाय इसके कि बिजली की बत्तियाँ गुल होने से चार-छह जगह बड़ी-बड़ी मोमबत्तियाँ जला दी गई हैं। अँगीठी में लकड़ियाँ सुलग रही हैं : उनकी आँच से भी हल्की रोशनी है। पुल टूट चुका है। तेज़ बारिश हो रही है। पर्दा उठता है तो अयूब और उसकी पत्नी सलमा ही नज़र आते हैं। पंडित और नीरा कहीं बाहर हैं। अब्दुल्ला और नियामत भी बाहर हैं। तेज़ बहते पानी और चलती तेज़ हवा का स्वर। अयूब और सलमा फायर प्लेस के पास गुमसुम बैठे हैं। पीछे से अब्दुल्ला और नियामत की आवाज़ें आ रही हैं।

अब्दुल्ला : नियामत हो! इधर पानी आ गया है...

नियामत : इधर सब टूट रहा है हो...सँभल के ऊपर निकल जाओ...।

अब्दुल्ला : हाँ हो...

अयूब : मैं समझता हूँ, हम यहाँ बिल्कुल अकेले हैं...क्यों?

सलमा : जब मुसीबत आती है तो सब अकेले ही होते हैं...मुसीबत की शक्लें अलग-अलग हो सकती हैं। छुटकारा इतना आसान तो नहीं है।

अयूब : तुम्हें इस बात का अफसोस है कि मैंने वक़्त से तुम्हारा हाथ खींचकर पीछे क्यों हटा लिया...ख़ुद छुटकारा चाहते हुए तुम्हें क्यों बचा लिया?

सलमा चुप रहती है। वह उठकर बाहर की ओर चल देती है।

(उसका हाथ पकड़कर) कहाँ जा रही हो?

सलमा : जहाँ सचमुच अकेली रह सकूँ।

अयूब : आदमी कभी कहीं भी अकेला नहीं हो पाता।

सलमा : मुझे अपने चारों तरफ़ अँधेरे का ऐसा ग़ार चाहिए जिसमें...

अयूब : अँधेरे में क्या चेहरे नहीं होते?

सलमा : कैसे चेहरे?

अयूब : आज के चेहरे, कल के चेहरे...बरसों पहले देखे और भीगे हुए चेहरे और कभी न देखे हुए चेहरे...

सलमा : तुम कहना क्या चाहते हो?

अयूब : यही कि चेहरों से बचना आसान नहीं है। मन में जो ख़याल आते हैं, उन ख़यालों के भी चेहरे होते हैं।

सलमा : मुझे तुम हमेशा चेहरों को लेकर शर्मिन्दा कर सकते हो... ख़ुद भी अगर शर्मिन्दा हो सकते तो शायद हम एक-दूसरे के चेहरों को ज़्यादा पहचान पाते...तुमने कल यहाँ उस लड़की रीता के साथ जो कुछ करने की कोशिश की...वह भी तो एक चेहरा है उसके लिए भी तुम शर्मिन्दा नहीं हो सकते...

अयूब : सिर्फ़ इसलिए शर्मिन्दा महसूस करूँ कि कल जो कुछ हुआ या किया वह औरों के सामने हुआ। क्यों? औरों के सामने न हुआ होता तो तुम्हें तकलीफ़ न होती...

सलमा : मुझे नहीं मालूम...

बाहर की ओर जाती है।

अयूब : *(चीख़कर)* तुम्हें मालूम होना चाहिए...

सलमा : *(कमरे में पंडित और झुनझुनवाला को देखकर लौट आती है)* तुम धीमे नहीं बोल सकते। यहाँ वो लोग भी हैं।

अयूब : लोग...लोग...लोग। मैं तुमसे बात कर रहा हूँ...लोगों से नहीं।

सलमा : लेकिन और लोग भी सुन रहे हैं...

अयूब : सुन भी लें तो क्या होगा? पुल टूट चुका है...बाढ़ का पानी बढ़ता जा रहा है...यह जगह कभी भी डूब सकती है और हम सब मौत के मुँह में किसी भी पल समा सकते हैं...उसके बाद कौन-सी बात कोई कहीं लेकर जा सकेगा...सब बातें होकर भी यहीं खत्म हो जाएँगी...

पंडित और झुनझुनवाला आते हैं। पंडित के हाथ में ताश की गड्डी है। झुनझुनवाला हिसाब का काग़ज़ देख रहा है। एक कुत्ते के भौंकने की आवाज़ आती है।

पंडित : *(सलमा से)* आप हमें देखकर डर गई थीं?

सलमा : नहीं तो...पुल टूटने के वक़्त आप वहीं पर थे?

झुनझुनवाला : हाँ... ख़ुशक़िस्मती से हम बच गए।

पंडित : कितनी देर के लिए? *(गड्डी फेंकता है)* जो वक़्त बचा है उसमें दो हाथ और हो जाएँ...*(बैठ जाता है)* आओ...

सब बैठ जाते हैं। बाढ़ की आवाज़, शहतीरें टूटने और बहने की आवाज़, कुत्ते के भौंकने की आवाज़, कुछ क्षणों की भयानक ख़ामोशी।

सलमा : *(भय के बाद कुछ आश्वस्त होकर)* आप लोग ताश नहीं खेल रहे...खेलिए।

झुनझुनवाला : नहीं...हम लोग ताश नहीं खेल रहे हैं।

एक क्षण की ख़ामोशी।

पंडित : *(सलमा-अयूब को देखकर)* आप लोग बात नहीं कर रहे, कीजिए...

अयूब : नहीं, हम लोग बात नहीं कर रहे।

पंडित : तो?

सलमा : कुछ न करने के लिए भी तो आदमी को जगह और वक़्त चाहिए।

झुनझुनवाला : पर जगह बची कहाँ है? एनेक्सी आधी डूब चुकी है...सब जगह पानी भर चुका है...

सलमा : जगह न हो...पर वक़्त तो है।

अयूब : कितना?

पंडित : देखता हूँ *(झुनझुनवाला से)* आओ, देखें आएँ।

झुनझुनवाला : क्या? *(चलते हुए)*

पंडित : वक़्त! कितना वक़्त है।

उसे पकड़कर खींच ले जाता है। तभी रीता और नीरा आती हैं। दोनों बहस करती चली आ रही हैं।

नीरा : मैं कहती हूँ...धार में जो बहा जा रहा था वह पुतला था।

रीता : आदमी था।

नीरा : पुतला था। आदमी था, तो उसकी चमड़ी का रंग आदमियों जैसा क्यों नहीं था?

रीता : आदमी था। पुतला था, तो उसके हाथ-पैर आदमियों जैसे क्यों थे?

अयूब : आदमी और पुतला! झगड़ा क्या है? आदमी और पुतले में फ़र्क़ क्या होता है?

रीता : आदमी और जानवर में क्या फ़र्क़ होता है?

सलमा : आदमी के लिए जानवर और औरत में क्या फ़र्क़ होता है?

अब्दुल्ला और नियामत भागते हुए आते हैं। दूसरी ओर से पंडित और झुनझुनवाला आते हैं।

अब्दुल्ला : *(घबराया हुआ)* अब कोई रास्ता नहीं है। या ख़ुदा!

पंडित : क्या कहा...

नियामत : पानी चारों तरफ़ से घेरकर बढ़ रहा है...

झुनझुनवाला : इधर पीछे से कोई रास्ता...

नियामत : कहाँ का?

पंडित : जहन्नुम का। ये ज़िन्दगी से भागने और ज़िन्दगी में घुसने के लिए हमेशा पीछे का रास्ता ही खोजता रहा है...

झुनझुनवाला : बकवास मत करो...

अब्दुल्ला : *(टेलीफ़ोन बार-बार मिलाता है और रख देता है)* हिश्...*(फिर मिलाता है। सब चुप हो जाते हैं, फिर रख देता है)* या ख़ुदा! मैं क्या कर सकता हूँ, जो होना होगा, होगा। *(फिर टेलीफ़ोन का नम्बर मिलाकर हताश भाव से बोलता है)* या ख़ुदा...

नियामत : ख़ुदा को टेलीफ़ोन कर रहा है।

अब्दुल्ला : या ख़ुदा...*(टेलीफ़ोन का रिसीवर उसके हाथ में झूल जाता है)*।

पंडित : ख़ुदा से बात करनी है तो झुनझुनवाला को करने दे...ये ख़ुदा के यहाँ भी पीछे के दरवाज़े से घुसने की तैयारी बहुत दिनों से कर रहा है।

अब्दुल्ला : हिश्...

तभी एनेक्सी टूटने की भयानक आवाज़...और रोते हुए भागते कुत्ते की आवाज़। रोते भागते कुत्ते की आवाज़ तेज़ी से आती है और एकाएक खत्म हो जाती है। सब पीछे की ओर जाकर बढ़ते पानी को देखते हैं।

झुनझुनवाला : एनेक्सी टूट रही है।

अयूब : हाँ, लगता तो यही है।

सलमा : कुछ किया नहीं जा सकता, उसे बचाने को?

झुनझुनवाला : एनेक्सी को?

पंडित : नहीं, कुत्ते को!

सलमा : जब ज़मीन ही नहीं बचेगी, तो कुत्ते का बचाव कैसे होगा!

नीरा : बेचारा कैसा छटपटा रहा है।

सलमा : कुछ देर में यही हश्र यहाँ होने वाला है।

झुनझुनवाला : यहाँ भी!

पंडित : हाँ, यहाँ आठ-आठ कुत्ते इसी तरह छटपटाएँगे...

झुनझुनवाला : यहाँ...कुत्ते...

रीता : हाँ, हम सब लोग। चल नीरा...मरना है तो हम अपनी तरह मरेंगे...

नीरा को लिए हुए टेबिल-टेनिस वाले कमरे में चली जाती है।

पंडित : कुत्ते...मैं, तू...वह...

अयूब की तरफ़ इशारा करता है।

अब्दुल्ला : *(जैसे अपने में डूबा हुआ है)* मैंने शफ़ी साहब से छुट्टी माँगी थी...नहीं दी ज़ालिम ने।

नियामत : अब फ़ोन पर माँग ले, मिल जाएगी।

अब्दुल्ला : मैं एक बार...सिर्फ़ एक बार अपने लड़के का मुँह तो देख लेता। फिर चाहे जो हो जाता...

नियामत : यहाँ का हिसाब तब कौन देखता! अब लड़के की बात मत सोच। रसद की फिक्र कर। यहाँ खुराक कितनी है?

अयूब : हाँ, कुछ है यहाँ? आख़िर रात तो काटनी ही है...सलमा चुपचाप किचिन की तरफ़ चली जाती है।

पंडित : और मरना भी है तो खा-पीकर मरना है...झुनझुनवाला तो भूखा मर भी नहीं पाएगा। है कुछ खाने-पीने का सामान...

अब्दुल्ला : पीने का सामान बहुत है। पर खाने का...दो वक़्त का चावल, एक वक़्त की गन्दुम। गोश्त सारा सड़ गया है। मैंने शफ़ी साहब से कहा था...

अयूब बाहर की ओर देखने चला जाता है।

नियामत : दो वक़्त का चावल, एक वक़्त की गन्दुम...पर जब तक शफ़ी साहब का हुक्म न मिले...

पंडित : ख़ैर, सब ठीक हो जाएगा...

झुनझुनवाला : खाक ठीक हो जाएगा...

पंडित : नम्बर ट्राई करो...

अब्दुल्ला : *(नम्बर ट्राई करके)* घंटी बज रही है।

सब लोगों में हलचल।

नीरा : घंटी बज रही है...मुझे ममी से कहलाना है कि मैं यहाँ चली आई थी...वे फिकर कर रही होंगी।

झुनझुनवाला : टूरिस्ट अफसर से कहो, बचाने का इन्तज़ाम जल्दी किया जाए...

नियामत : यह भी कह दीजिए कि दरवाज़े तो हमने सब बन्द कर लिए थे पर निकलने से पहले पुल टूट गया है...अब हम क्या करें।

अब्दुल्ला : शफ़ी साहब मिल जाएँ तो कह दीजिए...

पंडित : *(काटकर)* कोई उठा नहीं रहा।

झुनझुनवाला : फिर से डायल करो...

पंडित : नहीं, घंटी बज रही है...शायद कोई उठा ही ले। ख़ामोश....ठीक से सुनने दो...

अयूब : *(ख़ामोशी देखकर)* ये काठ क्यों मार गया है सबको!

पंडित : श् श्...श् श्...घंटी बज रही है।

अयूब हँसता है।

श् श् यह हँसने का वक़्त नहीं है।

अयूब : हँसने का वक़्त नहीं है! बाहर देखा है क्या हो रहा है?

झुनझुनवाला : लोग दूरबीन लिए इधर देख रहे हैं। हाथ हिला रहे हैं...

अब्दुल्ला : जैसे हम लम्बे सफ़र पर जा रहे हों।

झुनझुनवाला : कौन-कौन लोग हैं?

अयूब : कौन-कौन है और कौन नहीं है, इसका कुछ पता चल सकता है, यहाँ से?

पंडित : श् श् श् श्!

झुनझुनवाला : उधर से उठाया किसी ने?

पंडित : नहीं, अभी घंटी बज रही है...

नियामत : सिर्फ़ घंटी ही बजती रहेगी।

अयूब : हाँ, सुनने वाले इस वक़्त दूरबीनों से देख रहे हैं...हाथ हिला रहे हैं।

झुनझुनवाला : उन्हें रस्से फेंकने चाहिए।

अयूब : रस्सा पकड़कर दरिया कौन-कौन लाँघेगा?

पंडित : श् श् श् श्...

झुनझुनवाला : रस्सा इतने लोगों का बोझ एक साथ सँभाल पाएगा?

अयूब : हम कितने लोग हैं?

अब्दुल्ला : एक दो तीन चार...पाँच...

नियामत : और बाक़ी लोग कहाँ हैं? बेग़म और वो लड़कियाँ...

झुनझुनवाला : उन्हें छोड़ो।

पंडित : श् श्...श् श्...हलो। उधर से किसी ने उठाया है रिसीवर... हलो...*(सब टेलीफ़ोन को घेर लेते हैं। सब टेलीफ़ोन के रिसीवर में चीख़ते हैं—हलो...हलो...हलो।)*

पंडित : *(रिसीवर लेकर)* हल्लो। हूँ...टेलीफ़ोन डेड हो गया है।

झुनझुनवाला : डेड! *(हाथ में लेकर सुनता है और कमानी पर पटक देता है।)*

अब्दुल्ला : या ख़ुदा! अब क्या होगा!

नियामत : ख़ुदा छुट्टी देगा। *(रिसीवर उठाकर अब्दुल्ला की ओर बढ़ाते हुए)* ले, ख़ुदा को फ़ोन कर!

पानी की तेज़ आवाज़, एनेक्सी के एक और हिस्से के टूटने की आवाज़, सब सहमे खड़े रह जाते हैं।

अब्दुल्ला : मौत बहुत नज़दीक है। अब...*(हिसाब की कॉपी खोजता है)* कॉपी कहाँ है?

कॉपी उठाता है।

नियामत : हिसाब देकर मरेगा?

अब्दुल्ला : *(घबराकर)* क्या पता पानी कहाँ तक आ गया है!

झुनझुनवाला : लगता है, यहाँ तक बढ़ आया है। *(इशारा करता है।)*

पंडित : आओ, चलकर देख तो लें, हमें कितने पानी में मरना है। आओ...

झुनझुनवाला पीछे जाता है।

अयूब : देखें कहाँ तक आ गया है, आओ...

अब्दुल्ला और नियामत भी पीछे जाते हैं।

सलमा हाथ में खाने की ख़ाली प्लेटें लिए आती है।

सलमा : अरे सब कहाँ हैं? कोई प्लेटें तो लगा लो...

इधर-उधर देखकर चली जाती है, प्लेटें रख जाती है।

पंडित और झुनझुनवाला लड़ते-झगड़ते आते हैं।

झुनझुनवाला : अब पानी का रुकना और इस इमारत का बचना मुश्किल है।

पंडित : तो मैं क्या करूँ?

नियामत : *(एकदम आकर, बेहद घबराए स्वर में)* चलकर पत्थरों की बाड़ बनाइए...पानी को रोकने की कोशिश कीजिए।

पंडित : यह सब बेकार बात है। जो पानी नीचे से ज़मीन को काट रहा है, क्या पत्थरों के रोके से रुकेगा?

झुनझुनवाला : तुम इसका हौसला पस्त क्यों कर रहे हो? तुम्हें पत्थर नहीं रखने हैं तो तुम चले क्यों नहीं जाते?

पंडित : कहाँ? जाने की जगह कहाँ है?

अब्दुल्ला : *(आकर)* आइए, हाथ बटाइए। जल्दी आइए...

पंडित : ठीक है। चले चलते हैं। पर वो बेग़म साहिबा, वे दोनों लड़कियाँ और अयूब साहब कहाँ हैं?

नियामत : दोनों लड़कियाँ और बेग़म खाना बना रही हैं।

पंडित : ठीक। बहुत ठीक। पानी को रोकेंगे, नम्बर एक। नम्बर दो–खाना खाएँगे और नम्बर तीन–कुत्तों की तरह मर जाएँगे।

झुनझुनवाला : सवाल फलसफा बघारने का नहीं, सवाल ज़िन्दगी और मौत का है।

पंडित : सवाल ज़िन्दगी और मौत का भी नहीं, मौत और उसकी टाइमिंग का है।

झुनझुनवाला : *(चीख़कर)* ये मौत की बात बन्द करो, नहीं तो मैं तुम्हारी जान ले लूँगा।

पंडित : *(हँसकर)* देख और सोच लो दोस्त, हम दोनों में से मौत के ज़्यादा नज़दीक कौन है।

झुनझुनवाला : *(पंडित पर झपटकर गला पकड़ते हुए)* मैं अभी तुम्हें बताता हूँ, ज़्यादा नज़दीक कौन है।

अब्दुल्ला : अरे रे रे...आप लोग यह क्या कर रहे हैं?

नीरा एक प्लेट में डबलरोटी के स्लाइस लेकर आती है, पंडित और झुनझुनवाला को इस हाल में देखकर चीख़ती, भागती है।

नीरा : दीदी...दीदी...देखो...दीदी...

पंडित और झुनझुनवाला, गुस्से में हाँफते हुए एक-दूसरे के सामने खड़े हैं, नियामत उन्हें अलग कर देता है।

नियामत : *(दोनों की बाँहें पकड़कर)* आप आइए हमारे साथ...पानी अगर ऊपर तक आ गया तो कोई नहीं बचेगा...*(अब्दुल्ला से)* तू क्या सोच रहा है? आ!

नियामत दोनों को साथ लिए चला जाता है। पीछे- पीछे अब्दुल्ला भी जाता है। तभी किचिन के पास वाले दरवाज़े से अयूब आता है। बार के पास आकर ख़ाली शीशी मारकर बार कर ताला तोड़ता है। उसमें से एक बोतल शराब निकालता है और सील तोड़कर घूँट भरता हुआ उसी ओर चला जाता है जिधर से आया था। उसके पास

जाते ही नीरा कुछ खाने का सामान लेकर आती है, मेज़ पर लगाती है। सलमा भी आती है, वह कुछ और खाने का सामान लिए हुए है।

नीरा : दीदी तो यहाँ भी नहीं हैं, कहाँ चली गईं?

सलमा : *(सामान रखते हुए)* उन लोगों का हाथ बँटा रही होगी? *(इशारा उस तरफ़ है जहाँ अब्दुल्ला वगैरह पत्थर रखने गए हैं)* तुम खाने के लिए बुला लो सबको...मैं तब तक सालन ले आऊँ...

जाती है।

नीरा : बुलाने कौन जाएगा...हुँ...

किचिन में चली जाती है।

तभी लस्तपस्त भीगा हुआ झुनझुनवाला आता है। पीछे-पीछे पंडित हाँफता हुआ।

झुनझुनवाला : मेरी बाँहें जवाब दे गई हैं...मुझसे पत्थर नहीं उठाए जा सकते।

पंडित : मौत उठा पाओगे?

झुनझुनवाला : मैं कहता हूँ बकवास बन्द करो। मौत...मौत...।

तभी अब्दुल्ला और नियामत भीगे हुए आते हैं।

अब्दुल्ला : आप लोग यहाँ आ गए? इसका मतलब है बचाव का इन्तज़ाम करना छोड़ दिया जाए!

झुनझुनवाला : कोई और रास्ता सोचो अब्दुल्ला।

अब्दुल्ला : कोई और रास्ता...और क्या रास्ता हो सकता है?

पंडित : एक रास्ता हवा में है...*(झुनझुनवाला की ओर इशारा करके)* इसे मालूम है। इससे पूछो...ज़िन्दगी-भर गलत काम करके यह हवा में से रास्ता निकालकर आज तक बचता रहा है...

झुनझुनवाला : पंडित!

झुनझुनवाला का चीख़ना सुनकर किचिन से आती सलमा और नीरा ठिठक जाती हैं। ठिठककर आगे बढ़ती हैं।

सलमा : *(सालन रखकर एक क्षण सबको देखती है)* आप लोग खाना खा लीजिए...

नियामत : *(अब्दुल्ला से)* चल, तब तक कोने पर दो-चार पत्थर और डाल दे...

अब्दुल्ला और नियामत चले जाते हैं।

नियामत : *(पंडित और झुनझुनवाला से)* रीता दीदी कहाँ हैं? आप लोगों के साथ नहीं थीं?

पंडित : अयूब साहब कहाँ हैं? तुम लोगों के साथ नहीं थे...

सलमा : आप लोग खाना खाइए। जो कहीं हैं वे भी आ जाएँगे अभी। *(पंडित की ओर तश्तरी बढ़ाती है)* लीजिए...

पंडित : मुझे भूख नहीं है।

सलमा : सचमुच नहीं है!

पंडित : *(प्लेट झपट लेता है)* है भूख! है भूख! भूख ही भूख है! सिर्फ़ भूख...

प्लेट से बेतहाशा खाना शुरू करता है। तभी रीता किचिन के पास वाले दरवाज़े से हाँफती, कुछ लड़खड़ाती और बेहाल-सी आती है। उसकी कमीज़ छाती पर फटी हुई है, बटन टूटा हुआ है। वह आकर एक कुर्सी पर बेहाल बैठ जाती है। कोई कुछ नहीं कहता, सिर्फ़ उसे सब लोग ताकते रह जाते हैं। सलमा चुपचाप एक क्षण उसे देखती है। फिर प्लेट में खाना डालकर देती है। रीता पागलों की तरह खाने को, फिर सबको देखती है फिर प्लेट को देखती है।

पंडित : *(उसकी तश्तरी की तरफ़ इशारा करके)* भूख!...खाओ... खाओ...भूख...

रीता : हाँ...*(हँसती है, और हँसते-हँसते रो पड़ती है)* हाँ...हाँ...हाँ...

नीरा : *(अवाक्)* दीदी...रीता दीदी!

सलमा : *(रीता को सँभालकर)* यहाँ आओ...मेरे साथ आओ...

रीता को उठाकर किचिन में ले जाती है। नीरा पीछे- पीछे चली जाती है।

पंडित : *(एकटक उन्हें जाता देखता रहता है। फिर झुनझुनवाला से)* देखा!

अयूब : *(शराब के नशे में धुत्त)* हाँ देखा...और देखूँगा...

झुनझुनवाला : क्या?

अयूब : औरतें।

झुनझुनवाला : कहाँ हैं?

अयूब : उधर...

बाहर की ओर इशारा करता है।

झुनझुनवाला : उधर कहाँ?

अयूब : उदर...मुझे एक औरत चाहिए। औरत...जो मौत के खतरे के बावजूद मेरा...साथ दे सके। समझे। नहीं समझे...कोई बात नहीं...

कहता हुआ बाहर की ओर लुढ़कता चला जाता है। पंडित हाथ पोंछता हुआ उठता है।

पंडित : वो आदमी ठीक कहता है।

झुनझुनवाला : क्या ठीक कहता है?

पंडित : ऐसी औरत चाहिए जो मौत के खतरे के बावजूद साथ दे सके।

बार का टूटा हुआ ताला देखता है।

झुनझुनवाला : ऐसी औरत होती है...

पंडित : होती है!

झुनझुनवाला : कहाँ देखी है?

पंडित : अपने घर में! मेरी औरत...

झुनझुनवाला : क्या मतलब?

पंडित : मेरी औरत! मेरी बीवी। जो मौत के खतरे के बावजूद तेरा साथ दे सकती है।

झुनझुनवाला : *(इधर-उधर देखकर)* क्या बक रहा है तू!

पंडित : तुझे मेरी बीवी की नहीं, इस वक़्त भी अपनी इज़्ज़त का ख़याल है...

झुनझुनवाला : यह इल्ज़ाम है!

पंडित : तुझ पर नहीं...ख़ुद अपने पर। ओह...यह ज़िन्दगी...*(बार के पास आकर ब्रांडी निकालता है)* पियोगे। *(ख़ुद एक घूँट पीता है)* यह इल्ज़ाम है ख़ुद अपने पर...

पंडित कहता हुआ बाहर चला जाता है। झुनझुनवाला अवाक् देखता रहता है। फिर पंडित के पीछे चला जाता है। तभी अब्दुल्ला और नियामत आते हैं। हाथ झाड़ते, हाँफते। अब्दुल्ला बार का ताला टूटा हुआ देखता है।

अब्दुल्ला : या ख़ुदा...ये ताला...और बोतलें...

नियामत : बोतलें। एक बोतल तो पंडित के हाथ में थी।

अब्दुल्ला : तो ताला उसी ने तोड़ा होगा...

नियामत : मैं उधर गया था, एक बोतल अयूब साहब के हाथ में थी।

अब्दुल्ला : तो उन्होंने तोड़ा होगा।

नियामत : और गुड्डो भी मुझे लगता है कि...

अब्दुल्ला : कोई भी पिये मेरी बला से, पर हिसाब के ये पैसे कहाँ से आएँगे?

नियामत : पैसे वसूल करना तेरा काम नहीं, तेरा काम है कॉपी में हिसाब लिखना।

अब्दुल्ला कॉपी निकाल लेता है।

: लिख, दो बोतल!

अब्दुल्ला : सब एक ही के नाम?

नियामत : एक ही के नाम।

अब्दुल्ला : किसके नाम?

नियामत : ख़ुदाई कहर के नाम।

अब्दुल्ला : ख़ुदाई...नहीं, नहीं...इस कहर से कौन पैसे वसूल कर सकता है?

नियामत : बार का मालिक, तेरा शफ़ी साहब। जो हरेक से पैसे वसूल कर सकता है।

अब्दुल्ला : तुझे हँसी सूझ रही है?

नियामत : मैं हँसी नहीं कर रहा। बल्कि दो की जगह तीन बोतल लिख...

अब्दुल्ला : तो एक बोतल और भी...

नियामत : एक बोतल ख़ुद खोल ले। आधी तेरे लिए; आधी मेरे लिए।

अब्दुल्ला : हँसी छोड़...*(कुछ सामने देखते हुए)* इस वक़्त मैं एक चेहरे को अपनी आँखों से ओझल कर लेना चाहता हूँ।

नियामत : कौन-से चेहरे को?

अब्दुल्ला : वो जो मुझे सामने नज़र आ रहा है।

नियामत : मेरे चेहरे को?

अब्दुल्ला : नहीं, एक बूढ़े चेहरे को...जो उस पार की भीड़ में कहीं खोया हुआ है।

नियामत : यहाँ से तो कोई चेहरा नज़र नहीं आता...

मुड़कर बाहर की ओर देखता है।

अब्दुल्ला : सिर्फ़ वह चेहरा नज़र आता है। वो मेरी माँ के बूढ़े चेहरे जैसा है।

नियामत : असल में वह चेहरा मौत का चेहरा है।

अब्दुल्ला : *(गुस्से से)* तू चला जा यहाँ से...मैं इस वक़्त मौत का ज़िक्र नहीं सुनना चाहता...एक बार अपने लड़के का चेहरा देखे बग़ैर मैं हरगिज़ नहीं मर सकता, हरगिज़ नहीं...

नियामत : बाहर निकलकर उस पार की भीड़ पर नज़र डाल। वह चेहरा भी तुझे उस भीड़ में ही कहीं नज़र आ जाएगा...आ, मैं दिखाऊँ तुझे।

कहते-कहते नियामत बाहर निकल जाता है।

अब्दुल्ला : ओ ख़ुदा...तेरा कोई नज़र आने वाला चेहरा क्यों नहीं है? *(वह भी नियामत के पीछे-पीछे चला जाता है)* ओह ख़ुदा...

रीता थकी और बदहवास-सी आती है। पीछे-पीछे नीरा है। नेपथ्य में अब्दुल्ला की अज़ान की आवाज़ सुनाई दे रही है। रीता और नीरा करीब-करीब झगड़ती हुई आ रही हैं।

नीरा : तुम कुछ बात क्यों नहीं करतीं दीदी? तुम्हें हुआ क्या है?

अज़ान की आवाज़ आती है।

रीता : हट जा...तू भी चली जा यहाँ से...मुझे अकेला रहने दे...

नीरा : कहाँ चली जाऊँ, किसके पास...

सुबकती-सी है।

नीरा : कहीं भी, किसी के पास...*(नीरा चलने लगती है)* अच्छा मत जा, यहीं बैठ, मेरे पास...*(नीरा बैठ जाती है)* मैं तुझे यहाँ जानवरों के बीच अकेला नहीं छोड़ सकती...

नीरा : यहाँ जानवर भी हैं?

रीता : हाँ, ये सब जानवर ही हैं।

नीरा : सब जानवर...

रीता : हाँ, एक को मैंने जान से मार दिया होता, क्योंकि उसने...क्योंकि उसने कोशिश की थी...मुझे...

नीरा : नहीं-नहीं, तुम किसी को जान से नहीं मार सकतीं...तुम तो...

रीता : नहीं मार सकी मैं उसे क्योंकि...क्योंकि मेरे हाथ दहशत से कमज़ोर पड़ गए थे...

नीरा : दहशत से...

रीता : ओह! दहशत मुझे उससे नहीं थी। एक और जानवर से थी जो मेरे अपने अन्दर से...ओह!

नीरा : तुम क्या कह रही हो दीदी...

रीता : *(अपने में डूबी हुई)* मैं उसे अपने से परे हटा रही थी और वह जानवर उसे अपने पास बुलाना चाह रहा था। वह चाह रहा था कि मरने से पहले एक बार...चाहे...कुछ भी हो...सिर्फ़ एक बार...

नीरा : तुम किन जानवरों की बात कर रही हो दीदी?

रीता : अच्छा है, उन जानवरों की बात तू अभी नहीं जानती। शायद तू अब कभी जान भी नहीं पाएगी, क्योंकि थोड़ी देर में अब...

नीरा : थोड़ी देर में अब...थोड़ी देर में क्या होने वाला है?

रीता : तू इतना भी नहीं सोच सकती कि क्या होने वाला है? अच्छा ही है, अगर सोच न सके...तेरा यह भोलापन ही सबसे बड़ी ताकत है तेरी...

नीरा : मेरी समझ में कुछ नहीं आता दीदी...चलो, चलकर म्यूज़िक सुनेंगे...रिकार्ड लगाएँगे अपनी पसन्द के...

अज़ान की आवाज़ फिर आती है।

यह अब्दुल्ला चुप क्यों नहीं करता? चीख़ता ही चला जा रहा है।

रीता : वो अपनी इस आवाज़ के सैलाब में अपने अन्दर की किसी चीज़ को डुबो लेना चाहता है, शायद...

नीरा : मुझे यह आवाज़ बहुत डरावनी लग रही है...चलो दीदी, लाउंज में चलें...रिकार्ड सुनेंगे...

तभी अयूब और सलमा आते हैं। अयूब पी रहा है बोतल से ही। सलमा उसे पकड़ने की कोशिश करती पीछे आती है।

अयूब : कहाँ है...कहाँ है वह छोटी लड़की!

सलमा : *(उसे पकड़ लेती है)* होश में आओ...मैं कहती हूँ होश में आओ...

रीता और नीरा भय से एक ओर दुबक जाती हैं।

अयूब : मैं होश में हूँ सलमा...बिलकुल होश में...दरिया में बह जाने से पहले एक बार...पानी यहाँ तक *(गले तक)* बढ़ आने से पहले एक बार मैं उसके भोलेपन के साथ...उसकी इन्नोसेन्स के साथ...

सलमा : तुम उसकी तरफ़ देख भी नहीं सकते।

अयूब : क्यों?

रीता : *(एकदम आगे आकर)* इसलिए कि वह अकेली नहीं है।

सलमा : और तुम जो चाहते हो, वह नहीं कर सकते।

अयूब : *(सलमा से)* अब सुनाई दी तुम्हें अपने अन्दर से कुछ आवाज़...अपने कब्रिस्तान में कोई मुरदा तुम्हें अचानक जागता लगा?

सलमा : मैं सोचती भी नहीं थी कि तुम इतने नाकारा हो सकते हो...अगर तुमने कुछ भी कोशिश की तो...मैं उसे...हम दोनों *(रीता को आगे खींच लेती है)* उसे बचाने के लिए...

अयूब : मैं उसे...हम दोनों उसे...आज पहली बार तुम्हारे मुँह से सुना है कि तुम किसी के साथ...किसी के साथ एक होकर अपने बारे में सोच सकती हो।

सलमा : मुझे तुम्हारी दलीलबाज़ी से नफरत है!

अयूब : नफरत, तुम्हें...तुम्हारा मेरा कोई रिश्ता नहीं...सिवा उन अधूरे लमहों के...और नफरत का सवाल बिना रिश्तों के नहीं उठता...और रिश्ते कायम होते देर लगती है। *(रीता की बाँह पकड़ता है)* पर अब इस मौत के साये में कुछ रिश्ते तय होकर रहेंगे...

रीता को अपनी तरफ़ खींचता है।

नीरा देखती हुई लाउंज में भाग जाती है।

रीता : मुझे छोड़ दे, नहीं तो...मैं कहती हूँ...

उससे छूटने की कोशिश करती है।

सलमा : *(एकदम उस पर झपटकर)* बदज़ात! नाकारा...इसे छोड़ दे, नहीं तो ख़ून हो जाएगा!

अयूब से रीता छूट जाती है, तीनों हाँफते खड़े रहते हैं...आग बरसाती आँखों से सलमा और रीता उसे देखती रहती हैं।

रीता : मुश्किल सिर्फ़ यह है कि यहाँ से कहीं जाया नहीं जा सकता...

सलमा : तुम उधर जाओ...जाओ *(रीता से कहती है)*

रीता भी लाउंज में चली जाती है।

अयूब : *(लाउंज की तरफ़ देखकर)* वह छोटी लड़की कहाँ है?

उस तरफ़ एक क़दम बढ़ाता है तो सलमा उसे पकड़ लेती है।

सलमा : न...हीं...तुम कहीं नहीं जा सकते...

अयूब : क्यों? मैं तुम्हें मौका देना चाहता हूँ कि तुम मुझसे और नफरत कर सको...

जाना चाहता है।

सलमा : *(सामने आकर)* तुम उस लड़की के पास हरगिज़-हरगिज़ नहीं जा सकते।

अयूब : लेकिन क्यों?

सलमा : क्योंकि वह...क्योंकि मैं...

अयूब : ओह! तुम अपनी वजह से कह रही हो...तो मतलब है कि तुम अब भी कहीं अन्दर से मुझे...यह अन्दर की आवाज़ क्या है?

सलमा : अन्दर बिल्कुल ख़ामोशी है।

अयूब : है नहीं, थी! अभी कुछ पल पहले तक। अब वह ख़ामोशी नहीं है...वहाँ अब कुछ और है...

सलमा : क्या है?

अयूब : एक खौफनाक आवाज़। एक साथ हँसने और रोने की...चीख़ने और गुस्सा होने की।

सलमा : हँसना और रोना! कैसा हँसना और कैसा रोना...चीख़ना और गुस्सा होना...

अयूब : मैं तुम्हें तुम्हारे अन्दर की इन्हीं आवाज़ों का एहसास कराना चाहता हूँ...कि फलाँ वक़्त तुम्हारे अन्दर हँसी उबल रही थी... फलाँ वक़्त तुम अन्दर से चीख़ रही थीं। फलाँ वक़्त तुम्हारे अन्दर कुछ बेतरह टूट रहा था।

सलमा : तुम खामख़ाह यह सब सोच-सोचकर अपना जी ख़ुश रखना चाहते हो।

अयूब : नहीं सलमा...तुम एक कब्रिस्तान हो, जिसमें यह-यह-यह-यह सब दफ़न है।

सलमा : तुम...लेकिन तुमने उस लड़की को...

अयूब : ओह! वह बड़ी लड़की रीता! वह भी तुम्हारी ही तरह एक कब्रिस्तान बन रही है...क्योंकि उसका भोलापन, उसकी इन्नोसेन्स भी मर चुकी है...जिसके बाद आदमी-औरत के भीतर सब कुछ दफ़न होता जाता है...कुछ भी भीतर सें नहीं फूटता।

सलमा : फूटता है...गुस्सा और...

अयूब : और?

सलमा : नफरत...

अयूब : पर तुम्हारे अन्दर की आवाज़ नफरत की नहीं है...

सलमा : है!

अयूब : नहीं...यह नफरत की नहीं ऊब की आवाज़ है।

सलमा : जिसने मुझे ख़ुदकुशी के कगार तक पहुँचा दिया था!

अयूब : वह कगार अब भी मौजूद है। मुझे जहाँ जाना है, मैं चला जाता हूँ। तुम्हें जहाँ जाना हो, तुम जा सकती हो।

सलमा : तुम इस वक़्त मेरे पास से नहीं जा सकते।

अयूब : पर तुम तो मुझसे ऊब चुकी हो...

सलमा : हाँ, ऊब तो चुकी हूँ!

अयूब : तो?

सलमा : पर ख़ुदकुशी और अनचाही मौत में बहुत फ़र्क़ है!

अयूब : तो तुम चाहती हो कि मैं...

सलमा : कि इस अनचाही मौत के वक़्त तुम मेरे पास रहो।

अयूब : लेकिन क्यों?

सलमा : क्योंकि मैं चाहती हूँ। मैं तुमसे सिर्फ़ इतना ही चाहती हूँ...सिर्फ़ इतना ही...

कोमल हो उठती है।

अयूब : सुनो, तुम सिर्फ़ चाहती हो, या मुझे भी चाह सकती हो...शायद वह रिश्ता हमारे बीच कब का टूट गया है!

सलमा : मैं नहीं जानती...मैं चाहती हूँ कि तुम एक बार मुझे...

अयूब : नहीं...नहीं...नहीं...क्योंकि तुम्हारी इन्नोसेन्स मर चुकी है...तुम्हारा भोलापन कहीं खो गया है। उसके बाद भीतर सब कुछ सिर्फ़ दफ़न हो सकता है...और मैं सिर्फ़ दफ़न नहीं होना चाहता...मैं तुम्हारे भीतर भी जीना चाहता हूँ...

लाउंज से रिकार्ड की धीमी-धीमी आवाज़ आती है।

सलमा : तो तुम समझते हो कि तुम...कि तुम मुझे ज़लील करके...

अयूब : यही-यही...बिलकुल यही कि मैं तुम्हें ज़लील करके...या तुम मुझे दफ़न करके ज़िन्दा तो हम दोनों रह सकते हैं, जी नहीं सकते।

सलमा : तो तुम मुझे ज़लील करोगे...करते जाओगे?

अयूब : और तुम मुझे दफ़न करोगी और करती जाओगी?

सलमा : मैं तुमसे नफरत करूँगी और करती जाऊँगी!

अयूब : तो मैं भी तुम्हें ज़लील करूँगा और करता जाऊँगा!

सलमा : *(चीख़कर)* चले जाओ यहाँ से...हट जाओ मेरे पास से...मैं तुमसे नफरत करती हूँ...नफरत...नफरत!

अयूब : सचमुच! *(वह चला जाता है)*

रिकार्ड की आवाज़ तेज़ हो जाती है। रिकार्ड के गीत का कथ्य ज़िन्दगी की हलचल का है।...उसमें शब्द न भी हों, उसकी लय से यह ध्वनित हो सकता है। जाज़ म्यूज़िक का तेज़ लय का कोई रिकार्ड हो सकता है। सलमा अपना मुँह ढाँपे एक कोने में पड़ी रहती है। अयूब चला गया है।

तभी पंडित और झुनझुनवाला भीतर आते हैं। झुनझुनवाला अपना पोर्टफोलियो लिए हुए है।

पंडित : *(कुछ नशे में)* बहुत अच्छे! यहाँ तो फेस्टिवल चल रहा है। *(संगीत की आवाज़ सुनकर)*

रीता और नीरा की हँसी की आवाज़ और यह आभास कि वे म्यूज़िक की लय पर नाच रही हैं।

बहुत अच्छे!

झुनझुनवाला : पानी पहले से और ज़्यादा नज़दीक आ गया है।

पंडित : हाँ, बढ़ता हुआ पानी...हँसी, नाच, संगीत। यह फेस्टिवल तो है ही। मौत का समारोह!

झुनझुनवाला : लगता है सब लोग डर और दहशत से पागल हो गए हैं।

पंडित : पागल! अरे झुनझुन...

झुनझुनवाला : झुनझुनवाला कहो।

पंडित : हूँ, अरे वाला, अब दोनों को मिला लो, जो तू अपने को पुकारता है वह हो जाएगा...हाँ, पागलपन अपने-आप और अपने-आपके बीच की एक दीवार फलाँग जाने का नाम है। झुनझुन और वाला के बीच की दीवार फलाँग जाने का। समझा!

सिगरेट निकालता है।

झुनझुनवाला : तुम्हारे सिगरेट तो खत्म हो गए थे!

पंडित : हाँ, मगर अब बहुत हैं।

झुनझुनवाला : कहाँ से आए?

पंडित : अन्दर स्टोर की पेटी से...

झुनझुनवाला : बिना पूछे ले आए?

पंडित : आज यहाँ किसी भी चीज़ की किसी की भी मिल्कियत नहीं है। किसी भी चीज़ की कोई कीमत नहीं है...

झुनझुनवाला : एक सिगरेट मुझे दो।

पंडित : तुम पिओगे?

सिगरेट देता है।

झुनझुनवाला : मैं कुछ सोचना चाहता हूँ।

सिगरेट सुलगाता है।

पंडित : सोचने की ताकत रह गई है तुममें?

झुनझुनवाला : दिमाग़ की सब दरारें बन्द हो गई लगती हैं। किसी तरह उन्हें खोलना चाहता हूँ।

पंडित : पानी भर गया है? सोचने से क्या होगा?

झुनझुनवाला : सोचने से क्या होगा? मैंने सोच भी लिया है...

पंडित : क्या?

झुनझुनवाला : कि आदमी आज भी अपने से बाहर की ताकतों से लड़ क्यों नहीं पाता?

पंडित : तुम लड़ने की बात करते हो। औरों की लड़ने की ताकत सोखकर आज तुम लड़ने की बात करते हो...

झुनझुनवाला : मैं सोचता था, कोई भी स्थिति ऐसी नहीं होती, जिसमें कुछ न हो सकता हो!

पंडित : कुछ न कुछ होता हर स्थिति में है...यह और बात है कि वह वह न हो, जो तुम चाहते हो।

झुनझुनवाला : एक बाढ़...एक भूचाल और आदमी का किया-धरा सब बेकार हो जाता है।

पंडित : इतिहास यही है। पर झुनझुन...अब इतिहास का भी बँटवारा होगा...तुम्हारा इतिहास...और तुम्हारे विरुद्ध एक इतिहास।

झुनझुनवाला : इतिहास एक रद्दी की टोकरी है जो जब काग़ज़ की गेंदों से भर जाती है तो ख़ाली कर दी जाती है...

पंडित : फिर भी इतिहास से ही एक समाप्ति और दूसरी शुरुआत का एहसास होता है।

झुनझुनवाला : यह भी कोई शुरुआत है क्या?

पंडित : किसी न किसी रूप में तो है ही...तुम्हारे लिए न सही।

झुनझुनवाला : मेरे पास इतना कुछ है...मेरी इतनी-इतनी योजनाएँ हैं, इतनी शुरुआतों की रूपरेखा मेरे दिमाग़ में है...

पंडित : हैं नहीं, थीं।

झुनझुनवाला : थीं नहीं, हैं। जिस क्षण तक आदमी ज़िन्दा है...

पंडित : यही तो त्रासदी है कि जब तक आदमी ज़िन्दा रहता है, तब तक समझता है कि है, और जब वह 'था' हो चुकता है, तब वह ज़िन्दा नहीं होता। वह अपने से पीछे के इतिहास को ही देख पाता है, अपने को इतिहास होते नहीं देख पाता। अपने गुज़र जाने का साक्षी नहीं होता।

झुनझुनवाला : *(बिगड़कर)* तुम अन्दर से पस्त हो चुके हो, मैं अब भी पस्त नहीं हूँ।

पंडित : तुम पस्त नहीं हो, ऐसा नहीं है...तुम अपनी पस्ती को स्वीकार करते डरते हो...

झुनझुनवाला : तुम बहुत पी गए हो!...चुप करो। मुझे सोचने दो...कोई न कोई रास्ता ज़रूर होना चाहिए जिससे...

पंडित : जिससे इतिहास से बचा जा सके...एक रास्ता है...

झुनझुनवाला : कौन-सा...किधर...

पंडित : सीधे समन्दर की तरफ़।

झुनझुनवाला : तुम होश में नहीं हो।

पंडित : *(ताश की गड्डी निकालकर)* आओ, दो हाथ हो जाएँ, अभी पता लग जाएगा कि कौन होश में नहीं है...

ताश फेंटता है।

झुनझुनवाला : ताश छोड़ो...मुझे कुछ ज़रूरी काम करने हैं...*(पोर्टफोलियो खोलकर चैकबुक निकालता है)* मैं सब कर्ज़े अदा करके मरना चाहता हूँ।

पंडित : अदा करके या वसूल करके?

झुनझुनवाला : वसूल भी करना है। रमी के दो सौ सत्तानवे रुपये बीस पैसे तुम्हारे ऊपर हैं...याद है?

पंडित : याद है। लेकिन मैंने यह कब कहा कि मैं कर्ज़ा अदा करके मरना चाहता हूँ।

झुनझुनवाला : ख़ैर...*(एक चैक लिखकर)* ये दो लाख पाँच हज़ार का चैक लालचन्द बालचन्द को दे देना...उनका कमीशन देना था। ये एक लाख सत्ताईस हज़ार पाँच सौ ठेकेदार गुरनानी को... *(तीसरा लिखता है)* और तीन लाख चालीस हज़ार लोहे वाले टेकचन्द को। ये पैंतीस हज़ार इन्जीनियर चटर्जी का कमीशन...

पंडित : लेकिन चटर्जी तो चैक लेगा नहीं। कैश लेगा...

झुनझुनवाला : *(सारे चैक फाड़कर पंडित को देते हुए)* इस वक़्त और कुछ नहीं किया जा सकता...कैश कहाँ है?

पंडित : लेकिन क्या तुम वह सब कर्ज़े भी उतार सकते हो जो तुम्हारे ख़ून को अदा करने हैं?

झुनझुनवाला : हवाई बातें बाद में करना...

पंडित : और ये चैक मुझे दे रहे हो जैसे यह सब हवाई नहीं है...कि मैं इस तैरती मौत से बचकर जाने वाला हूँ!

झुनझुनवाला : (जैसे समझकर) *हैं!*

तभी अब्दुल्ला बदहवास चीख़ता आता है। पीछे-पीछे नियामत भी है, पर काफ़ी पीछे।

अब्दुल्ला : वह अन्दर आ गया है...अन्दर आ गया है।

झुनझुनवाला : क्या?

पंडित : अब्दुल्ला!

नियामत एक क्लाक पकड़े घबराया भीतर आता है।

नियामत : *(चीख़ता हुआ)* पानी अन्दर आ गया है...पानी अन्दर आ गया है...*(क्लाक दबाए हुए)* जो-जो चीज़ें बचानी हों, बचा लीजिए। अरे सब कहाँ हैं?

नियामत इधर-उधर देखता है। फिर आवाज़ लगाता है।

अयूब साहब! सैलाब भीतर आ गया है! गुड्डो...नीरा...बेग़म साहिबा...

सब भौंचक्के रह गए हैं। सलमा आँखें खोलती है।

झुनझुनवाला : मुझे सिर्फ़ यह पोर्टफोलियो बचाना है...इसमें वह सब है जो और के हाथ पड़ गया, तो मैं कुत्ते की मौत मारा जाऊँगा...

पंडित : *(अपने ताश की गड्डी दिखाकर)* मुझे सिर्फ़ ताश।

नियामत : *(अपनी क्लाक दिखाकर)* मुझे यह घड़ी...इसकी सुइयों के मुताबिक मुझे क्लब खोलना-बन्द करना पड़ता है।

अब्दुल्ला : *(हिसाब की कॉपी उठाकर)* मुझे यह हिसाब की कापी...नहीं तो शफ़ी साहब कभी माफ नहीं करेंगे...

रीता भागी हुई आती है।

रीता : *(तमाम रिकार्ड लिए हुए)* मुझे यह संगीत।

सलमा चुपचाप आगे आ गई है और वह ख़ामोश खड़ी है।

नियामत : आपको बेग़म? आपकी कोई चीज़ अन्दर हो तो...

सलमा : मेरा? अन्दर! कुछ भी तो नहीं है।

अब्दुल्ला : आपके वो?

सलमा : मेरे वो? मेरे वो कौन?

रीता : वही अयूब। मैं लाउंज में खड़ी आईने में अपने को देख रही थी तो वह पीछे आकर खड़ा हो गया और बोला–किसे देख रही हो इसमें!

पंडित : मैं जब बाहर था तो अयूब मेरे पास आया था...मुझसे बोला–ताश के खेल देखोगे? पर मैंने गड्डी उसे नहीं दी।

झुनझुनवाला : मेरे पास भी आया था...पूछ रहा था, यहाँ कहीं रस्सा नहीं मिल सकता? शायद दरिया पार करने की कोई तरकीब सूझी थी उसे...

नियामत : लाउंज के बाहर अयूब साहब मुझसे काग़ज़ और कलम माँग रहे थे।

अब्दुल्ला : और मुझसे शराब की एक और बोतल।

सलमा : उन्हें सबसे कुछ न कुछ चाहिए। किसी से कुछ लेना है, किसी को कुछ देना। सिर्फ़ मुझसे ही उन्हें कुछ नहीं चाहिए।

नियामत : लेकिन वो हैं कहाँ?

सलमा : वो किसी की तलाश में हैं।

झुनझुनवाला : किसी की तलाश में?

सलमा : एक लड़की की तलाश में।

नियामत : कौन लड़की, यहाँ नहीं है? नीरा...

तभी अयूब आता है। शराब की बोतल लिए हुए।

अयूब : अरे यह क्या? *(सबको देखकर)*

सलमा : नीरा कहाँ है?

अयूब : मुझे क्या मालूम?

पंडित : *(उसे कालर से पकड़ता है)* नहीं बताओगे?

सलमा : अगर तुमने उसे ख़राब करके पानी के हवाले कर दिया है तो बता क्यों नहीं देते?

अयूब : *(पंडित का हाथ कालर से आसानी से हटा देता है)* तुममें से कोई नहीं बता सकता, इसका नतीजा यह तो नहीं निकाला जा सकता कि मैं बता सकता हूँ। *(शराब का घूँट लेने की कोशिश करता है)*

पंडित : *(झटके से अयूब की बोतल दूर गिरा देता है)* बताता है कि नहीं? *(उसकी गर्दन थामता है)*

सलमा : *(जैसे कुछ आहट लेकर)* छोड़ दो इसे।

पंडित : यह बताता क्यों नहीं?

सलमा : मैं बताती हूँ।

झुनझुनवाला : तुम्हें पता है?

सलमा : सब लोग ख़ामोश हो जाओ...एक पल के लिए...

सब लोग ख़ामोश होकर सुनते हैं : नीरा के सुबकनें की आवाज़ आती है। वह आवाज़ पास आती जाती है। फिर नीरा अन्दर आती है। रोती, सुबकती।

रीता : नीरा...नीरा...क्या हुआ है तुझे?

नीरा : *(एक क्षण रीता को देखकर उससे लिपट जाती है, रोती हुई)* मुझे बहुत डर लग रहा है दीदी...

रीता : किस चीज़ से...

नीरा : हर चीज़ से। अँधेरे से, तुम सबसे...मुझे तुमसे भी आज डर लग

रहा है, दीदी। तुमसे भी। *(कहते हुए वह अयूब की ओर फटी-फटी आँखों से देखती है और एकदम चीख़ पड़ती है)* इस...इस दरिन्दे से; दीदी...*(और रो पड़ती है)*

तभी कुछ और गिरने क़ी आवाज़; पानी का बेतहाशा शोर। सब लोग अवाक्, हताश, सहमे-डरे खड़े रह जाते हैं। फिर ऐसा अभिनय कि जैसे पानी का रेला वहाँ भी आ गया हो, जहाँ सब लोग खड़े हैं। सब पानी से बचने की कोशिश करते हैं।

झुनझुनवाला :

नियामत : पानी...पानी आ गया...ओह...अब क्या होगा!

रीता :

पंडित :

अब्दुल्ला : या ख़ुदा...या ख़ुदा...या ख़ुदा!

नियामत : ख़ुदा को पीछे छोड़कर आगे चलो अब...

अब्दुल्ला : ख़ुदा को पीछे छोड़कर तो आगे दोज़ख़ ही दोज़ख़ है।

अयूब : हम इस वक़्त जहाँ हैं, वह दोज़ख़ ही है।

पंडित : सबने इतनी चीज़ें जमा की थीं, एक लालटेन भी रख ली होती तो कितने काम आती!

झुनझुनवाला : यह पता नहीं था कि बिजली भी दगा दे जाएगी।

पंडित : यह कहो कि यह पता नहीं था कि रोशनी तुम्हें भी दगा दे जाएगी...

झुनझुनवाला : क्या?

पंडित : हाँ।

अयूब : इस वक़्त उस बिजली की फ़िक्र करो जो अपने भीतर गुल होने को है...

अब्दुल्ला : आदमी की बनाई सभ्यता ऐन वक़्त पर दगा दे जाती है...

पंडित : आदमी की सभ्यता। अपनी सभ्यता कहो...जो यहाँ-वहाँ कुछेक जगहों पर ही रोशनी दे रही है और किसी भी वक़्त दगा दे सकती है।

नियामत : अब यहाँ से निकलने की तरकीब कीजिए...नहीं तो यहीं घिर जाएँगे और यह इमारत हमें दफ़न कर देगी...

अब्दुल्ला : या ख़ुदा!

पंडित : सब लोग एक-दूसरे की बाँहें थाम लें और बाहर निकलने की कोशिश करें...

सब एक-दूसरे की बाँहों में बाँहें डाल लेते हैं। अन्त में अयूब और सलमा की कड़ी टूटी रह जाती है। पर सलमा सँभलती हुई चल रही है। नीरा थकी है। अँधेरे में पानी के बीच से रास्ता टटोलता ग्रुप।

नियामत : होश। साहबा...*(जैसे गहरे पानी में चला गया हो)*।

पंडित : सँभाल के...

झुनझुनवाला : बहुत अँधेरा है। कुछ दिखाई नहीं देता...

अब्दुल्ला : या ख़ुदा! शफ़ी साहब ने छुट्टी नहीं दी...

रीता : *(नीरा से)* तू ठीक से चल क्यों नहीं रही?

नियामत : होश...होश...

सलमा : *(अयूब से)* हम लोग इस वक़्त कहाँ जा रहे हैं?

अयूब : किसे पता है! सिर्फ़ इतना पता है कि जा रहे हैं।

पंडित : झुनझुन...वो चैक कहाँ हैं?

झुनझुनवाला : अरे मरा...बचाओ! *(एकदम जैसे गहरे में चला गया हो)*

रीता : *(नीरा से)* तेरी वजह से और लोग भी ठीक से नहीं चल पा रहे हैं। कायदे से चल।

नीरा : मुझसे नहीं चला जाता। तुम लोग मुझे छोड़कर आगे जा सकते हो।

रुकती है

रीता : रुक नहीं, चलती चल।

नीरा : नहीं।

रीता : क्यों?

नीरा : पानी से चलकर पानी में आगे जाने की क्या तुक है?

रीता : सब लोग सूखी ज़मीन तलाश कर रहे हैं।

नीरा : मुझे उन सबसे क्या लेना-देना! मुझे नींद लग रही है...

रीता : सोओगी कहाँ?

नीरा : पता नहीं, जहाँ भी हो।

रीता : तुझे पता है, बग़ैर सूखी ज़मीन के सोया नहीं जा सकता!

नीरा : मैं तुम्हारे कन्धे पर सिर रखकर सो लूँगी।

झुनझुनवाला : ओ साली...मछली ने काट लिया!

पंडित : अभी क्या हुआ है, अभी तो तुझे नन्हे-नन्हे कीड़े-मकोड़े तक काटेंगे...

अब्दुल्ला : वो देखो...सामने पत्थर है...

झुनझुनवाला : हम लोग कुछ देर पत्थर पर बैठ सकते हैं।

पंडित : यह पत्थर कितनी देर टिकेंगे...

नियामत : होश...होश साहबा।

झुनझुनवाला : लगता है मेरे पैर से लहू बह रहा है...

अब्दुल्ला : या ख़ुदा...शफ़ी साहब से पूछना परवरदिग़ार कि मुझे छुट्टी क्यों नहीं दी! मैं लड़के का मुँह तक नहीं देख पाया।

तभी सलमा बैठ जाती है। जैसे पत्थर मिल गया हो और पैरों तले पानी बह रहा हो। रीता भी नीरा का सिर कन्धे से लगाए बैठ जाती है—दूर, दूसरे पत्थर पर। बाक़ी लोग आगे बढ़ गए हैं। अयूब उसे बैठा देखकर आता है।

अयूब : तुम रुक क्यों गईं?

सलमा : क्योंकि मुझे अन्त नज़र आ रहा है।

अयूब : वह नज़र सबको आ रहा है, मगर अभी आया नहीं है। चलो...

सलमा : नहीं!

अयूब : तो तुम्हें ज़बरदस्ती घसीटकर ले चलना पड़ेगा।

सलमा : ज़बर्दस्ती! आज भी!

अयूब : तुम्हें आत्महत्या नहीं करने दी जाएगी।

सलमा : मैं आत्महत्या तो कब की कर चुकी हूँ। आज तो सिर्फ़।...

अयूब : दूसरों की हत्या करने जा रही हो?

सलमा : मैं किसी दूसरे के लिए जिम्मेदार नहीं हूँ।

अयूब : *(अब्दुल्ला से)* इसे उठाकर ले चल सकते हो...

सलमा : मैं नींद में या बेहोश नहीं हूँ।

अब्दुल्ला : लेकिन मैं तो ख़ुद ही यहाँ बैठ जाना चाहता हूँ।

रीता : *(वहीं से बैठे-बैठे)* अब्दुल्ला!...मैं भी यहीं रुक रही...हूँ...।

अयूब : *(अब्दुल्ला से)* तुम नहीं बैठ सकते...शफ़ी साहब को क्या जवाब दोगे?

बाक़ी लोग चलते जा रहे हैं। रीता कुछ दूर पर नीरा को लिए बैठी है। अब्दुल्ला भी चल पड़ा है। सलमा रुकी हुई है। अयूब उसके पास खड़ा है।

अयूब : *(सलमा से)* तुम चलोगी नहीं?

सलमा : नहीं।

अयूब : तुम जानती हो मैं तुम्हारा हठ छुड़ा भी सकता हूँ।

सलमा : छुड़ा सकते हो?

अयूब : हाँ।

सलमा : अपने हठ से...

अयूब : नहीं।

सलमा : तो...

अयूब : *(अनुरोध से उसका हाथ हाथ में लेकर)* चलो...मैं कह रहा हूँ।

सलमा : *(आधी पिघलकर)* नहीं...

उठ खड़ी होती है।

अयूब : तुम मरना क्यों चाहती हो?

सलमा : कोई जीना क्यों नहीं चाहता है?

अयूब : जीना सिर्फ़ जीने के लिए।

सलमा : मरना सिर्फ़ मरने के लिए।

अयूब : ज़िद नहीं करते...देखो, मैं तुमसे कुछ माँग रहा हूँ इस वक़्त।

सलमा : तुमने पहले भी कितना कुछ माँगा है, मगर हर बार तुम्हारी माँग स्वीकार कर लेने का कुछ भी फल नहीं मिला।

अयूब : देखो, तुम मुझे जानती हो...

सलमा : मैं तुम्हें? मैं तुम्हें बिल्कुल नहीं जानती।

अयूब : नहीं जानतीं? कितनी बार कह चुकी हो कि जितना तुम मुझे जानती हो...

सलमा : वह मैं अपने को धोखा देती रही हूँ। अपने को झुठलाती रही हूँ और अपने साथ तुम्हें भी...मैं तुम्हें बिल्कुल नहीं जानती।

अयूब : अगर ऐसा ही है तो एक बार जान लेने की एक और कोशिश कर लेना बुरा नहीं है।

सलमा : एक और कोशिश? कब, कहाँ, किस वक़्त?

अयूब : आज, यहीं, इस वक़्त!

सलमा : पर क्यों?

अयूब : क्योंकि मैं ख़ुद एक बार अपने को जान लेने की कोशिश कर लेना चाहता हूँ।

अयूब ख़ुद भी बैठ जाता है। सलमा को भी बैठा लेता है। दोनों ऐसे बैठते हैं जैसे पानी पहले से बढ़ गया हो।

सलमा : तुम आगे नहीं जाओगे?

अयूब : नहीं।

सलमा : फिर शायद वक़्त भी नहीं रह जाएगा। पानी बढ़ रहा है।

अयूब : पानी को बढ़ने दो। तुम्हारा मुझे जान लेना जीते रहने से ज़्यादा ज़रूरी है। तुमने कहा—तुम मुझे बिल्कुल नहीं जानतीं, और मैं भी जानता हूँ कि नहीं जानतीं...

सलमा : मैं तुम्हें सचमुच नहीं...पर तुम चले जाओ अब।

अयूब : नहीं।

सलमा : तुम्हारा हठ किसलिए है?

अयूब : यह हठ नहीं है।

सलमा : नहीं है।

अयूब : तुम्हें लगता है यह हठ है?

सलमा : जितना मैं तुम्हें जानती हूँ...

अयूब : जानती हो!

सलमा : पता नहीं...

अयूब : और मैं तुम्हें...

सलमा : तुम मुझे बिल्कुल नहीं जानते?

अयूब : मैंने कहा न, जानने की एक बार और कोशिश की जा सकती है।

सलमा : यहाँ वक़्त नहीं है।

अयूब : तो फिर...

सलमा : वे लोग कहाँ पहुँच गए हैं!

अयूब : पता नहीं, अँधेरे में कुछ पता नहीं चलता।

सलमा : *(खड़ी होती है। अयूब का हाथ पकड़ती है)* आओ चलें...

अयूब : जानने के लिए रुकोगी नहीं?

सलमा : *(मुस्कराकर)* मुझे नहीं लगता कि रुककर भी जान पाऊँगी...

अयूब : लेकिन मैं...

सलमा : आओ, चलो...

उसे घसीटकर ले चलती है।

दूसरी चट्टान पर बैठे अब्दुल्ला, नियामत, झुनझुनवाला और पंडित, पास की चट्टान पर नीरा को लिए बैठी रीता। अब अयूब और सलमा कुछ दूर चलकर अँधेरे में गुम हो गए हैं।

पंडित : *(रीता से)* यह सो गई हैऽऽ क्याऽऽ?

रीता : न...हीं...बेहोऽऽश हो गऽऽईऽऽ हैऽऽ

पंडित : अच्छा है।

झुनझुनवाला : क्या?

पंडित : कि वह बेहोश है। उसे पता नहीं लगेगा कि पानी अब भी बढ़ रहा है।

नियामत : यह भी पता नहीं लग रहा कि यह कौन-से दरिया का पानी है, और ये कौन-से का है।

अब्दुल्ला : लिद्दर और शेषनाग का है...

पंडित : पर कौन-सा पानी किसका है?

झुनझुनवाला : ये दोनों दरिया–लिद्दर और शेषनाग–आज तक एक-दूसरे से दूर और अलग बहते थे...

पंडित : और तुम्हारे पैर तले इनके बीच की ज़मीन थी। *(तेज़ जलती आँखों से उसे ताकता है)* पानी और बढ़ रहा है।

पानी की आवाज़ ज़रूरत पड़ने पर जगह-जगह आती रहती है।

अब्दुल्ला : अब कोई तरीका नहीं है!

नियामत : है। आँखें मूँदकर उस पल का इन्तज़ार किया जाए।

पंडित : क्योंकि खुली आँखों से उस पल को नहीं देखा जा सकता।

रीता : *(वहीं से)* पर मैं इन्तज़ार नहीं करूँगी। इससे पहले कि पानी मुझे आ ले, मैं ख़ुद ही इसमें...

नीरा को लिपटाकर खड़ी होती है।

जब तक रीता नीरा को लिपटाकर खड़ी होती है तब तक अयूब और सलमा पानी पार करके उस पत्थर तक आ गए हैं। रीता कूदने को होती है कि अयूब उसे पकड़ता है। सलमा नीरा को सँभालती है।

अयूब : यह क्या कर रही हो?

उसे पकड़ता है।

रीता : मुझे छोड़ दो। मैं अपने निर्णय से अपना अन्त कर लेना चाहती हूँ। मैं एक जानवर की तरह बहा ली जाना नहीं चाहती। तुम सब लोग जानवर हो, जो बहा लिए जाने का इन्तज़ार कर रहे हो...

अयूब : तुम बैठ जाओ...मैं कहता हूँ बैठ जाओ!

रीता : क्यों?

अयूब : क्योंकि सम्भावना जीने की भी हो सकती है।

रीता : अब भी हो सकती है।

अयूब : सम्भावना कभी भी कभी तक हो सकती है।

रीता : तुम सब लोग झूठे हो। खोखले हो। अपने को झूठी आशा और खोखले विश्वास में रखकर जी सकते हो। लेकिन मैं यह स्वीकार नहीं कर सकती...मुझमें अब ताब नहीं है।

अयूब : तुम्हारे पास आशा के लिए बहुत कुछ है। तुम जवान हो।

रीता : मैं जवान हूँ। इसलिए मुझमें अन्त को स्वीकार लेने का साहस है। तुम लोग साहसहीन नपुंसक हो!

अब्दुल्ला, नियामत, झुनझुनवाला और पंडित अब तक बीच का पानी पार करके रीता वाली चट्टान तक आ गए हैं।

पंडित : तुम ठीक कहती हो...

रीता : अगर तुम लोग अन्दर से बिल्कुल मिट्टी नहीं हो गए हो, तो सब अपनी-अपनी इच्छा और अपने चुनाव से अपना अन्त तय करो।

झुनझुनवाला : यह चुनाव नहीं, मजबूरी को चुनाव का नाम देने की कोशिश है।

पंडित : नहीं, रीता बिल्कुल ठीक कहती है...मेरी आज तक की ज़िन्दगी एक नपुंसक आदमी की ज़िन्दगी नहीं रही? रही है! किसलिए? सिर्फ़ ज़िन्दा रह सकने के लिए? नहीं! नहीं! नहीं! ज़िन्दा रह सकने के लिए नहीं, दूसरों की तरह ज़िन्दा रह सकने के लिए। इस दोगले दौर में मैं ख़ुद अपना आप बनकर अपने लिए नहीं रह पाया...मैं एक साया बनकर रह गया, जो कभी इससे, कभी उससे चिपक जाना चाहता था। कभी इस जैसा या उस जैसा हो सकने के लिए स्वाँग बदलता रहता था। घर था। पर घर की ज़िन्दगी नहीं थी। बीवी है पर बीवी नहीं है...उसकी तस्वीरें औरों के बटुओं में बन्द हैं। *(झुनझुनवाला को आग उगलती आँखों से देखता है)* महीनों बाहर भटकना...यह और यह और यह हासिल करके ख़ुश होना चाहना, पर उदास होते जाना...यही मेरा प्राप्य था। पीछे घर में क्या होता था, पता नहीं। एक झूठा खेल। एक-दूसरे क़ो विश्वास दिलाते रहने का। कुछ था, जिससे मैं अपनी हर जीत के साथ हारा हुआ महसूस करता था। कुछ था, जिससे मैं हर वक़्त भागना चाहता था...और इस बार इस झुनझुन के साथ यहाँ आया था, तो भी भागकर...इसी से भागकर इसी के साथ।...इस आदमी के साथ, जिसके चेहरे से

मुझे नफरत है। इसने हमेशा एक कठपुतले की तरह मुझे साथ रखा है। मैं इसके लिए ताश की बाज़ी का वह हाथ हूँ जो इसके हाथ में है...मैं इस वक़्त भी इसका मुँह जोहता हुआ, इसी के ताशों की गड्डी हाथ में लिए नहीं मरना चाहता...*(ताश ज़ेब से निकालकर बिखराकर फेंक देता है)* यह रही इसके ताशों की गड्डी जिसे खेल-खेलकर मैं खोखला हो चुका हूँ। यह कमीज़ *(कमीज़ उतारता है)* यह भी इसकी पसन्द की है। *(उतारकर फेंक देता है)* यह पतलून...*(पतलून उतारता है)* यह भी इसकी पसन्द की है...*(फेंक देता है)* मैं यह सब पहन-पहनकर ख़ुश होता रहा हूँ क्योंकि ये ख़ुश होता था। मैं इसकी ख़ुशी से जीता रहा हूँ, पर मरते वक़्त इसकी ख़ुशी साथ नहीं रखूँगा... मैं मरूँगा अपने नंगेपन के साथ...हालाँकि यह नंगापन भी बिलकुल मेरा अपना नहीं है।

कूदना चाहता है।

झुनझुनवाला : *(चीख़कर)* ठहरो...पंडित, ठहरो!

पंडित : *(ठिठक जाता है)* देखा तुमने, तुम्हारा हुक्म सुनने का कितना आदी हो गया हूँ कि तुम्हारे 'ठहरो' ने इस वक़्त भी मेरे पाँव रोक दिए हैं।

झुनझुनवाला : सुनो पंडित...तुम आए थे मेरे साथ। मेरे कहने से। पर अब तुम्हारे फैसले को स्वीकार करके मैं तुम्हारे साथ ही चल देना चाहूँगा...

अब्दुल्ला : या ख़ुदा...या ख़ुदा...

नियामत मुँह बनाकर आँखें और कान बन्द कर लेता है। बाक़ी लोगों की प्रतिक्रियाएँ—आश्चर्य की।

पंडित : तुम झूठे हो...तुम फिर कोई साज़िश कर रहे हो।

झुनझुनवाला : अभी तक ऐसा ही था, पर अब इस क्षण के बाद ऐसा नहीं है...मेरा इतिहास सिर्फ़ मैं नहीं हूँ...

पंडित : हाँ, सिर्फ़ तुम नहीं हो। एक गलत इतिहास ने तुम्हें बनाते-बनाते, तुम्हें ही इतिहास बनाने का हक दे दिया...

झुनझुनवाला : हाँ...मैं पैदा हुआ तो पहला मन्त्र मेरे कान में फूँका गया था कि दुनिया में बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही जी सकती है। और बड़े होने के साथ-साथ मैंने जाल बुनने सीखे। हर जाल में सैकड़ों मछलियों को उलझाया और ख़ुश होता रहा। दूसरे लोग

कहते थे पैसों के पेड़ नहीं लगते। पर मेरे लोग कहते थे, लगते हैं और ख़ूब लगते हैं। मैंने पैसों के पेड़ लगाकर देखे...वे लगे, फूले-फले...जब पेड़ फूल-फल गए तो मैंने धर्म, नैतिकता, विज्ञान, राजनीति—सबको अपने मूल्य दिए...मूल्य *(हँसता है)*। सीधे-सीधे कहूँ तो सबको अपना व्यापार बनाया। इसका दाम इतना। उसका दाम उतना। हर चीज़, हर बात का प्रतिनिधि मैं था। मैं सबसे बड़ा मछलीमार था जिसके कारखाने में बड़ी-से-बड़ी मछलियाँ डिब्बों में बन्द की जाती थीं। बड़ी-से-बड़ी व्हेल मछली के लिए मैंने चारा ईज़ाद किया...पर आज इस वक़्त मैं देख रहा हूँ कि मैं ख़ुद भी एक मछली हूँ। पानी में तैरती मछली नहीं, अपने ही जाल में फँसकर तड़पती, अपने ही डिब्बे में बन्द। मैं आज तक सैकड़ों जवान लड़कियों के साथ सोया हूँ...उनकी मर्ज़ी से नहीं, अपनी मर्ज़ी से। अपने दोस्तों के घरों को भी मैंने नहीं छोड़ा *(पंडित को हताश भाव से देखता है)* मैंने सैकड़ों कत्ल कराए। करोड़ों का माल स्मगल किया। लाखों रुपये रिश्वत में दिए, करोड़ों का टैक्स बचाकर काला धन जमा किया...इस देश के भीतर एक और अपना ही, अपनी सुविधाओं का देश बनाया, मैं अखबारों में पढ़ता था...लोग वातावरण के दूषण के इलाज ढूँढ़ने की कोशिशें कर रहे हैं। आबोहवा में तर गए ज़हर को साफ़ करने की तरकीबें खोज रहे हैं...कमेटियाँ बन रही हैं। कमीशन बैठाए जा रहे हैं...सब पढ़कर मुझे हँसी आती थी। क्या कोई भी कमेटी, कोई भी कमीशन इस वातावरण को मुझसे साफ़ कर सकता है?...लेकिन, लेकिन...आज मैं जान सका हूँ कि मैं दूसरों की ही मौत नहीं, ख़ुद अपनी मौत भी हूँ...इस बाढ़ पर मेरा वश नहीं है...यह दरियाओं के मिल जाने से आई बाढ़ जिसने बीच की ज़मीन को, मेरे द्वीप, मेरे टापू को नेस्तनाबूद कर दिया है...पंडित! आज एक बार मुझे अपना साथ दे लेने दो। मैं तुम्हारी तरह चाहते हुए भी अपने को बिल्कुल नंगा नहीं कर पाऊँगा...क्योंकि मैं अपने नंगेपन को देखने लायक भी नहीं रह गया हूँ। अब जो भी, जैसा कुछ भी है उसी के साथ मुझे भी मर लेने दो...

नियामत आँखें और कान खोल लेता है। सब अवाक् देख रहे हैं।

अब्दुल्ला : या ख़ुदा मेरी समझ में कुछ नहीं आता...

नियामत : ख़ुदा की समझ में कुछ आ रहा है। हम उसके बग़ैर भी बच सकते हैं।

सलमा : लेकिन पानी तो अब भी बढ़ रहा है...इतना पानी चढ़ आया है। इसमें बचने-बचाने के कुछ मानी नहीं हैं।

अब्दुल्ला : फिर भी एक इन्सानी कोशिश...

पंडित : इन्सानी...यह शब्द कितना बेमानी है...

अयूब : तो फिर आइए...हम सब एकसाथ मिलकर आत्महत्या कर लें...एक-दूसरे के हाथ पकड़कर इस तेज़ बहते पानी में कूद पड़ें।

नियामत : सचमुच?

अयूब : हाँ, क्यों, तुम सबके साथ नहीं मरना चाहते...

नियामत : नहीं, मेरे पास अपने कारण हैं।

पंडित : अब्दुल्ला तुम?

अब्दुल्ला : जी...मैं नहीं...

पंडित : क्यों?

अब्दुल्ला : मुझे अपने लड़के का मुँह देखना है और शफ़ी साहब का हिसाब देना है।

पंडित : क्यों नियामत, फिर सोच ले।

नियामत : नहीं...मेरी बूढ़ी माँ की देखभाल करनेवाला कोई नहीं है। और क्लब की चाबियाँ मेरे पास हैं...सोमनाथ जी को देनी हैं...पर माँ का ख़याल...

पंडित : *(हँसकर)* माँ! लड़का! लड़का क्या है? माँ क्या है? लड़के से यह-यह-यह होगा। माँ यह-यह-यह करेंगी। इसके अलावा? ख़ैर छोड़ो...अयूब साहब आप? आपने ही सामूहिक आत्महत्या की बात सुझाई थी...

अयूब : हाँ, अब्दुल्ला और नियामत के कारण और हो सकते हैं। पर हम दोनों अपने की कारणों से आत्महत्या करने आए थे। यह सलमा यह...यह और वह चाहती थी। पर इसे यह और वह ज़िन्दगी और मुझसे नहीं मिला। मैं यह, यह और वह चाहता था। पर मुझे यह और वह ज़िन्दगी और इससे मिला नहीं।

सलमा : मैंने तुम्हें सब कुछ दिया, फिर भी तुम्हें कुछ नहीं मिला।

अयूब : मैंने भी तुम्हें अपना सब कुछ दिया, फिर भी तुम्हें कुछ नहीं मिला।

पंडित : यह झगड़े का वक़्त नहीं है। हाँ रीता...

रीता : मैं अपनी मर्ज़ी से मर सकती हूँ। मुझे आप लोगों के साथ की ज़रूरत नहीं है। और चाहूँ तो अपनी मर्ज़ी से तब तक जी सकती हूँ तब तक जी सकने के सिलसिले बाक़ी हैं।

झुनझुनवाला : अब देर मत करो...देर होने से कष्ट बढ़ता है।

अयूब : पर ये लड़की...*(नीरा की ओर इशारा करता है।)*

झुनझुनवाला : इसे हम पानी में धकेल सकते हैं।

अयूब : लेकिन उसकी मर्ज़ी का पता कैसे लगेगा? यह तो बेहोश है।

झुनझुनवाला : तो इसे पहले होश में ले आना चाहिए। ओह...क्या-क्या झंझट है।

पंडित : हाँ, आती हुई मौत भी नहीं आती।

झुनझुनवाला : अब मौत को किस बात का इन्तज़ार है? क्या मौत भी अपना पूरा खेल दिखाकर अपने वक़्त से आना चाहती है?

नीरा बेहोशी से जागती है।

नीरा : दीदी...*(बहुत पीड़ा से)* तुम सब अभी ज़िन्दा हो। ओह-ओह ओह...

नियामत और अब्दुल्ला सहसा महसूस करते हैं कि पानी कम हो रहा है।

नियामत : *(उछलकर खड़ा होता है)* पानी कम हो रहा है।

अब्दुल्ला : हाँ...देखिए...देखिए...पानी घट गया है...बाढ़ उतर रही है। *(एकदम मुड़कर)* उधर देखिए...टार्च की रोशनियाँ और रस्सियाँ। वे हमें बचाने के लिए रस्सों के सहारे आ गए हैं।

दूर से आवाज़ें--अब्दुल्ला...तुम लोग कहाँ हो...हम लोग आ गए हैं...और टार्च की रोशनियाँ। सीढ़ियाँ। दूर पर से आती कोलाहल की आवाज़।

नियामत : पानी एकदम उतर गया है। हम लोग क्लब की ज़मीन पर चढ़ लें...

सब जैसे पानी से निकलकर सूखी ज़मीन पर आ जाते हैं। अपने कपड़े निचोड़ते हुए।

अब्दुल्ला : हा!...अब जान में जान आई...या ख़ुदा...

नियामत : अब कोई खतरा नहीं है...हम बच गए हैं। उधर से मदद आ रही है।

खतरा टल जाने पर सब एक-दूसरे से कतराते हुए लोग। सब लोग अपने कपड़े और तौर-तरीके ठीक करते हैं। सलमा अयूब को देखकर रीता को देखती है। रीता जलती आँखों से अयूब को देखती है।

पंडित : झुनझुन...

झुनझुनवाला : तमीज़ से बात करो...झुनझुन नहीं...। अपनी औकात का कुछ ख़याल है तुम्हें?

नीरा : *(एकदम अवाक्)* क्या हुआ? क्या हुआ...मुझे बताओ क्या हुआ?

रीता : कुछ नहीं...एक नाटक पूरा होते-होते रह गया। एक इतिहास घटित होते-होते रुक गया।

टेलीफ़ोन की घंटी...अब्दुल्ला बेतहाशा भागता है।

अब्दुल्ला : *(रिसीवर उठाकर)* हल्लो...जी...टूरिस्ट क्लब ऑफ इंडिया...कौन, शफ़ी साहब! जी...सलाम साहब सलाम साहब...जी हाँ...जी हाँ...जी, जी, जी हाँ...

[परदा]

परिशिष्ट

एक नाटक का जन्म

'पैर तले की ज़मीन' की रचना-प्रक्रिया

नाटक के नीचे लिखे मुख्य भाग हो सकते हैं :

1. बाढ़
2. ज़मीन कटना
3. आत्मस्वीकार
4. बाढ़ का उतरना

चरित्रों को अयथार्थवादी नाम दिए जाएँ; पर वे हमारे संस्कारों के अंग हों।

निर्वहण अर्ध-काव्यात्मक हो। चरित्रों की कोटियाँ कुछ इस प्रकार हों :

1. असन्तुष्ट लोग जो ठोकर मारना चाहेंगे।
2. उदास-हताश लोग जो आत्महत्या करना चाहेंगे।
3. भ्रष्ट लोग जो अब भी कोई रास्ता निकालने की बात सोचेंगे।
4. चापलूस लोग जो सबसे सहमत होंगे।

पहली कोटि में तीन होंगे : एक इक्कीस साल का लड़का, एक अठारह साल की लड़की, और एक बारह साल की लड़की।

दूसरी कोटि में दो होंगे : एक पैंतीस का पुरुष और एक अट्ठाईस की स्त्री।

तीसरी कोटि में तीन होंगे : एक व्यापारी का दलाल, एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता और एक अफसर।

चौथी कोटि में होंगे पाँच : बारमैन, चपरासी, बेयरा, क्लर्क और क्लर्क की माँ।

●●●

छोटी लड़की की चीख़...क्या किसी ने उससे बलात्कार करने की कोशिश की...? वह नदी में कूद गई है...बड़ी लड़की पागलपन की हालत में। कौन था? कोई जवाब

नहीं दे पाता...पर बाद में रात को जब बाढ़ का पानी और नज़दीक आ जाता है और वे सब एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं, तो एक व्यक्ति आत्मस्वीकार करने लगता है...

चरित्रों की संख्या कम करके छः या सात की जा सकती है, अगर शुरू एनैक्सी के पानी से कटकर डूब जाने के बाद किया जाए, जिसमें कुछ पहले ही खत्म हो चुके होंगे।

●●●

नाटक बारमैन की फ़ोन पर लम्बी बातचीत से शुरू हो सकता है।...दूसरा चरित्र जो सामने आता है वह है बूढ़ी माँ...जिसका अपना बेटा एनैक्सी में था (क्या वह मर चुका है?)...वह अभी तक दूसरों के बारे में चिन्तित है; वही बारमैन को दूसरे लोगों की मौजूदगी के बारे में बताती है।

'माँ!' शब्द का दुरुपयोग। बूढ़ी पागल-सी हो जाती है—या कि वह बस चुप रहती है?

●●●

'बढ़ती कीमतें...'

'कीमतें रही ही नहीं...।'

या 'कोई कीमतें नहीं रह जाएँगी।'

●●●

एक जगह बारमैन बन्द पड़े टेलिफ़ोन में बोलता है; वहाँ ज़रूरत की सब चीज़ों की माँग करता हुआ; बचाव की सारी कोशिशें; जब दूसरे सवाल करते हैं, तो वह उन्हें 'डैड' टेलिफ़ोन पेश करता है।

●●●

कुछ संकट इस बात का है कि नाटक के विभिन्न चरित्रों के बीच कोई सम्प्रेषण नहीं है : उनके बोलने के लिए अलग-अलग 'वेव लैंग्थ्स' का इस्तेमाल करके उनकी ट्रेजेडी को उभारा जा सकता है।

मुख्य समस्या यह है कि उन्हें किसी एक मुद्दे के इर्द-गिर्द कैसे लाया जाए;
ज़िन्दगी में उनके बीच सम्बन्ध मौत के डर का है।
उनका संघर्ष ज़िन्दा रहने का संघर्ष है—
उनकी चरम स्थिति—
हर चीज़ की—मौत की भी (?)—स्वीकृति!

●●●

लिखने के दौरान सारा वक़्त दिल्ली में ही रहो—इस शहर की एक क्लब के रूप में कल्पना करते हुए।

●●●

अब्दुल्ला की टेलिफ़ोन पर बातचीत के बाद झुनझुनवाला की क्लब को खरीद लेने की बात।

●●●

सात लोगों का ही परिवार?

पर फिर विभिन्न वर्गों का क्या हो?
क्यों न दो-तीन वाचक लाए जाएँ?
स्वयं चरित्र भी बारी-बारी से वाचक का रूप ले सकते हैं—
ऐसा ही कुछ—

●●●

छोटी लड़की चीख़ती है और फिर उसके बाद अन्त तक मूक रही आती है। हर आदमी से पूछा जाता है 'क्या हुआ?' बलात्कार था—धक्का—या कोई बुरा सपना, क्या था?

क्लब में रेडियो। एक जगह उस पर संगीत बजता है; एक जगह ख़बरें, जब संकट तीव्रतम है।

एनैक्सी में रोते हुए कुत्ते को 'एस्टेब्लिश' करना है। वह घुटनों तक पानी में छपछप करता है...यह छपछप भी सुनाई देती है।

पूरी बात छोटे-छोटे दृश्यों में (स्वतन्त्र 'शाट्स' की तरह) लिखी जानी है; सीधी लकीर के प्रभाव से बचते हुए सबसे मिलकर पूरा अर्थ अभिव्यक्त होना चाहिए।

●●●

चरित्र :

दलाल—व्यापारी, पुलिसमैन, अफसर
नाराज़ लड़की
छोटी स्त्री
बूढ़ी स्त्री

बारमैन

आत्महत्या करनेवाला–एकमात्र आत्मस्वीकार करनेवाला।

●●●

नाटक बारमैन और बूढ़ी स्त्री के बीच संवाद से शुरू होता है।...बूढ़ी बाद में बच्ची को एक कहानी सुनाए–कहानी घटना का बार-बार होना व्यंजित करती है, मानो जो चीज़ अब हुई है वह पहले भी हो चुकी है, और आगे फिर होगी...

●●●

विभिन्न दृश्य एक-दूसरे में घुलते जाते हैं–

1. फ़ोन पर बारमैन–
2. बारमैन और बूढ़ी स्त्री
3. दो लड़कियाँ, आदि।

इन्हें 'थियेट्रिकली' प्रतिष्ठित करो, शब्दों और ध्वनियों के द्वारा।

●●●

नहीं, ऐसी कोई 'गिमिक' नहीं होनी चाहिए जिससे नाटक की गम्भीरता पर असर पड़े।

●●●

चार अधूरे दृश्य एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। अँधेरे में आवाज़ों से शुरू।

●●●

एक और तरीका हो सकता है : 'मैं टूरिस्ट क्लब हूँ–या शायद यह कहना ज़्यादा सही है कि मैं टूरिस्ट क्लब था।'

●●●

मंच का थोड़ा-सा हिस्सा दिखाया जाए और पूरा मंच कभी भी प्रकट न हो।

●●●

बावन पत्ते बावन सप्ताह हैं और तुम हो अलग खड़े विदूषक–जोकर।

पंडित और कुँवर अपनी सारी भ्रष्टता के बावजूद नैतिकता के संरक्षक बनने की कोशिश करते हैं।

पुरुष उन्हें अपनी दुर्दशा का कारण मानता है और उनसे बदला लेने के इरादे से काम करता है।

सिर्फ़ पुरुष पर ही खुल्लमखुल्ला औरतों में दिलचस्पी लेने का दोष लगाया जाता है—स्त्री इसी रूप में उसका जिक्र करती है—मगर असल में दूसरे लोग ही—ख़ासकर कुँवर—लड़कियों पर हाथ डालता है और स्त्री पर भी।

●●●

स्त्री और पुरुष की ऊपर पहाड़ी पर यात्रा का वर्णन—वह सुन्दर दृश्य जिसकी ओर से स्त्री आँखें मूँदे रही।

पुरुष में इतनी विनोदप्रियता है कि वह स्त्री की बात का विरोध नहीं करता—उसे ज़िन्दगी में बहुत ख़ूबसूरती नज़र आती है, पर स्त्री को विश्वास दिलाने की कोशिश करता है कि उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण वैसा ही है और अन्त तक यह खेल खेलता रहता है।

●●●

नाटक टेलिफ़ोन पर बातचीत से शुरू होता है जिसमें अब्दुल्ला दुर्घटनाग्रस्त जोड़े के आने की सूचना देने की कोशिश करता है पर इसके बजाय उसे पुल के टूटने की सूचना मिलती है।

●●●

पुरुष पूछता है—क्या वे अन्तिम 'रिचुअल' चाहते हैं—तमाम स्त्रियों और पुरुषों के बीच 'संभोग आयोजन'?

वह तमाम नैतिकता, वर्जनाओं, तमाम धर्मों और दूसरी हर चीज़ के मूल्य के बारे में शंका प्रकट करता है। घर से स्त्री के साथ चलने के बारे में पुरुष का कहना है : यह बस एक और शुरुआत थी। वह उम्मीद से शुरू हुई—पर यह पता नहीं कि किस बात की उम्मीद। हम एक दूसरे से अच्छा बर्ताव करते रहे...पर शहर से दस मील बाहर आए होंगे कि फिर वही शुरू हो गया। उसने मेरा इतना ध्यान बँटाया कि गाड़ी मेरे नियन्त्रण से बाहर हो गई। मैं नहीं जानता हम क्या चाहते हैं। शान्तिपूर्वक एक साथ रहना? आत्महत्या करना? फ़िल्म देखने जाना? एक दूसरे को जहर देना? दूसरों की हँसी उड़ाना? खेलना?—मुझे नहीं पता।'

स्त्री का कहना है : 'यह उसकी चाल थी। मैं उसे एकदम छोड़कर जाना चाहती थी, पर उसने मुझसे मिन्नत की कि कम-से-कम एक बार उसके साथ बाहर चली चलूँ—साथ रहने के अभिशप्त वर्षों के अन्त के रूप में। इस शहर से बाहर दस मील ही आए होंगे कि मैं समझ गई कि उसका इरादा ठीक नहीं, वह इसे अच्छा अन्त नहीं बनाना चाहता। उसने अपने पुराने रंगढंग फिर शुरू कर दिए। रास्ते में हर जवान लड़की को भूखी नज़रों से घूरता। मुझे यकीन है कि उसने जान-बूझकर गाड़ी पेड़

से टकराई। मैं ऐसे बैठी थी कि मर ही जाती।...जब मैं गर्भवती हुई तो इसने तरह-तरह की बातें कहकर गर्भ गिरवा दिया...।'

●●●

दूसरी ओर से रोशनी आने के साथ सब लोग एक-एक कर बैठने लगते हैं और छोटी लड़की पूछती है : 'क्या हुआ था, दीदी? तुम लोग सब उस तरह क्यों खड़े थे और अब सब लोग इस तरह क्यों बैठ रहे हैं?'

●●●

क्या अब्दुल्ला को 'डेलिरियम' देना चाहिए?

●●●

पानी और अँधेरे का अर्थ।

●●●

कौन क्या है का खेल। एक जगह तो हर आदमी हर दूसरे पर शक करता है। अब्दुल्ला और नियामत उनके डर दूर करने की कोशिश करते हैं। उन्हें यह पक्ष ज़ाहिर करना चाहिए कि हम कैसे दूसरों को जानते हैं।

●●●

बाहर मोटर और मोटर इंजन। जैसे वह भीतर के तनाव को समझता हो और उनसे उसका जी मतलाता हो।

●●●

बड़ी लड़की–ऐसा व्यक्तित्व जो तरह-तरह की अफवाहों के लिए निमन्त्रण देता हो– आश्वस्त और विद्रोही।

●●●

कुँवर 'पुरुष' के बोलने से घबराता है। वह भाषा उसकी समझ में नहीं आती, इसलिए वह उससे डरता है।

●●●

पुरुष स्त्री के साथ रहने के अपने जीवन को इस तरह देखता है : हम हर रोज़ सबेरे और रात को एक दूसरे को देखते और अपने आपसे कहते–'हे ईश्वर! फिर वही इन्सान! मैं तो सोचता था थोड़ा-बहुत फ़र्क ज़रूर आया होगा!'

स्त्री : 'मैंने कितना अपने आपको बदला—मैं उसके पैर चाटना, तलवे चाटना सीख गई, पर कोई फायदा नहीं। अब उसको यह शिकायत थी कि मैं चाटते वक़्त सिसकारी भरती हूँ। आख़िरकार मैं भी और जानवरों जैसी ही बनी हूँ। मैं सिसकारी की आवाज़ के बिना कैसे चाट सकती हूँ!'

●●●

लोग इधर-उधर चले जाते हैं तो अब्दुल्ला और नियामत को पता नहीं रहता। (कौन जानता है, कौन किसके साथ है!)

●●●

अँधेरे में एक चीख़—क्या हुआ, कहाँ और किसके साथ? और किसने क्या किया किसके साथ?

●●●

कैसे प्रत्येक मरना चाहता...मृत्यु के 'उस' चित्र की तुलना में उनकी 'यह' मृत्यु।

●●●

अब्दुल्ला अपने आपको भीतर बन्द कर लेता है और बाहर ही नहीं आता।

●●●

पंडित का परिवार-सम्बन्धी विचार : हम सब एक परिवार हैं; या कम-से-कम हो तो सकते हैं।

●●●

हताशा के क्षण में अब्दुल्ला कॉपी में 'एंट्री' ठीक करने की कोशिश करता है—वह अपराधी होने की चेतना के साथ नहीं मरना चाहता।

●●●

बाढ़ के पानी में डूबने के पहले गुड्डो यह कहती हुई स्विमिंग पूल में जाने की इच्छा ज़ाहिर करती है कि 'मैं अपने चारों ओर पानी के स्पर्श का अनुभव करना चाहती हूँ।'

●●●

क्या अब्दुल्ला या नियामत में से एक से ऐसे सीधे सवाल करवाने चाहिए जिनके बड़े रहस्यमय उत्तर मिलें?

●●●

आदमी–मैं प्रकृति से डरता हूँ–उससे मेरे मन में मौत की तस्वीर उभरती है–।

●●●

(1) बारमैन फ़ोन करता हुआ।

(2) बारमैन और दूसरों के मौजूद होने की जानकारी। पुल के टूटने की ख़बर।

(3) 'कन्सोलिडेशन'–डिनर टेबल के दृश्य में पुरुष ही एकमात्र विवादी स्वर।

(4) विघटन–एनैक्सी में कुत्ता।

(5) ईश्वर और बलात्कार।

(6) असहायता का द्वीप।

(7) आत्मस्वीकार।

दृश्यबन्ध

बाहर–भीतर।

प्रकाश का क्षेत्र–अन्धकार का क्षेत्र।

प्रकाश का क्षेत्र एक-एक चरण में कम होता जाता है।

अन्धकार का क्षेत्र एक-एक चरण में बढ़ता जाता है।

यह क्षेत्र निश्चित नहीं है और विंग्स समेत पूरे क्षेत्र को घेरता है।

प्रकाश के क्षेत्र का विस्तार से वर्णन करना चाहिए। इस तरह से व्यवस्था करनी चाहिए कि रेखा के धुँधला पड़ने के साथ-साथ उपकरण गायब हो जाएँ।

प्रकाश के क्षेत्र से द्वीप का आभास मिलना चाहिए।

●●●

एक ही व्यक्ति की तीन ज़िन्दगियाँ।

व्यक्तिगत द्वीप जहाँ वह अकेला है; केवल एक ही औरत उस द्वीप में प्रवेश कर पाती है।

सामाजिक-राजनैतिक द्वीप जहाँ उसकी प्रमुखता है।

शाश्वत शक्तियों का द्वीप जहाँ वह नगण्य है।

●●●

(1) अब्दुल्ला की असहायता और नियामत।

(2) पट्टी बाँधे हुए पुरुष और स्त्री।

(3) आख़िरी दृश्य—ख़ाली—सब दीवारें गायब हैं।

(4) धर्मसंकट—क्या हम छोटे बच्चे को बचा सकते हैं?

(5) एक ओर पट्टीवाले पुरुष और पट्टीवाली स्त्री के बीच आन्तरिक तत्वों के नियन्त्रण के लिए और दूसरी ओर पट्टीवाले पुरुष और 'दलाल' के बीच बाह्य तत्वों के नियन्त्रण के लिए संघर्ष।

(6) 'दलाल' सारा वक़्त यही कहता है कि 'कोई न कोई रास्ता ज़रूर होगा।' अन्त में पट्टीवाला पुरुष कहता है : 'हाँ, है रास्ता।' 'क्या?' 'बताऊँगा नहीं।' 'हम तुम्हें मार डालेंगे।' 'उससे तुम्हें रास्ते का पता तो नहीं चलेगा। मेरे ज़िन्दा रहने में ही तुम्हारे लिए कोई आशा हो सकती है।' 'तो फिर बताओ।' 'तुम बताओ, तुममें से किसी को भी क्यों बचाया जाए?' उसका आरोप, अब्दुल्ला और नियामत की सूचना के अनुसार चढ़ता हुआ बाढ़ का पानी। ज़मीन के और-और कटते जाने के साथ हर व्यक्ति का विघटन।

(7) 'पत्थरों की दीवार बन सके तो हम बच सकते हैं,' दलाल कहता है। 'पानी पत्थरों को नहीं, ज़मीन को काट रहा है। ज़मीन ही नहीं होगी जिस पर पत्थर रखे जा सकें।'

(8) 'शायद हम लोग आत्म-स्वीकार द्वारा बच सकें।'

(9) पट्टीवाले आदमी का प्रस्ताव—'हम लोग आत्महत्या कर लें। यह बाढ़ में बह जाने से तो अच्छा ही होगा।'

(10) पट्टीवाले का चरित्र बहुत-कुछ छोटी लड़की के जागने पर निर्भर है। वह बेहोश को गई है। इस बीच बाढ़ का खतरा बढ़ता जा रहा है। जब कि ये सब चाहते थे कि वह आत्मस्वीकार करे, स्थिति की विडम्बना उन्हें आत्मस्वीकार के लिए लाचार करती है।

(11) मरने तक आदमी की ज़रूरतों का सवाल। खाना। पीना। सैक्स। 'क्या मौत सामने खड़ी हो तो सैक्स सम्भव है?' 'भूख लगेगी तो खाना नहीं खाओगे? या ज़रूरत हुई तो पियोगे नहीं?'

(12) पुरुष क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की वकालत करता है, जबकि दलाल योजना का पक्षपाती है।

(13) साधनों और शक्तियों का एकत्रीकरण (पुलिंग)। एकत्रीकरण से नया मतलब? हरेक के लिए लेने का बराबर का अधिकार।

(14) दृश्य विभाजन :

(i) भीतर

दृश्य 1, दृश्य 2, दृश्य 3

(ii) बाहर

दृश्य 1, दृश्य 2, दृश्य 3

(iii) भीतर

दृश्य 1, दृश्य 2, दृश्य 3

मोहन राकेश के नाटकों की प्रमुख प्रस्तुतियाँ

लहरों के राजहंस

हिन्दी

प्रयाग रंगमंच, इलाहाबाद	: सत्यव्रत सिन्हा	: 1963, दिसम्बर 15
अनामिका, कलकत्ता	: श्यामानंद जालान	: 1966, अगस्त 21
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली	: ओम शिवपुरी	: 1967, जनवरी
उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य परिषद्, लखनऊ	: ?	: 1968
कमला राजा कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर	: सुशीला रोहतगी	: 1968
रूपान्तर, गोरखपुर	: गिरीश रस्तोगी	: 1969, फरवरी 2
इन्द्रप्रस्थ कॉलेज, नाट्य-संघ; दिल्ली	: सुनयना राव	: 1970, जनवरी 31
दिशांतर, दिल्ली	: रजिन्दर नाथ	: 1973, मार्च 17
ज्ञान आर्ट्स, चंडीगढ़	: उषा धवन	: 1974, सितम्बर
नाट्य-संघ, भिलाई नगर	: नीलिमा कौशल	: 1974, नवम्बर
अभिनेत, चंडीगढ़	: वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता	: 1975, अगस्त
शासकीय शिक्षा महाविद्यालय, देवास	: बृज किशोर दीक्षित	: 1975
अरुणिमा आर्ट्स, दिल्ली	: वीरेन्द्र भार्गव	: 1976, जनवरी 10
द वुमंस क्रिश्चियन कॉलेज मद्रास	: अम्मू मैथ्यू	: 1976, अगस्त
कला संगम, पटना	: सतीश आनन्द	: 1978, फरवरी 13
लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली	: लक्ष्मी नारायण लाल	: 1978, नवम्बर
रुचिका, दिल्ली	: फै ज़ल अल्काज़ी	: 1980, अक्टूबर 9
क्लासिक थियेटर, दिल्ली	: चित्रा शाह	: 1985, दिसम्बर 25
विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, टोकियो	: इंदुजा अवस्थी	: 1986, नवम्बर 20
युवा रंगमंच, राँची	: अजय मलकानी	: 1990
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, दिल्ली	: कीर्ति जैन	: 1992, दिसम्बर 19
मिरांडा हाउस हिन्दी नाट्य समिति, दिल्ली	: दीपक ठाकुर	: 1994, दिसम्बर 22
आस्था, दिल्ली	: दीपक ठाकुर	: 1995, मई 7

अभिनव रंगमंडल, उज्जैन	: अश्विनी शास्त्री	: 2000, जून 24
नटराज आर्ट थियेटर, दिल्ली	: पवन मिश्र	: 2005, सितम्बर 2
सैकिंड फ़ाउंडेशन*, दिल्ली	: सौम्यव्रत चौधरी	: 2005, अक्टूबर 29
पदातिक**, कोलकाता	: श्यामानंद जालान	: 2008, जनवरी

मणिपुरी (अनुवाद : रतन थियम)

कोरस रेपर्टरी थियेटर, इम्फाल	: सानाख्या ईबोतोम्बी	: 1980

* इस प्रस्तुति में निर्देशक ने 'लहरों के राजहंस' के नाट्यालेख के साथ-साथ राकेश की डायरी के कुछ अंशों, पत्रों और भूमिका में उपलब्ध सम्बद्ध सामग्री को संयोजित करके नाटक की रचना-प्रक्रिया का भी प्रदर्शन किया था। इस प्रस्तुति को 'मैन्यूस्क्रिप्ट' के नाम से प्रदर्शित किया गया।

** इस प्रस्तुति का एक प्रदर्शन ग्यारहवें भारत रंग महोत्सव के अन्तर्गत 9 जनवरी, 2009 को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली के 'बहुमुख' थियेटर में भी हुआ।

आधे अधूरे

हिन्दी

दिशान्तर, दिल्ली	: ओम शिवपुरी	: 1969, मार्च 2
थियेटर, यूनिट, बम्बई	: सत्यदेव दुबे	: 1969, अप्रैल 21
अनामिका, कलकत्ता	: श्यामानंद जालान	: 1970, अप्रैल 24
युवा संगम, जबलपुर	: बलभद्र सिंह	: 1971, मई 16
कला संगम, पटना	: सतीश आनन्द	: 1970, मई 17
जे. एंड के. एकेडमी ऑफ़ आर्ट, कल्चरल एण्ड लैंग्वजेज़, जम्मू	: मोतीलाल क्यमू	: 1970, फरवरी 21
यंग आर्टिस्ट्स कल्चरल, एसोसियेशन, इलाहाबाद	: गजानन पित्रे	: 1970
द सेन्ट्रल गवर्नमेंट हाई पावर वेलफ़ेअर कमेटी, चंडीगढ़	: वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता	: 1971, दिसम्बर
रूपायन, जमशेदपुर	: मदन मोहन श्रीवास्तव	: 1972, अक्टूबर 1
जागृति, देहरादून	: अवी नंदा	: 1973, जनवरी
संगीत कला मंदिर, कलकत्ता	: राजिन्दर नाथ	: 1974, जनवरी 19
रंग शिविर, उज्जैन	: राजेन्द्र गुप्ता	: 1974, सितम्बर
इंजीनियरिंग कॉलेज, चंडीगढ़	: हरीश भाटिया	: 1974
आई.आई.टी., दिल्ली	: एम.के. रैना	: 1974
आई.आई.टी., लखनऊ	: राजेश भाटिया	: 1974
थियेटर मूवमेंट, कटक	: प्रसन्ना मोहन्ती	: 1975, जुलाई 5
ऑफ़िसर्स क्लब, सवाई माधोपुर	: सुशील चौधरी	: 1975
दर्पण, सीतापुर	: विजय कपूर	: 1976, जनवरी 1
अनुपमा, वाराणसी	: अवध बिहारी लाल (सोना बाबू)	: 1976, जनवरी

आर्टिस्ट कम्बाइन, ग्वालियर	: बसंत पराजपे	: 1976, फरवरी 20
त्रिवेणी, उदयपुर	: भानु भारती	: 1976, जुलाई
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, दिल्ली	: अमाल अल्लाना	: 1976, सितम्बर 28
इन्टरनेशनल थियेटर, भुवनेश्वर	: गोविन्द गुप्ता	: 1976, दिसम्बर 4
न्यू थियेटर, हैदराबाद	: क़ादिर अली बेग	: 1977, अप्रैल 25
त्रिमूर्ति, जयपुर	: एस.एस. वासुदेव	: 1978
अभिव्यक्ति, गोरखपुर	: सतीश जैन	: 1978
मेघदूत, आर्डिनेंस फैक्टरी, चन्द्रपुर	: ओम प्रकाश बाल्मीकि	: 1978
समता, रायपुर	: प्रदीप भट्टाचार्य	: 1979
रोटरी क्लब, गोरखपुर	: सतीश कुमार जैन	: 1979
ब्ल्यू स्टार क्लब, दिल्ली	: प्रकाश भाटिया	: 1979
डिपार्टमेन्ट ऑफ़ इंडियन थियेटर, चंडीगढ़	: मोहन महर्षि	: 1981, अप्रैल 10
मध्य प्रदेश रंगमंडल, भोपाल	: अलखनंदन	: 1982, सितम्बर 23
भारतेन्दु नाटक अकादमी, लखनऊ	: राज बिसारिया	: 1982, मई 12
रॉबिन आर्ट्स थियेटर, दिल्ली	: रॉबिन बत्रा	: 1982
अभिनेत, चंडीगढ़	: हरीश भाटिया	: 1984, मार्च
रंगयोग, लखनऊ	: सूर्य मोहन कुलश्रेष्ठ	: 1984, मई 17
पदातिक, कोलकाता	: श्यामानन्द जालान	: 1984
सम्भव, दिल्ली	: सुरेश भारद्वाज	: 1985, अगस्त
ओ.एन.जी.सी. थियेटर, देहरादून	: ?	: 1985, दिसम्बर
ग्रुप रिक्रियेशन क्लब, फैज़ाबाद	: दीपंकर दत्ता	: 1985, सितम्बर 5
एकजुट, कानपुर	: विभा मिश्र	: 1988, सितम्बर
रंगयुग, जम्मू	: संजीव बक्षी	: 1991
कला अकादमी, स्कूल ऑफ़ ड्रामा, गोवा	: अफसर हुसैन	: 1991
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, दिल्ली	: त्रिपुरारी शर्मा	: 1992, दिसम्बर 11
अंक, मुम्बई	: दिनेश ठाकुर	: 1995, जुलाई 4
इन्दू आर्ट थियेटर एण्ड फ़िल्म सोसाइटी, दिल्ली	: यासीन खान	: 1997, जुलाई 6
कला अकादमी, स्कूल ऑफ़ ड्रामा, गोवा	: वसंत जोसलकर	: 1997
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (छात्र प्रस्तुति) दिल्ली	: एम.के. रैना	: 2000, सितम्बर 11
रूपान्तर*, गोरखपुर	: गिरीश रस्तोगी	: 2000, सितम्बर 16

* मोहन राकेश के तीनों नाटकों को स्त्री के पक्ष से दिखाती इस प्रस्तुति का नाम 'कितना कुछ एक साथ' था। इसका आलेख भी गिरीश रस्तोगी ने ही तैयार किया था।

अदाकार, सहारनपुर	: जावेद खान सरोहा	: 2001
रंगभूमि, दिल्ली	: चित्रा सिंह	: 2003, जून 14
राजस्थान कला साहित्य संस्थान, जोधपुर	: श्याम पंवार	: 2003, सितम्बर 7
नटराज आर्ट्स ग्रुप, इलाहाबाद	: नरेन्द्र आहूजा	: 2005, फरवरी 27
प्राइम टाइम थियेटर, मुम्बई	: निलेश दुबे	: जुलाई, 2011

मराठी (अनुवाद : विजय तेंदुलकर)

थियेटर, यूनिट, बम्बई	: सत्यदेव दुबे	: 1969
ललित कला आणि क्रीड़ा मंडल, नासिक	: अमोल पालेकर	: 1972
बड़ौदा एमेच्योर ड्रेमेटिक क्लब, बड़ौदा	: सुधीर कुलकर्णी	: 1980
मुखवटे, मुम्बई	: विजया मेहता- अमोल पालेकर	: 1981

कोंकणी

गोआ	: अमोल पालेकर	: 1971

गुजराती (अनुवादः मधुकर रांधेरिया)

भारतीय विद्या भवन कला केन्द्र, बम्बई	: चन्द्रकान्त दलाल	: 1971

अंग्रेज़ी (अनुवाद : बिन्दु बत्रा)

द ऑरकर्स, कलकत्ता	: स्वर्ण चौधरी	: 1972, अप्रैल 15
रुचिका, दिल्ली	: अरुण कुकरेजा	: 1973, नवम्बर 9
लेडी हार्डिंग कॉलेज, दिल्ली	: रवि बासवानी	: 1980
कॉलिजिएट ड्रामा सोसाइटी, दिल्ली	: सी.डी. सिद्धू- रवि तनेजा	: 1999, नवम्बर 24

बांग्ला (अनुवाद : प्रतिभा अग्रवाल, शमीक बनर्जी)

चतुरंग, दिल्ली	: सुशील चौधरी	: 1973
शैभनिक, कलकत्ता	: कृष्ण कुंडु	

मणिपुरी (अनुवाद : कृष्ण मोहन शर्मा)

अवंत गार्द, इम्फाल	: सानाख्या इबोतोम्बी	: 1982

असमिया

डिपार्टमेन्ट ऑफ़ कल्चरल अफ़ेअर्स रिर्पटरी, गुवाहाटी	: दुलाल राय	: 1976

पंजाबी (अनुवाद : गुरुशरण सिंह जसूजा)

कॉलिजिएट ड्रामा सोसाइटी, दिल्ली	: रवि तनेजा	: 1988

पैर तले की ज़मीन

हिन्दी

अभियान, दिल्ली	: राजिन्दर नाथ	: 1974, दिसम्बर 3
गांधी मेडिकल कॉलेज, भोपाल	: रईस हसन	: 1976
अभिनेत, चंडीगढ़	: अतुलवीर अरोड़ा	: 1979, जुलाई 28
चिकित्सा महाविद्यालय, रायपुर	: गिरिजा शंकर अग्रवाल	: 1980
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, दिल्ली	: रंजीत कपूर	: 1992, दिसम्बर

●●●

मोहन राकेश

जन्म : 8 जनवरी, 1925; जंडीवाली गली, अमृतसर।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेजी में बी.ए., संस्कृत और हिन्दी में एम.ए.।

आजीविका : लाहौर, मुम्बई, शिमला, जालंधर और दिल्ली में अध्यापन, सम्पादन और स्वतंत्र-लेखन।

प्रकाशन : आखिरी चट्टान तक (यात्रा वृत्तान्त); इंसान के खँडहर, नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िन्दगी, फ़ौलाद का आकाश (कहानी); अँधेरे बन्द कमरे, न आनेवाला कल, अन्तराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे (नाटक); परिवेश (निबंध), मृच्छकटिक, शाकुंतल (नाट्यानुवाद)।

पुरस्कार/सम्मान : सर्वश्रेष्ठ नाटक और सर्वश्रेष्ठ नाटककार के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, नेहरू फ़ैलोशिप, फ़िल्म वित्त निगम का निदेशकत्व, फ़िल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य।

निधन : 3 दिसम्बर, 1972, नई दिल्ली।

जयदेव तनेजा

जन्म : 15 मार्च, 1943, ओकाड़ा (अविभाजित भारतवर्ष)।

शिक्षा : एम.लिट्. पी-एच.डी।

आजीविका : अध्यापन एवं पत्रकारिता।

प्रकाशन : हिन्दी/भारतीय रंगकर्म पर 26 पुस्तकें प्रकाशित। मोहन राकेश पर—लहरों के राजहंस : विविध आयाम, मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन (समीक्षा एवं शोध), राकेश और परिवेश : पत्रों में, पुनश्चः, एकत्र, नाट्य-विमर्श, मेरे साक्षात्कार, पूर्वाभ्यास (सम्पादन)।

पुरस्कार/सम्मान : दिल्ली नाट्य संघ, साहित्य कला परिषद्, हिन्दी अकादमी एवं केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत/सम्मानित।

संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

मोहन राकेश रचनावली

खंड 1
अंतरंग

खंड 2
पहले पहल

खंड 3
नाटक

खंड 4
एकांकी

खंड 5
कहानियाँ

खंड 6
उपन्यास

खंड 7
उपन्यास

खंड 8
निबंध-आलोचना

खंड 9
विविध विधाएँ

खंड 10
पत्र

खंड 11
नाट्यानुवाद

खंड 12
कथानुवाद

खंड 13
कथानुवाद

ISBN : 978-81-8361-427-6
₹ 10400 (तेरह खंड)

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद